ओ३म्

न्यायदर्शन भाषानुवाद

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयव-तर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥१॥

प्रमाण, प्रमेय, संशय प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इन सोलह १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है ॥

इन १६ पदार्थों के लक्षण आप ही शास्त्रकार ने आगे लिखे हैं। देखो १६ सूत्र ३, ९, २३, २४, २५, २६, ३२, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ५१, ५९ और ६० इन में क्रम से १६ पदार्थों के लक्षण हैं ॥

क्या तत्त्वज्ञान के अनन्तर अर्थात् ज्यों ही तत्त्वज्ञान हुआ और मोक्ष है? नहीं तो फिर तत्त्वज्ञान से क्रम से क्या २ होता है?

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥ २ ॥

दुःख, प्रवृत्ति और दोष के अर्थ क्रम से आगे सूत्र २१, १७ और १८ में आये हैं। जन्म=देह धारना है। इन के उत्तरोत्तर नाश होने पर जैसे कि-तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है, उस से दोषों का अभाव, दोषाऽभाव से प्रवृत्ति की निवृत्ति, उस से जन्म का दूर होना, उस के न होने से सब दुःखों का नाश; बस दुःख का अत्यन्त नाश ही मोक्ष है ॥

जब तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान दूर हुआ तब दोष नष्ट होते हैं। दोषों के नाश से प्रवृत्ति नहीं होती और प्रवृत्ति के रुकजाने से जन्म नहीं होता। बस सब दुःखों के अत्यन्त अभाव को ही अपवर्ग निःश्रेयस और मोक्ष कहते हैं॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये (चार) प्रमाण हैं॥ इन के लक्षण ग्रन्थकार ने आगे ही किये हैं कि-

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यम-
व्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं, जिस का नाम न रख सकें, जो अटल यथार्थ और निश्चयरूप हो ॥

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्वव-
च्छेषवत् सामान्यतोदृष्टञ्च ॥ ५ ॥

(साध्य साधन के संबन्ध देखने से जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं, अनुमान से जो सिद्ध होता है उसे साध्य और जिस के द्वारा साध्य जाना जाय उसे साधन कहते हैं। इन्हीं को लिङ्गी और लिङ्ग भी कहते हैं। जैसे धूम को जहां २ देखा वहां २ अग्नि को भी देखने से ज्ञात हुआ कि धूम विना अग्नि के नहीं रहता।इसी ज्ञान को व्याप्ति ज्ञान कहते हैं,व्यापक-अधिकरण में व्याप्य का नियम से रहना व्याप्ति है। अधिक देश में जो रहे वह व्यापक, जैसे जहां धूम रहता है वहां अग्नि अवश्य रहता है और जहां धूम नहीं रहता वहां भी रहता है जैसे तपाये हुए लोह के गोले में अग्नि रहता है पर धूम नहीं,इस लिये अग्नि व्यापक और धूम व्याप्य है क्योंकि अग्नि के अभाव में नहीं रहता। अल्प देश में रहने से व्याप्य कहाता है फिर कहीं केवल धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान होता है इसी को अनुमान कहते हैं । यहां अग्नि साध्य और धूम को साधन समझना चाहिये) अब प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान तीन प्रकार का है-१ पूर्ववत् २ शेषवत् और ३ सामान्यतोदृष्ट। जहां कारण से कार्य का अनुमान होता है,उसे " पूर्ववत " कहते हैं। जैसे बादलों के उठने से होने वाली वर्षा का अनुमान। क्योंकि बादलों का होना वर्षा का कारण और वर्षा कार्य है। इस से उलटे अर्थात् कार्य से कारण के अनुमान को " शेष-वत्" कहते हैं। जैसे नदी के चढ़ाव से प्रथम हुई वृष्टि का अनुमान। नदी का चढ़ना वर्षा का कार्य है। अन्यत्र बार २ देखने से अप्रत्यक्ष दूसरे के अनुमान को "सामान्यतो दृष्ट" कहते हैं। जैसे कोई पदार्थ विना क्रिया के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा नहीं सकता। यह कई बार देखने से सिद्ध हो गया।

फिर देवदत्त को एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान में देख कर उस की गति का अनुमान करना इस को "सामान्यतोदृष्ट" कहते हैं ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

प्रसिद्ध पदार्थ के सादृश्य से साध्य के साधने को उपमान कहते हैं। (जैसे किसी मनुष्य को नीलगाय शब्द का अर्थ ज्ञात न था, उस ने किसी से सुन लिया कि जैसी गाय होती है वैसा ही नीलगाय होता है। फिर कभी वन में नीलगाय देख पड़ा, उसे देखते ही "गाय के सदृश नीलगाय होता है" इस बात का स्मरण होते ही उस को नीलगाय नाम और यह गौ के सदृश देह उस का अर्थ है। यह ज्ञान उत्पन्न होता है। संज्ञा और उस के अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होना उपमान प्रमाण का फल है) ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

आप्त के उपदेश को शब्द कहते हैं। (अर्थ के साक्षात्कार करने वाले का नाम आप्त है)॥

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

वह शब्द प्रमाण दो प्रकार का है-एक दृष्टार्थ दूसरा अदृष्टार्थ। (जिस शब्द का अर्थ इस लोक में देख पड़े वह दृष्टार्थ और जिस का अर्थ प्रत्यक्ष से प्रतीत न हो, जैसे-ईश्वर इत्यादि, वह अदृष्टार्थ है)। प्रमाणों का विभाग पूरा हुआ, अब प्रमेयों का विभाग लिखते हैं कि:—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोष-
प्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि मन, प्रवृत्ति दोष प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग ये १२ प्रमेय हैं। आत्मा आदि के लक्षण क्रम से कहते हैं। आत्मा प्रत्यक्ष देख नहीं पड़ता तो क्या केवल प्रामाणिक लोगों के कहने मात्र से जाना जाता है? नहीं अनुमान से भी आत्मा का ज्ञान होता है। इसी का उपपादन अगले सूत्र से करते हैं कि—

इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख ज्ञानान्यात्मनोलिङ्गम्॥ १० ॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान; आत्मा के लिङ्ग साधक) हैं। (जिस वस्तु के सम्बन्ध से आत्मा सुख पाता है उस वस्तु को देख कर लेने की

इच्छा करता है। यह इच्छा अनेक पदार्थों के देखने वाले किसी एक द्रष्टा को दर्शन से होती है, इस लिये आत्मा की साधक है। अनेक अर्थों का अनुभव करने वाला कोई एक है। जिस अर्थ के संयोग से दुःख पाता है उस से द्वेष करता है, जो वस्तु सुख का साधन है उसे देखने का प्रयत्न करता है। यह अनेक अर्थों के एक द्रष्टा के बिना नहीं हो सकता। सुख और दुःख के स्मरण से यह उस के साधन को ग्रहण करता है। सुख और दुःख को पाता है। जानने की इच्छा करता हुआ विचारता है कि यह क्या वस्तु है, फिर विचार से जानलेता है कि यह अमुक वस्तु है। यह ज्ञान आत्मा का लिङ्ग है)॥

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ११ ॥

क्रिया, इन्द्रियें और अर्थ; इन के आश्रय को शरीर कहते हैं ॥

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा और कर्ण; ये पांच इन्द्रियें पञ्चभूतों से उत्पन्न हुई हैं ॥

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि ॥१३॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश; ये भूत कहाते (और ये ही इन्द्रियों के कारण) हैं ॥

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

गन्ध, रस रूप, स्पर्श और शब्द; ये पांच पृथिवी आदि पञ्चभूतों के गुण और घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय हैं॥

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान; ये समानार्थक (पर्याय) शब्द हैं॥

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसोलिङ्गम् ॥१६॥

(घ्राण आदि इन्द्रियों का गन्धादि अपने २ विषयों के साथ सम्बन्ध रहते भी एक ही समय अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इस से अनुमान होता है कि उस २ इन्द्रिय का कोई दूसरा सहकारी कारण है। जिस के संयोग से से ज्ञान होता है और जिस के संयोग न रहने से ज्ञान नहीं होता। इसी का नाम मन है मन के संयोग की अपेक्षा न करके केवल इन्द्रियों और विषयों के संयोग ही को ज्ञान का कारण माने तो एक संग अनेक ज्ञान होने चाहियें और यह अनुभव के विरुद्ध है इस लिये) एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न न होना मन की पहचान है ॥

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति ॥ १७ ॥

वाणी, बुद्धि और शरीर से काम करने को प्रवृत्ति कहते हैं ॥

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ॥ १८ ॥

प्रवृत्ति के कारण दोष हैं। (राग द्वेष और मोह को दोष कहते हैं यही तीनों जीव की प्रवृत्ति कराते हैं) ॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥१९॥

मरकर फिर जन्म लेने को "प्रेत्यभाव" कहते हैं ॥

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥२०॥

प्रवृत्ति (देखो सूत्र १७।१८) और दोषों से उत्पन्न अर्थ को "फल" कहते हैं ॥

बाधनालक्षणं दुःखमिति ॥ २१ ॥

बाधना (पीड़ा) से मिला (जो प्रतिकूल जान पड़े) दुःख है ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥२२॥

उस दुःख से अत्यन्त (बिलकुल) विमुक्ति का नाम अपवर्ग (मोक्ष) है ॥

अब संशय का लक्षण करते हैं:-

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुप-
लब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः॥२३॥

१- (दूर से सूखा वृक्ष देख कर उस में स्थाणु और पुरुष के ऊंचाई और मोटापन समान धर्म देखता हुआ पहिले जो विशेष धर्म देखे थे अर्थात् पुरुष में हाथ पांव और ठूंठे वृक्ष में खोंसला आदि उन को जानने की इच्छा करना कि यह क्या वस्तु है, स्थाणु है वा पुरुष? इन में से एक का भी निश्चय नहीं कर सकना, इस अनिश्चयरूप ज्ञान को संशय कहते हैं ॥

२-विप्रतिपत्ति अर्थात् परस्परविरोधी पदार्थों के सम्बन्ध देखने से भी संशय होता है। जैसे-एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं। सत्ता और असत्ता एकत्र रह नहीं सकीं और दो में से एक का निश्चय कराने वाला कोई हेतु मिलता नहीं वहां तत्व का निश्चय न होना संशय है ॥

३-उपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है। जैसे सत्यजल तालाब आदि में और असत्यजल किरणों में। ऐसे ही—

४-अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी संदेह होता है। पहिले लक्षण में तुल्य अनेक धर्म ज्ञेय वस्तु में हैं और उपलब्धि अनुपलब्धि ये जानने वाले में हैं, इतनी १। २ से ३। ४ में विशेषता है॥

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

जिस अर्थ को पाने योग्य वा त्यागने योग्य निश्चय करके प्राप्ति वा त्याग का उपाय करें उस (अर्थ) को "प्रयोजन" कहते हैं॥

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥२५॥

लौकिक (साधारण लोग जो शास्त्र नहीं पढ़े) और परीक्षक (जो प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा कर सकें) इन दोनों के ज्ञान की समता (जिस वस्तु को लौकिक जैसा समझते हों, परीक्षक, भी उस को वैसा ही जानते हों इस)का नाम दृष्टान्त है॥

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥२६॥

तन्त्र (शास्त्र) के अर्थ की संस्थिति (निर्णय किये अर्थ) को सिद्धान्त कहते हैं।

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्२७

वह सिद्धान्त चार प्रकार का है--सर्वतन्त्र १, प्रतितन्त्र २, अधिकरण ३ और अभ्युपगम सिद्धान्त ४॥

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

सब तन्त्रों (ग्रन्थों) से अविरुद्ध किसी एक तन्त्र में स्वीकार किये गये अर्थ को "सर्वतन्त्रसिद्धान्त" कहते हैं। (जिस को सब शास्त्रकार मानें)॥

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः॥ २९ ॥

एक तन्त्र में सिद्ध और दूसरे में असिद्ध को "प्रतितन्त्र सिद्धान्त" कहते हैं। (अपने अपने तन्त्र का सिद्धान्त)॥

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

जिस के सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी (नियम से) सिद्ध हों (अर्थात् उस अर्थ की सिद्धि बिना अन्य अर्थ सिद्ध न हो सकें,) उसे "अधिकरण सिद्धान्त" कहते हैं। (जैसे देह और इन्द्रियों से भिन्न कोई जानने वाला है, देखने छूने से एक अर्थ के ज्ञान होने से वहां इन्द्रियों का अनेकत्व, उन के विषयों का नियत

होना, इन्द्रियां ज्ञाता के ज्ञान की साधक हैं, इत्यादि विषयों की सिद्धि आप हो जाती हैं। क्योंकि उन के माने विना उक्त अर्थ का सम्भव नहीं)॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः३१

परीक्षा के विना किसी वस्तु के अङ्गीकार करने से उस वस्तु की विशेष परीक्षा करने को "अभ्युपगमसिद्धान्त" कहते हैं।(जैसे मान लिया कि शब्द द्रव्य है, परन्तु वह नित्य है वा अनित्य। यह विशेष परीक्षा हुई। यह सिद्धान्त अपनी बुद्धि की अधिकता और दूसरे की बुद्धि का अनादर करने के लिये काम में आता है अर्थात् हमारी ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि है कि तुम्हारे असत्य कहने को मान कर भी हम तुम्हारा खण्डन करते हैं)॥

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन; ये पांच (वाद के) अवयव (भाग) कहाते हैं। जिन में से:-

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

साध्य के कथन को "प्रतिज्ञा" कहते हैं। जैसे-घट अनित्य है॥

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४ ॥

उदाहरण के साधर्म्य (तुल्यता) से साध्य के साधने को "हेतु" कहते हैं। (जैसे-उत्पत्तिधर्मवान् होने से। जो उत्पत्तिधर्मवान् है अर्थात जो वस्तु उत्पन्न होता है वह अनित्य देखा गया है। हेतु का लक्षण और भी है कि:-)

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

उदाहरण के वैधर्म्य से भी साध्य के साधने को हेतु कहते हैं। (जैसे-घट अनित्य है, उत्पत्ति धर्मवान् होने से। जो उत्पत्तिधर्मवान् नहीं, वह नित्य है। (जैसे आत्मा-यहां उदाहरण के विरोधी धर्म से घट का अनित्यत्व सिद्ध किया है)॥

साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥

साध्य के साथ समानता से, साध्य का धर्म जिस में हो, ऐसे दृष्टान्त को "उदाहरण" कहते हैं। (जैसे-जो उत्पन्न होता है वह उत्पत्ति धर्मवान् कहाता और उत्पन्न होने के पीछे नष्ट भी हो जाता है। इस लिये अनित्य हुआ। इस प्रकार उत्पत्तिधर्म वालापन साधन और अनित्यत्व साध्य हुआ। जिन धर्मों का साध्यसाधनभाव एक वस्तु में निश्चित पाया जाता है, उस को

दृष्टान्त में देख, घट में भी अनुमान करना कि घट उत्पत्ति वाला है, इस लिये अनित्य है। पट की नाईं। यहां पट दृष्टान्त है)॥

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

साध्य के विपर्यय से विपरीत (उलटा) उदाहरण होता है। (जैसेः–घट अनित्य है, उत्पत्तिधर्मवान् होने से। जो उत्पत्तिधर्मवान् नहीं है वह नित्य देखा गया है। जैसे–आकाशादि। यहां दृष्टान्त में उत्पत्तिधर्म के अभाव से नित्यत्व देख कर घट में विपरीत अनुमान किया जाता है क्योंकि घट में उत्पत्ति धर्म है, उस का अभाव नहीं, इस लिये अनित्य है)॥

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ३८

उदाहरणाधीन "तथा" अथवा "न तथा" इस रूप से साध्य के उपसंहार को उपनय कहते हैं। (उदाहरण दो प्रकार के होते हैं इस लिये उपनय भी दो प्रकार के हुवे। जैसे–पट आदि पदार्थ उत्पत्ति वाले होने से अनित्य देखे गये हैं वैसे घट भी उत्पत्तिवान् है। यह घट के उत्पत्ति धर्मवत्व का उपसंहार हुआ। साध्य के विरुद्ध उदाहरण में आत्मादि पदार्थ उत्पत्तिमान् न होने से नित्य हैं और घट तो उत्पत्तिधर्म वाला है। यह अनुत्पत्ति धर्म के निषेध से उत्पत्तिधर्मवत्त्व का उपसंहार हुआ। अर्थात् जहां साधर्म्य का दृष्टान्त होगा वहां "तथा" ऐसा उपनय होगा। और जहां वैधर्म्य का दृष्टान्त होगा वहां "न तथा" का)॥

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥ ३९ ॥

इस लिये उत्पत्तिधर्मवान् होने से घट अनित्य है। इसे निगमन कहते हैं। (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय; ये जिस में एकत्र समर्थन किये जांय, उस को निगमन कहते हैं। सुगमता के लिये पूर्वोक्त सब अवयव फिर से दिखलाये जाते हैं। घट अनित्य है, यह प्रतिज्ञा। उत्पत्तिधर्मवान् होने से, यह हेतु। उत्पत्ति धर्मवान् पटादि द्रव्य अनित्य देखने में आते हैं यह उदाहरण। ऐसा ही घट भी उत्पत्तिधर्मवान् है, इस को उपनय कहते हैं। इस लिये उत्पत्तिधर्मवान् होने से घट अनित्य सिद्ध हुआ, इस का नाम निगमन है॥

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ४०

नहीं जाना है तत्व जिस का, ऐसे अर्थ में हेतु की उपपत्ति से तत्त्वज्ञान के लिये किये हुवे विचार को तर्क कहते हैं॥ (जिस वस्तु का तत्व ज्ञात नहीं,

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

इति प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥ १ ॥

साधन और निषेध से विचार करके अर्थ के निश्चय को निर्णय कहते हैं ॥ साधन और निषेध के कथन पक्ष प्रतिपक्ष कहाते हैं । उन में से एक की निवृत्ति होने से दूसरे की स्थिति अवश्य हो जायगी, जिस की स्थिति होगी उस का निश्चय होगा, इसी को "निर्णय" कहते हैं ॥

वाद, जल्प और वितण्डा ये तीन प्रकार की कथा होती हैं उन में से वाद का लक्षण यह है कि:—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः
पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः (४२) ॥ १ ॥

(एक में परस्पर विरोधी दो धर्म पक्ष प्रतिपक्ष कहाते हैं । जैसे—एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं) । पक्ष और प्रतिपक्ष के अङ्गीकार को वाद कहते हैं । उस के प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भ, सिद्धान्ताविरुद्ध और पञ्चावयवोपपन्न; ये तीन विशेषण हैं । जिस में अपने पक्ष का प्रमाण से स्थापन और प्रतिपक्ष का तर्क से निषेध हो, सिद्धान्त का विरोधी न हो, और पांच अवयवों से युक्त हो, उसे वाद कहते हैं (प्रतिज्ञा हेतु इत्यादि ५ अवयव लक्षणसहित पूर्व ही लिखे गये हैं) ॥

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थान-
साधनोपालम्भो जल्पः (४३) ॥ २ ॥

उक्त लक्षण युक्त, छल जाति और निग्रहस्थान से साधन और निषेध जिस में किये जांय, उस को "जल्प" कहते हैं । अर्थात् वाद और जल्प में इतना ही भेद है कि वाद में छल आदि से साधन वा निषेध नहीं किये जाते पर जल्प में ये काम आते हैं ॥ छल जाति और निग्रहस्थान के लक्षण आगे लिखे जांयगे ॥

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा (४४) ॥ ३ ॥

जिस में प्रतिपक्ष का स्थापन न हो, ऐसे जल्प को वितण्डा कहते हैं ॥

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमा-
तीतकाला हेत्वाभासाः (४५) ॥ ४ ॥

हेतु से दीख पड़ें परन्तु वस्तुतः हेतु के लक्षणों से रहित हों उन को हेत्वाभास कहते हैं। सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, और अतीतकाल; ये पांच हेत्वाभास हैं॥ आगे इन पांचों के लक्षण क्रम से लिखते हैं कि:-

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः (४६) ॥ ५ ॥

अव्यवस्था को व्यभिचार कहते हैं, अनैकान्तिक व्यभिचारसहित को सव्यभिचार हेतु कहते हैं । जैसे-किसी ने कहा कि शब्द नित्य है, स्पर्शवान् न होने से, स्पर्शवाला घट अनित्य देखा जाता है, वैसा शब्द स्पर्शवाला नहीं, इस लिये शब्द नित्य है । यहां दृष्टान्त में स्पर्शवत्त्व और अनित्यत्व रूप धर्म साध्यसाधनभूत नहीं हैं । क्योंकि परमाणु स्पर्शवान् हैं पर अनित्य नहीं प्रत्युत नित्य हैं; ऐसे ही यदि कहैं कि जो स्पर्शवान् नहीं, वह नित्य है । जैसे आत्मा; तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि बुद्धि स्पर्श वाली नहीं, पर नित्य नहीं है किन्तु अनित्य है । इस प्रकार दोनों दृष्टान्तों में व्यभिचार आने से स्पर्शवत्व न होना हेतु सव्यभिचार हुआ । एक अन्त में रहने वाले को ऐकान्तिक कहते हैं. इस से विपरीत को अनैकान्तिक जानना चाहिये ॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः (४७) ॥ ६ ॥

जिस सिद्धान्त को मान कर प्रवृत्त हो उसी सिद्धान्त के विरोधी हेतु को "विरुद्ध" कहते हैं ॥

यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थ-मपदिष्टःप्रकरणसमः (४८) ॥ ७ ॥

विचार के आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रकरण कहते हैं, उस की चिन्ता. संदेह से लेकर निर्णय तक जिस कारण की गई वह निर्णय के लिये काम में लाया जावे तौ दोनों पक्षों की समता से प्रकरण से आगे नहीं बढ़ता इस लिये "प्रकरणसम" हुआ । जैसे किसी ने कहा कि शब्द अनित्य है, नित्य धर्म के ज्ञान न होने से, यह हेतु प्रकरणसम है । इस से दो पक्षों में से किसी एकपक्ष का निर्णय नहीं हो सकता । क्योंकि जो शब्द में नित्यत्व धर्म का ग्रहण होता तो प्रकरण ही नहीं बनता अथवा अनित्यत्व धर्म का ज्ञान शब्द में होता तौ भी प्रकरण सिद्ध न होता अर्थात् जो दो धर्मों में से एक का भी ज्ञान होता तौ शब्द अनित्य है कि नित्य ? यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता ॥

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः (४९) ॥ ८ ॥

हेतु भी स्वयं साध्य होने से, साध्य के अविशेष (समान) होने के कारण साध्यसम हेत्वाभास कहाता है। जैसे छाया द्रव्य है, यह साध्य है, गति वाली होने से, यह हेतु है, साधने के योग्य होने से यह हेतु साध्य से विशेष नहीं। इस लिये साध्य के सम हुआ क्योंकि छाया में जैसे द्रव्यत्व साध्य है, वैसे ही गति भी साध्य है ॥

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः (५०) ॥ ९ ॥

जिस अर्थ का वर्णन समय चूक कर किया गया हो उसे कालातीत कहते हैं ॥

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् (५१) ॥१०॥

अर्थ बदलने से वचन का विघात करना छल कहाता है ॥

तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलञ्चेति(५२) ॥११॥

वह (छल) तीन प्रकार का है—वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल ॥

वाक्छल का लक्षण—

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तर-कल्पना वाक्छलम् (५३) ॥ १२ ॥

साधारण रूप से कहे अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अन्य अर्थकी कल्पना को वाक्छल कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि "यह बालक नव कम्बलवान् है" यहां कहने वाले का आशय यह है कि "इस बालक का कम्बल नया है"। छलवादी वक्ता के अभिप्राय के विरुद्ध कहता है कि "इस लड़के के पास तो केवल एक कम्बल है, ९ कहां से आये" यहां "नवकम्बल" समस्त पद है। इस के विग्रह दो प्रकार से होते हैं। एक तो "नवीन है कम्बल जिस का" और दूसरा "नव ९ हैं कम्बल जिस के" नव शब्द के नवीन और नव ९ संख्या के दो अर्थ हैं। इस लिये नवकम्बल शब्द के समास में दोनों ही अर्थ हो सकते हैं। तब जैसा अर्थ चाहो वैसा ही निकल सकता है। विशेष अर्थ का ज्ञान वचन में नहीं। अनेकार्थ शब्द का साधारण से प्रयोग किया जाता है फिर जिस अर्थ का संभव हो उसी को लेना चाहिये, न कि असंभव अर्थ को लेकर दोष देना। यह वाणी का छल होने से वाक्छल है ॥

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसंभूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् (५४) ॥ १३ ॥

संभव अर्थ के अतिसामान्य के योग से असंभव अर्थ की कल्पना को सामान्यच्छल कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि "यह ब्रह्मचारी विद्याविनय संपन्न है। इस वचन का खण्डन अर्थविकल्प के ग्रहण तथा असंभव अर्थ की कल्पना से करना कि जैसे ब्रह्मचारी में विद्याविनयसंपत्ति संभव है वैसे व्रात्य में भी हो तो व्रात्य भी ब्रह्मचारी है, वह भी विद्याविनयसंपन्न है। जो वक्ता को इष्ट अर्थ प्राप्त हो उस का उल्लङ्घन करे, उस को अतिसामान्य कहते हैं। जैसे ब्रह्मचारित्व कहीं विद्याविनयसंपत्ति को प्राप्त होता है और कहीं नहीं भी होता॥

इस का खण्डन यह है कि यह वाक्य प्रशंसार्थक है। इस लिये इस में असंभव अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती। ब्रह्मचारी संपत्ति का विषय है, उस का हेतु नहीं, क्योंकि यहां हेतु की विवक्षा नहीं अर्थात् ब्रह्मचारी होने से विद्याविनयसम्पन्न है। यह वक्ता का इष्ट नहीं॥

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् (५५)।१४।

यथार्थ प्रयोग करना अभिधान का धर्म है। अन्यत्र दृष्ट का प्रयोग अन्य स्थान में करना धर्म का विकल्प कहाता है। उस के उच्चारण से अर्थ के सद्भाव का निषेध उपचारच्छल कहाता है। जैसे किसी ने कहा-मचान चिल्ला रहे हैं। उस का दूसरा खण्डन करता है कि मचानों पर बैठे हुये पुरुष चिल्ला रहे हैं, मचान नहीं चिल्लाते। सहचार आदि कारणों से जो तद्रूप नहीं उस में तद्रूप के कथन का नाम उपचार है। तद्विषयक छल को उपचारछल कहते हैं। इस का समाधान यह है कि प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध प्रयोग में वक्ता का जैसा आशय हो वैसी ही अनुमति वा निषेध होंगे। अपनी इच्छा के अनुसार नहीं क्योंकि प्रधान और अप्रधान अर्थ के अभिप्राय से दोनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग लोक में प्रसिद्ध है, इस लिये जब वक्ता प्रधान के अभिप्राय से प्रयोग करे तब उसी के स्वीकार और निषेध होने चाहियें। जहां वक्ता अप्रधान के आशय से प्रयोग करता है और दूसरा प्रधान के अभिप्राय से अपनी इच्छा के अनुसार खण्डन करता है, यह उचित नहीं। जैसे उक्त उदाहरण में मचान शब्द के दो अर्थ हैं, एक तो किसान लोग खेती की रखवाली के लिये लकड़ियों के ऊंचे बैठक बना लेते हैं उन को मचान

कहते हैं। यहां अर्थ प्रधान वा मुख्य कहाता और मञ्चों पर बैठे हुवे मनुष्य भी उक्त शब्द के अर्थ हैं पर यह अर्थ अप्रधान वा गौण कहा जाता है। अब विचारना चाहिये कि 'जिस में मञ्चान चिल्लाते हैं' यह प्रयोग किया गया उस का आशय अप्रधानविषयक है तब प्रधान अर्थ को लेकर उस का खण्डन करना छल ही कहावेगा ॥

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् (५६) ॥ १५ ॥

वाक्छल से उपचारच्छल पृथक् नहीं क्योंकि दूसरे अर्थ की कल्पना उपचारच्छल में भी समान है अर्थात् जैसे वाक्छल में अर्थान्तर की कल्पना करके खण्डन किया था वैसे ही उपचारच्छल में भी किया, फिर भेद क्या हुवा?

न तदर्थान्तरभावात् (५७) ॥ १६ ॥

वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं हो सकता क्योंकि अर्थान्तर की कल्पना से। दूसरे अर्थ के सद्भाव की कल्पना अन्य अर्थ की सत्ता का निषेध होता है। उपचार छल में और वाक्छल में ऐसा नहीं होता अर्थात् उपचारच्छल में अर्थ विकल्पक अर्थ का सर्वथा खण्डन कर देते हैं—जैसे उक्त उदाहरण में मञ्चान शब्द का अर्थ बदल कर पहिले अर्थ का खण्डन कर दिया। वाक्छल में नव शब्द के किसी अर्थ का खण्डन नहीं किया, यही इन में परस्पर भेद है ॥

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः (५८) ॥ १७ ॥

विशेषता न मानोगे तो कुछ तुल्यता मान कर एक ही प्रकार का छल रह जायगा, यदि यह हेतु किञ्चित् समानता से छल के त्रिविध होने का खण्डन करेगा तो द्विविध होने का खण्डन भी अवश्य ही करेगा क्योंकि कुछ तुल्यता दो की भी विद्यमान ही है और जो कहो कि किञ्चित् समानता से द्विविधपन की निवृत्ति नहीं होती तो त्रिविधत्व की भी निवृत्ति क्योंकर होवेगी ॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः (५९) ॥१८॥

साधर्म्य और वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान (खण्डन) को जाति कहते हैं ॥

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ (६०) ॥१९॥

विपरीत अथवा निन्दित प्रतिपत्ति को विप्रतिपत्ति कहते हैं और दूसरे से सिद्ध किये पक्ष का खण्डन न करना अथवा अपने पक्ष पर दिये दोष का उद्धार न करना अप्रतिपत्ति है। प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ प्रवृत्ति है। यह दोनों निग्रहस्थान अर्थात् पराजय के स्थान हैं। विप्रतिपत्ति वा अप्रतिपत्ति करने से पराजय होता है ॥

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥ (६१) ॥२०॥

साधर्म्य वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान के विकल्प से जाति का बहुत्व और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति के विकल्प से निग्रहस्थान का बहुत्व होता है। अनेक प्रकार की कल्पना को विकल्प कहते हैं। जैसे अननुभाषण अर्थात् मौन होजाना, अज्ञान=न समझना, अप्रतिभा=उत्तर का न फुरना, मतानुज्ञा=दूसरे के मत का अङ्गीकार कर अपने ऊपर दिये दोष की उपेक्षा करनी यह सब अप्रतिपत्ति है और शेष को विप्रतिपत्ति जानना चाहिये ॥

यह प्रमाणादि सोलह १६ पदार्थों का लक्षण सहित विभाग पूरा हुआ। आगे दूसरे अध्याय में इन की परीक्षा की जायगी ॥

इति प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥२॥

इति न्यायदर्शनभाषानुवादे प्रथमोध्यायः ॥ १ ॥

सन्देह उठा कर पक्ष और प्रतिपक्ष से अर्थ के निश्चय करने को परीक्षा कहते हैं। इस लिये सब का उपयोगी होने से पहिले सन्देह की परीक्षा की जाती है॥

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥ (६२)

समान और अनेक धर्मों के अथवा दो में से एक धर्म के ज्ञान से सन्देह नहीं हो सकता। इस सूत्र का आशय भाष्यकार ने दो तीन प्रकार से लगाया है। एक तो यह कि धर्म के ज्ञान से धर्मी में सन्देह नहीं बनता क्योंकि धर्म और धर्मी भिन्न पदार्थ हैं। रूप के ज्ञान से स्पर्श में कभी सन्देह नहीं हो सकता। दूसरा अर्थ कि अवधारण से अनवधारण रूप सन्देह कैसे उत्पन्न हो सकेगा क्योंकि कारण और कार्य समान रूप होते हैं इस लिये निश्चय रूप कारण से अनिश्चयरूप सन्देह नहीं हो सकता। ऐसे ही दो में से एक धर्म के निश्चय से भी सन्देह नहीं बनता। उस से तो एक का निश्चय ही होजायगा॥

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥२॥ (६३)

केवल विप्रतिपत्ति और केवल अव्यवस्था से भी सन्देह नहीं हो सकता किन्तु विप्रतिपत्ति का जिस को ज्ञान हुवा उस को सन्देह होगा। ऐसे ही अव्यवस्था में भी जान लेना चाहिये ॥

विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥ (६४)

जिस विप्रतिपत्ति को आप संदेह का हेतु मानते हैं वह संप्रतिपत्ति है क्योंकि वह दो के विरुद्ध धर्म विषयक है। जहां जो विप्रतिपत्ति से संदेह मानते हो वहां संप्रतिपत्ति से भी सन्देह होना चाहिये अर्थात् केवल विप्रतिपत्ति सन्देह का कारण नहीं हो सकती ॥

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥४॥(६५)

अव्यवस्था सन्देह नहीं हो सकती क्योंकि अव्यवस्था आत्मा में व्यवस्थित है। व्यवस्थित होने से सन्देह हो नहीं सकता। किसी विशेष विषय में स्थिति की अवस्था और उस से विपरीत को अव्यवस्था कहते हैं ॥

तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥ (६६)

ऐसा होने से अत्यन्त सन्देह हो जायगा क्योंकि उन धर्मों की उपपत्ति निरन्तर विद्यमान है। जिस प्रकार समान धर्मों की उपपत्ति से आप सन्देह मानते हैं उसी से अत्यन्त संशय की आपत्ति आजाती है। समान धर्मों की उपपत्ति का अभाव न होने से सन्देह की निवृत्ति कभी न होगी ॥

अब इन सब पूर्वपक्षों का समाधान लिखते हैंः—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात्संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥ (६७)

विशेषधर्माकाङ्क्षायुक्त उक्त अध्यवसाय से ही सन्देह के स्वीकार से सन्देह का अभाव वा अत्यन्त सन्देह नहीं होसकता। जैसे दो पदार्थ मैंने पहिले देखे थे उन के समान धर्म देखता हूं विशेष धर्म ज्ञात नहीं होता किस प्रकार विशेष धर्म को जानूं जिस से दो में से एक का निश्चय करूं और यह सन्देह अनेक धर्मों के ज्ञान रहते केवल धर्म और धर्मी के ज्ञान से निवृत्त नहीं होसकता। इस से अनेक धर्मों के अध्यवसाय से सन्देह नहीं होता इस का समाधान किया और जो कहा था कि दूसरे अर्थ के निश्चय से अन्य अर्थ में सन्देह नहीं हो सकता। यह उस से कहना चाहिये कि जो केवल अर्थान्तर के अध्यवसाय को सन्देह का कारण मानता हो। जो यह कहा था कि कार्य कारण की समानरूपता नहीं। यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि कार्य और कारण की समानरूपता यही है कि कारण के होने से कार्य का होना तथा कारण के

अभाव से कार्य का न होना। यह संशय के कारण और उस के कार्य संशय में विद्यमान ही हैं और जो कहा था कि विप्रतिपत्ति की अव्यवस्था के अध्यवसाय से सन्देह नहीं हो सकता। यह भी ठीक नहीं। जैसे एक कहता है कि आत्मा है और दूसरा कहता है कि नहीं इन दो बातों से मध्यस्थ को सन्देह होता है कि दो भिन्न भिन्न बातों से परस्पर विरोधी अर्थ जान पड़ते हैं और विशेष धर्म जानता नहीं कि जिस के द्वारा दो में से एक का निश्चय करूं। एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो वादों का नाम विप्रतिपत्ति है। इसी प्रकार उपलब्धि आदि संदेह में भी समाधान समझ लेना चाहिये और जो यह दोष दिया था कि उस धर्म की निरन्तर उपपत्ति होने से अत्यन्त सन्देह हो जायगा अर्थात् सन्देह की निवृत्ति कभी न होगी। यह कहना तब ठीक होता जो समान धर्म के अध्यवसाय को सन्देह का कारण कहते। हम तो विशेष धर्म की स्मृति सहित समान धर्म के अध्यवसाय को सन्देह का कारण कहते हैं, जब विशेष-धर्म का ज्ञान हो जायगा तब संदेह की निवृत्ति अवश्य होगी॥

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसंगः॥ ७॥ (६८)

जहां जहां शास्त्र अथवा वाद में सन्देह करके परीक्षा की जाय वहां यदि कोई सन्देह का निषेध करे तो इसी रीति से समाधान करना चाहिये। इसी लिये सन्देह की परीक्षा पहिले की गई कि सब परीक्षाओं में यह उपयोगी है॥

अब प्रमाणों की परीक्षा करते हैं-

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः॥ ८॥ (६९)

प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हो सकते तीन काल में असिद्ध होने से अर्थात् पहिले पीछे और साथ में इन का होना असिद्ध है। यह साधारण अर्थ है इन के अर्थ की विवेचना अगले सूत्रों में की है॥

पूर्वंहि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः॥९॥ (७०)

गन्ध आदि विषय-ज्ञान प्रत्यक्ष है, यदि वह पहिले ही से है, गन्ध आदि विषयों की सिद्धि पीछे से होती है तो इन्द्रिय और अर्थ के मेल से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हुई॥

पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः॥ १०॥ (७१)

पीछे से सिद्धि मानोगे तो प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि नहीं हुई क्योंकि प्रमाण से सिद्ध अर्थ प्रमेय कहाता है॥

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम्॥ ॥ ११ ॥ (७२)

यदि प्रमाण और प्रमेय की सिद्धि एक साथ होती है तो ज्ञान के प्रत्यर्थ नियत होने से बुद्धियों के क्रमवृत्तित्व का अभाव होगा ॥ और यह ठीक नहीं, क्योंकि एक साथ ज्ञान का न होना मन का लिङ्ग है। एक काल में अनेक ज्ञान नहीं हो सकते। इस लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रमाणपन सिद्ध नहीं होता। इन शङ्काओं का समाधान सूत्रकार ने ही आगे किया है कि:—

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥ (७३)

तीन काल में असिद्ध होने से प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं हो सकती ॥

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥ (७४)

और सब प्रमाणों के प्रतिषेध करने से भी प्रतिषेध सिद्ध नहीं हो सकता॥ सब प्रमाणों का निषेध कर चुके तो प्रतिषेध करने में प्रमाण कहां से लाओगे और बिना प्रमाण कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती, इस लिये सब प्रमाणों का निषेध नहीं हो सकता ॥

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ (७५)

यदि प्रतिषेध प्रमाण को प्रमाण माने तो सब प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥१५॥ (७६)

तीनों काल का निषेध नहीं हो सकता, जैसे शब्द के सुनने से बाजे की सिद्धि होती है ॥ छिपे हुये बीन, बांसुरी, तुरी आदि बाजों का शब्द से अनुमान होता है कि बीन आदि बजाये जाते हैं। प्रमाण और प्रमेय का एककाल होने का नियम नहीं है, कहीं प्रमाण पहिले, कहीं पीछे और कहीं साथ ही रहता है ॥

प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥ (७७)

तुला (तराजू) जैसे प्रमाण और प्रमेय उभयधर्मयुक्त होने से प्रमाण और प्रमेय भी कही जाती है ॥ सुवर्णादि द्रव्यों का भार कांटे से जाना जाता है, इस लिये प्रमाण और कांटे का बोझा जब दूसरी वस्तु से जाना हो तब

वही प्रमेय हो सकता है। जैसे आत्मा ज्ञान के विषय होने से प्रमेयों में पढ़ा गया और जानने में स्वतन्त्र होने से प्रमाता भी कहाता है ॥

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसंगः ॥१७॥(७८)

यदि प्रमाण से (प्रत्यक्षादि) प्रमाणों की सिद्धि माने तो दूसरे प्रमाणों की सिद्धि माननी पड़ेगी॥ अनवस्था दोष आयेगा। जैसे कोई पूछे कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि अन्य प्रमाणों से हुई तो उन प्रमाणों की सिद्धि किस से हुई ? यदि उस की सिद्धि दूसरों से हुई तो उस की सिद्धि किस से ? इसी प्रकार कहते २ प्रलय तक अन्त न होगा ॥

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणान्तरसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः ॥ १८ ॥(७९)

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के ज्ञान के लिये प्रमाणान्तर न मानोगे तो (आत्मा के ज्ञान के लिये भी प्रमाण मानने की आवश्यकता न रहेगी) दूसरे प्रमाण की सिद्धि की भांति प्रमेय की सिद्धि भी स्वयं हो जावेगी ॥

न प्रदीपप्रकाशवत् तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥ (८०)

ऐसा मत कहो, दीपप्रकाश के समान उस की सिद्धि हो जायगी ॥ जैसे दीप का प्रकाश स्वयं दर्शनयोग्य होकर आप दृश्य पदार्थों के दर्शन का कारण होने से दृश्य और दर्शन का कारण भी कहा जाता है। वैसे ही प्रमेय होकर भी किसी वस्तु के दर्शन का हेतु होने से वही प्रमाण भी हो सकता है अर्थात् एक ही वस्तु प्रमाण और प्रमेय के नाम से अवस्थाभेद के कारण व्यवहृत हो सकता है। इस से सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षादिकों की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही से होती है, न कि दूसरे प्रमाणों से। इस प्रकार साधारणता से प्रमाणों की परीक्षा करके, अब विशेषरूप से एक एक की परीक्षा की जाती है कि:-

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ २० ॥ (८१)

पूर्वपक्ष-प्रत्यक्ष का लक्षण सिद्ध नहीं होता क्योंकि पूर्णरूप से नहीं कहा गया। क्योंकि:-

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥ (८२)

आत्मा और मन के संयोग न होने पर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती॥

दिग्देशकालाकाशेष्वेवंप्रसंगः ॥ २२ ॥ (८३)

इसी प्रकार दिशा देश काल और आकाश में भी प्रसङ्ग हुआ ॥ (क्योंकि दिशा आदि में ही तो ज्ञान होता है, इस लिये ये भी प्रत्यक्ष के कारण कहाने चाहियें क्योंकि देशादि को बचा नहीं सकते। जहां ज्ञान होता है, वहां ये अवश्य रहते ही हैं। फिर इन को कारण क्यों नहीं माना ?)

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः ॥ २३ ॥

उत्तरपक्ष-ज्ञान आत्मा का लिङ्ग होने से (इस का) त्याग मत समझो॥

*तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥ २४ ॥ (८५)

एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना मन का लिङ्ग है। इस से मन का भी त्याग मत समझो॥और एक बात यह भी है कि शयन अथवा दुविक्षेपन की अवस्था में इन्द्रिय और अर्थ का संयोग रहता है, आत्मा और मन का संयोग नहींअर्थात् जब प्राणी समय नियत करके सोता है, तब चिन्ता के कारण नियत समय पर जागता है और जब प्रबल शब्द और स्पर्श जगाने के कारण होंगे तब भी सोते पुरुष की इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से जागना होगा, वहां आत्मा और मन के संयोग की मुख्यता नहीं, किन्तु इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही मुख्य कारण है। क्योंकि उस समय आत्मा ज्ञान की इच्छा से मन को प्रेरणा नहीं करता। ऐसे ही जब इस का मन किसी दूसरे पदार्थ में लगा रहता है और सङ्कल्प होने से अन्य विषयों के जानने की इच्छा करता है, तब प्रयत्न से प्रेरणा करके मन को इन्द्रिय के साथ मिलाता है और उस विषय को जानता है, जब इस की इच्छा अन्य विषय के जानने की नहीं होती और एक ही विषय में मन लगा रहता है, तब भी बाह्य विषयों के प्रबल संयोग से ज्ञान उत्पन्न होजाता है। उस समय इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की प्रधानता है। क्योंकि तब आत्मा ज्ञान की इच्छा न होने से मन को प्रेरणा नहीं करता। प्रधान होने के कारण इन्द्रिय और अर्थ के संयोग का ग्रहण करना चाहिये। गौण होने से आत्मा और मन के संयोग का ग्रहण करना उचित नहीं है॥ इसी आशय को लेकर किन्हीं पुस्तकों में (तदयौ०) इस २४ वें सूत्र से आगे दो सूत्र अन्य भी पाये जाते हैं कि—

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः संनिकर्षस्य पृथग्वचनम् ॥ (२५) सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः संनिकर्षनिमित्तत्वात् ॥ (२६)

अर्थ - इन्द्रियों और अर्थों (विषयों) के संयोग को पृथक् इस लिये कहा गया है कि वह प्रत्यक्ष का निमित्त है (२५) तथा सोते और अन्यत्र दुचित्ते पुरुषों को भी प्रत्यक्ष का निमित्त इन्द्रियों और अर्थों का संयोग ही है (२६) परन्तु हम ने इन को सूत्रों में इस कारण नहीं गिना कि वात्स्यायन भाष्यकार ने ये सूत्र नहीं माने प्रत्युत अपने व्याख्यान में वह बात कहदी है जो कि इन सूत्रों में है॥

इन्द्रियों और अर्थों का संयोग ही प्रत्यक्ष का मुख्य कारण है। इस में अन्य भी हेतु है कि:—

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥२५॥ (८६)

इन्द्रियों और अर्थों से ही विशेष ज्ञानों का व्यवहार किया जाता है॥ जैसे नाक से सूंघना आंख से देखना और जीभ से स्वाद लेना। गन्धज्ञान, रूपज्ञान और रसज्ञान इत्यादि। इस लिये इन्द्रियों और अर्थों के संयोग की ही प्रत्यक्ष में मुख्यता है॥

व्याहतत्वादहेतुः ॥२६॥ (८७)

पूर्व०-यह जो कहा कि "इन्द्रिय और अर्थ का संयोग मुख्य है और आत्मा तथा मन का संयोग प्रधान नहीं, क्योंकि शयन समय में या किसी विषय में जब मन अत्यन्त आसक्त हो जाता है, ऐसी अवस्था में प्रबल इन्द्रिय अर्थ के संयोग से एकाएक ज्ञान हो जाता है। वहां आत्मा जानने की इच्छा से मन को प्रेरणा नहीं करता, तो भी ज्ञान होही जाता है"। बाधित होने से हेतु नहीं हो सकता। यदि किसी स्थल में आत्मा और मन के संयोग को ज्ञान का कारण न मानें तो एक साथ कई ज्ञानों के न होने से जो मन की सिद्धि कही थी, वह बाधित हो जायगी। इस लिये आत्मा और मन का संयोग सब ज्ञानों का कारण है। यह अवश्य मानना ही चाहिये तो फिर भी आत्मा और मन के संयोग का ग्रहण प्रत्यक्ष के लक्षण में करना चाहिये था॥

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ २७ ॥ (८८)

उत्तर०—नहीं, क्योंकि (आत्मा और मन के संयोग की कारणता का व्यभिचार नहीं है, केवल इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की) प्रधानता ली गई है ॥ किसी विशेष अर्थ की प्रबलता से सोते और मन की विषयान्तर में अति आसक्ति के समय में एक दम ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है ॥

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ २८ ॥ (८९)

पूर्व०—इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से वृक्षादि के आकार का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह "अनुमान" में क्यों न गिना जावे क्योंकि एक अवयव के प्रत्यक्ष ज्ञान से वृक्ष का बोध होता है ॥ जैसे धूम के देखने से अग्नि का अनुमान होता है वैसे ही वृक्ष के आगे के भाग को देखकर दूसरे भाग का अनुमान होता है । क्योंकि अवयवसमुदायरूप वृक्ष है । इस लिये सामने के भाग देखने से शेष भागों का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान ही हुवा ?

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ २९ ॥ (९०)

उत्तर०—नहीं, क्योंकि जितने देश का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ही से हुवा है ॥ ज्ञान-निर्विषय नहीं होता, जितना अर्थ ज्ञान का विषय है वह सब प्रत्यक्ष का विषय है । अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं कह सके क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है । परस्परसंबन्धयुक्त अग्नि और धूम के देखने वाले को धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान होता है । यह जो वृक्ष का ज्ञान हुवा वह इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ही है, अनुमान नहीं ॥

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३० ॥ (९१)

केवल एक देश ही का ज्ञान नहीं किन्तु (उस के सहचारी) अवयवी का भी ज्ञान होता है क्योंकि अवयवी भी विद्यमान है ॥

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३१ ॥ (९२)

पूर्व०—जो कहा कि अवयवी भी विद्यमान है, उस का प्रत्यक्ष होता है, यह ठीक नहीं, क्योंकि साध्य होने से अवयवी में संदेह है ॥ अर्थात् जब अनेक अवयवों से भिन्न अवयवी सिद्ध न हो जाय तब तक यह कहना कि अवयवी का प्रत्यक्ष होता है, असंगत है ॥

सर्वाऽग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३२ ॥ (९३)

उ०-जो अवयवी को सिद्ध न मानोगे तो (द्रव्यगुण क्रिया जाति आदि) सब (किसी) पदार्थों का ज्ञान नहीं होगा ॥

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३३ ॥ (९४)

तथा धारण और आकर्षण की उपपत्ति से भी अवयवी सिद्ध है ॥ अर्थात् एक अवयव के धारण करने से सब का धारण और एक देश के खींचने से सब का खिंचना । जो अवयवी भिन्न नहीं मानता उस से पूछना चाहिये कि " यह वस्तु एक है " । यह ज्ञान अभिन्न १ अर्थ को ग्रहण करता है अथवा अनेक को ? यदि कहो कि अभिन्न १ अर्थ को तो अर्थान्तर के मानने से अवयवी सिद्ध हुआ । यदि कहो कि अनेक अर्थों का ग्रहण करता है तो यह बाधित है । क्योंकि अनेक में एक बुद्धि कैसे हो सक्ती है । इस लिये अवयवी अवश्य मानना चाहिये ॥

सेनावनवद्ग्रहणमितिचेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥३४॥ (९५)

जैसे सेना के अवयव और वन के अवयवों में दूर से भेद के ज्ञान न होने से एक है, ऐसा ज्ञान होता है, ऐसे ही परमाणु भी जब इकट्ठे हुए और भेद का ज्ञान न रहा, तब एक हैं, ऐसी बुद्धि होने में क्या रोक होगी ? यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सेना और वन के अङ्ग मनुष्यों और वृक्षों का प्रत्यक्ष होता है । इस लिये उन के समूह का भी प्रत्यक्ष होता है । परन्तु परमाणु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, उन के समुदाय का प्रत्यक्ष क्योंकर हो सकता है जब कि उन में से सब कोई अतीन्द्रिय है । इस लिये सेना वा वन का दृष्टान्त योग्य नहीं, भिन्न अवयवी अवश्य मानना पड़ेगा और उसी का प्रत्यक्ष होता है ॥ प्रत्यक्ष की परीक्षा पूरी हुई । अब अनुमान प्रमाण की परीक्षा की जाती है कि:-

रोधोपघातसादृश्येभ्योऽव्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ॥३५॥(९६)

पूर्व०-रोक, उपघात और सादृश्य से व्यभिचार आता है, इस लिये अनुमान प्रमाण नहीं ॥ जैसे नदी के चढाव से ऊपर वर्षा होने का जो अनुमान किया था, वह ठीक नहीं क्योंकि नदी का चढाव रोकने से भी हो सकता है । आगे किसी ने बांध बांध दिया तो नदी अवश्य फैले ही गी । इस से ऊपर वर्षा का अनुमान मिथ्या हो गया । बिल के कटने से भी चीटियां अण्डा

लेकर चलती हैं, तब इस से होने वाली वर्षा का अनुमान यथार्थ न हुआ। ऐसे ही मनुष्य भी मोर के सा शब्द कर सकता है तो शब्द के सादृश्य से अनुमान मिथ्या हुआ। जैसे किसी ने मोर के शब्द को सुन कर मोर का अनुमान किया, पर शब्द तो मनुष्य ने किया था, इस लिये यह अनुमान ठीक न हुआ। उक्त कारणों से अनुमान का प्रमाणत्व नहीं हो सकता ॥

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३६ ॥ (९७)

उ०-नहीं, क्योंकि एक देश, त्रास और सादृश्य से अर्थान्तर होता है ॥ क्योंकि विशेषणयुक्त हेतु होता है, बिना विशेषण हेतु नहीं हो सकता। पूर्व जलसहित वर्षा का जल, सोतें का बड़े वेग से बहना, बहुत से फेन फल पत्ते काठ आदि के देखने से ऊपर हुई वर्षा का अनुमान होता है। बहुधा चीटियों के अण्डा लेकर चलने से होने वाली वर्षा का अनुमान किया जाता है, न कि एक आध चीटियों के झुंड के देखने से। ऐसे ही जब मोर के शब्द का निश्चय होता है और यह पक्का ज्ञान होता है कि यह शब्द मनुष्य ने नहीं किया, तभी यथार्थ अनुमान होता है और जो भलीभांति विचार किये बिना झट पट साधारण हेतु से ही अनुमान कर बैठता है, प्रायः उसी का अनुमान मिथ्या होता है। तो क्या यह अनुमान प्रमाण का दोष गिना जायगा? कदापि नहीं, किन्तु यह दोष अनुमान करने वाले ही का माना जायगा ॥ अनुमान भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान (तीन) कालविषयक होता है। यह कहा था, इस पर शङ्का करते हैं कि:—

वर्त्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ॥३७॥(९८)

पूर्व०-वृक्षशाखा से गिरते हुये फल का जो ऊपर का मार्ग है उस से युक्तकाल पतित (भूत) काल कहा जायगा और जो नीचे का मार्ग है वह पतितव्य (भविष्यत्) मार्ग हुआ, तद्युक्त पतितव्यकाल कहावेगा। अब तीसरा मार्ग कोई नहीं रहा, जिस को वर्त्तमान कहें, इस लिये वर्त्तमान काल कोई है ही नहीं। यह सिद्ध हो गया, तब अनुमान त्रिकालविषयक कैसे हो सकता है? तथा-

तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥३८॥ (९९)

वर्त्तमान के अभाव में उन (भूत भविष्यत्) का भी अभाव है क्योंकि वर्त्तमान की अपेक्षा (निस्बत) से भूत भविष्यत् बनते हैं ॥

तयोरतीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥ ३९ ॥ (१००)

वर्त्तमान काल का अभाव माने तो परस्पर सापेक्ष अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) की सिद्धि भी नहीं हो सकती। जैसे कोई पूछे कि भूतकाल किसे कहते हैं तो यही कहना पड़ेगा कि जो भविष्यत् से भिन्न है, वह भूत है। ऐसे ही जब भविष्यत् का लक्षण कोई पूछेगा तब यही कहना पड़ेगा कि जो भूत से अन्य है वह भविष्यत् है। इसी को अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। अर्थात् एक की सिद्धि में दूसरे की अपेक्षा और दूसरे की सिद्धि में पहले की। ऐसे स्थान में दो में से एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती॥

वर्त्तमानाभावे सर्वाऽग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥४०॥ (१०१)

उ०-वर्तमान के अभाव में प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति से सब का (किसी का भी) ग्रहण नहीं होगा ॥ इन्द्रिय और पदार्थ के मेल से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। अविद्यमान वस्तु प्रत्यक्ष का विषय नहीं होसकता॥ प्रत्यक्ष की असिद्धि होने से अनुमान और शब्द प्रमाण भी सिद्ध नहीं होसकते। क्योंकि इन दोनों का प्रत्यक्ष सहायक है। जब सब प्रमाणों का लोप हुआ तब किसी वस्तु का ज्ञान न होगा। दो प्रकार से वर्त्तमान काल का ग्रहण होता है, कहीं तो वस्तु की सत्ता से। जैसे—द्रव्य है और कहीं क्रिया की परम्परा से-जैसे पकाता है, काटता है। एक अर्थ में अनेक प्रकार की क्रिया को क्रियापरम्परा कहते हैं। जैसे बटलोई को चूल्हे पर धरना, उस में पानी डालना, लकड़ियों को सुधारना, अग्नि का जलाना, करछी का चलाना, मांड का पसाना और नीचे धरना आदि पाकक्रिया कहाती है। ऐसे ही कुल्हाड़ी को उठा कर फिर फिर काठ पर मारने को छेदन क्रिया कहते हैं। यही क्रियापरम्परा आरम्भ से लेकर जब तक पूरी न होगी तब तक "पकाता है, काटता है" यह व्यवहार होता है। इस के आधार काल को वर्त्तमान कहते हैं॥

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥ ४१ ॥ (१०२)

कृतता और कर्त्तव्यता की उपपत्ति से भी उभयथा ग्रहण होता है॥ जब क्रियापरम्परा का आरम्भ नहीं हुआ, पर आगे करने की इच्छा है, यही भविष्यत् काल हुआ। जैसे "पकावेगा"। क्रियापरम्परा के पूरे होने का नाम

अतीतकाल है)। जैसे "पकाया"। और क्रियापरम्परा का आरम्भ तो हुवा पर पूरी नहीं हुई, इसी को वर्त्तमान कहते हैं। इस प्रकार क्रिया में तीन काल का व्यवहार होता है। क्रिया की पूर्णता=कृतता, करने की इच्छा=कर्त्तव्यता और विद्यमान=क्रियमाण कही जाती है। इस लिये वर्त्तमानकाल अवश्य मानना चाहिये ॥ अनुमान की परीक्षा पूरी हुई, आगे उपमान की परीक्षा की जाती है कि:—

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानाऽसिद्धिः ॥ ४२ ॥ (१०३)

अत्यन्त सादृश्य से उपमान प्रमाण की सिद्धि नहीं होसक्ती (क्योंकि "जैसी गाय वैसी गाय" ऐसा व्यवहार नहीं) बहुत सादृश्य से भी उपमान की सिद्धि नहीं होती (जैसा बैल वैसा भैंसा होता है, यह व्यवहार नहीं) कुछेक तुल्यता होने से भी उपमान सिद्ध नहीं हो सक्ता (क्योंकि सभी को सब से उपमा नहीं दीजाती। कुछ तुलयता तो सभी की सब के साथ हो सक्ती है) इस लिये उपमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता ॥ इस का उत्तरः—

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥४३॥(१०४)

प्रसिद्ध समानधर्मता द्वारा उपमान की सिद्धि होने से उक्त दोष की उपपत्ति नहीं होसकती॥ अर्थात् साध्य के संपूर्णत्व,प्रायिकत्व वा थोड़ेपन का आश्रय लेकर उपमान प्रमाण प्रवृत्त होता हो सो बात नहीं है, किन्तु प्रसिद्ध तुल्यता के आश्रय से अनुमान की प्रवृत्ति होती है। जहां यह समान धर्म मिलता है वहां उपमान का निषेध नहीं हो सकता। इस लिये उक्त दोष नहीं आता ॥

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४४ ॥ (१०५)

पूर्व०—(अच्छा तो) प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होने से (उपमान अनुमान ही के अन्तर्गत होजायगा। जैसे प्रत्यक्ष धुएं के देखने से अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही गौ के प्रत्यक्ष देखने से अप्रत्यक्ष गवय का अनुमान हो जायगा। इस लिये यह अनुमान प्रमाण से पृथक् उपमान प्रमाण नहीं होसकता) ॥

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति॥४५॥(१०६)

उ०—नहीं, क्योंकि अप्रत्यक्ष गवय में उपमान प्रमाण का अर्थ हम नहीं देखते हैं॥ (अर्थात् जब गाय के देखने वाले को उपमान का उपदेश किया जाता है और वह गाय के समान पशु को देखता है तब उस को यह ज्ञान होता है कि इस प्राणी का नाम गवय है। ऐसा अनुमान में नहीं होता। अनुमान विना

देखे वस्तु का होता है। यही अनुमान और उपमान में विशेष है)॥

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥४६॥ (१०७)

" वैसा ही गवय होता है " ऐसे समान धर्म के उपसंहार से उपमान सिद्ध होता है । (ऐसा अनुमान में नहीं होता। अनुमान और उपमान में यह भी विशेष समझना चाहिये ।। उपमान परीक्षा पूर्ण हुई । अब शब्द परीक्षा करते हैं कि)-

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ४७ ॥ (१०८)

पूर्व०—शब्द प्रमाण भी अनुमान ही है, (भिन्न प्रमाण नहीं) क्योंकि शब्द का अर्थ उपलब्ध न होने से अनुमान के योग्य है । जैसे प्रत्यक्ष से अज्ञात साध्य का ज्ञात हेतु से पीछे अनुमान होता है, ऐसे ही ज्ञात शब्द से पीछे अज्ञात अर्थ का ज्ञान होता है । इस लिये शब्द प्रमाण भी अनुमान ही है ॥ तथा—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ४८ ॥ (१०९)

ज्ञान की प्रवृत्ति दो प्रकार से नहीं होती, (इस से भी शब्द प्रमाण अनुमान ही है। प्रमाणान्तर में उपलब्धि दो प्रकार से होती है। अनुमान में प्रवृत्ति जिस प्रकार से होती है उस से भिन्न प्रकार से उपमान में होती है अर्थात् अनुमान का फल और शब्द प्रमाण का फल एकही प्रकार का है, भिन्न नहीं)॥

सम्बन्धाच्च ॥ ४९ ॥ (११०)

परस्परसम्बन्धयुक्त शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की प्रसिद्धि होने से शब्द के ज्ञान से अर्थ का ज्ञान होता है (इस लिये भी शब्द प्रमाण भिन्न नहीं, किन्तु अनुमान में गिन लिया जावे । क्योंकि सम्बन्ध वाले साध्यसाधनसम्बन्ध के ज्ञान से साधन के ज्ञात होने पर साध्य का ज्ञान होता है) ॥

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थसम्प्रत्ययः ॥ ५० ॥ (१११)

उ०—प्रामाणिक लोगों के उपदेशसामर्थ्य से शब्द से अर्थ का बोध होता है॥ (मुक्ति आदि अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान केवल शब्द से नहीं होता किन्तु सत्यवक्ताओं का यह शब्द है, इस लिये अर्थ का बोध होता है । ऐसा अनुमान में नहीं ॥ (यही शब्द और अनुमान में भेद है । और यह जो कहा कि सम्बन्धयुक्त शब्द और अर्थ के ज्ञान से बोध होता है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि—

प्रमाणतोऽनुपलब्धेः ॥ ५१ ॥ (११२)

प्रमाण से प्रतीति नहीं होती (जिस इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है,उस इन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण नहीं हो सकता। जैसे कान से आप्तोपदिष्ट शब्द द्वारा जाना कि भूमण्डल पर कुरुक्षेत्र लङ्का लण्डन आदि नगर वा देश हैं, सो यह ज्ञान कान का विषय नहीं हो सकता)॥

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाऽभावः॥५२॥ (११३)

क्योंकि पूरण,प्रदाह और पाटन की उपलब्धि नहीं होती इस से भी सम्बन्ध का अभाव है। (अर्थात् जो शब्द का अर्थ के साथ व्याप्ति रूप सम्बन्ध होता तो अन्न शब्द के उच्चारण से (पूरण) मुख भर जाता। अग्नि शब्द के बोलने से (प्रदाह) जलन होती। खड्ग शब्द के कहने ही से मुख के खण्ड २ (पाटन) हो जाते। इस से सिद्ध हुआ कि शब्द अर्थ का व्याप्ति रूप सम्बन्ध नहीं है)॥

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥५३॥ (११४)

पूर्व०-शब्द से अर्थ के ग्रहण की व्यवस्था के देखने से व्यवस्था के कारण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है। (जो सम्बन्ध न होता तो सब शब्दों से सब अर्थों का बोध हो जाता,) इस लिये सम्बन्ध का खण्डन नहीं हो सकता ॥ इस का समाधानः-

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥ ५४ ॥ (११५)

उ०-शब्द और अर्थ की व्यवस्था सङ्केत से है अतः शब्द अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं।। (इस शब्द का यह अर्थ है। यह जो वाच्य और वाचक के नियम का नियम है, इसी को समय वा सङ्केत कहते हैं। इस के ज्ञान से शब्द के सुनने से अर्थ का बोध होता है और जो यह सङ्केत ज्ञात न हो तो शब्द के सुनने से भी अर्थ का बोध कभी नहीं होता। जैसे किसी ने सङ्केत किया कि " पङ्कज " शब्द से "कमल" समझना। अब जिस मनुष्य को यह सङ्केत ज्ञात होगा,उसी को पङ्कज शब्द के सुनने से कमल अर्थ का ज्ञान होगा और जिस को इस सङ्केत का ज्ञान नहीं, उस को पङ्कज शब्द के सुनने से कमल अर्थ का ज्ञान नहीं होता)। तथा—

जातिविशेषे चानियमात् ॥ ५५ ॥ (११६)

किसी विशेष जाति में नियम न होने से भी (शब्द से अर्थ का ज्ञान साङ्केतिक है। स्वाभाविक नहीं)॥ क्योंकि आर्य और म्लेच्छ अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ के ज्ञान के लिये शब्द का प्रयोग करते आते हैं। जो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक होता तो इच्छा के अनुसार शब्द का प्रयोग कभी नहीं हो सकता। जैसे प्रकाश से रूप का ज्ञान होना स्वाभाविक है, अर्थात् सब के लिये एकसा प्रकाश से सब किसी को रूप का ज्ञान होता है। ऐसा शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं। आर्यभाषा (सभ्य वा वा सङ्केत) में राम शब्द का जो अर्थ है वह म्लेच्छ भाषा में नहीं। तथा एक भाषा में भी सब प्रकरणों में किसी शब्द का एक ही अर्थ मानने का नियम नहीं॥

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः॥ ५६॥ (११७)

पूर्व०—मिथ्यात्व, व्याघात और पुनरुक्त दोष से शब्द की प्रमाणता नहीं हो सकती॥ (जैसे लिखा है कि जिस को पुत्र की इच्छा हो वह पुत्रेष्टि नाम यज्ञ करे परन्तु कहीं २ उक्त यज्ञ करने से भी पुत्र की उत्पत्ति नहीं देखते। इस से अनुमान होता है कि जिस वाक्य का दृष्टफल है, उस में मिथ्यात्व देखा गया तो जिस वाक्य का फल अदृष्ट है, जैसे "स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे," यह बात भी मिथ्या ही होगा। व्याघात दोष से भी शब्द प्रमाण नहीं हो सकता। जैसे एक स्थान में कहा कि सूर्य के उदय होने पर होम करना चाहिये, फिर अन्यत्र कहा कि सूर्योदय से पहिले होम करना चाहिये, ऐसे ही उदय काल में होम करने से दोष और बिना उदय काल में होम करने में भी दोष कहा। यह दोनों बात परस्परविरुद्ध होने से बाधित हैं। इस को व्याघात दोष (अपनी बात का आप ही खण्डन करना) कहते हैं। उक्त दोष से दो में से एक अवश्य मिथ्या होगा। ऐसे ही अभ्यास में तीनबार पहिली ऋचा बोलना और पिछली भी तीन बार। यह पुनरुक्ति दोष आता है और जिस में पुनरुक्ति हो, वह मतवाले का वाक्य कहाता है। इस लिये शब्द अप्रमाण हुआ॥

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्॥ ५७॥ (११८)

उ०-नहीं, कर्म कर्त्ता और साधन के वैगुण्य से॥ (जब ये तीनों यथार्थ होंगे तो निश्चय फल की सिद्धि होगी। इस में कुछ सन्देह नहीं। जैसे कर्त्ता

मूर्ख अथवा दुष्ट आचरण वाला हुआ तो यह कर्त्ता का वैगुण्य (दोष) हुआ, मिथ्या प्रयोग किया तो यह कर्म का वैगुण्य कहावेगा, ऐसे ही जो होमादि का द्रव्य अच्छा न हुआ तो यह साधन वैगुण्य हुआ। इन तीनों में से एक भी दुष्ट होगा तो फल की सिद्धि न होगी। क्योंकि लोक में भी गुण के योग से ही कार्य की सिद्धि देखने में आती है। यह लौकिक से पृथक् नहीं। इस लिये "अनृत=मिथ्यात्व" दोष देना उचित नहीं॥

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ५८ ॥ (११९)

(होम करने में जो व्याघात दोष दिया था उस का उत्तर इस सूत्र से देते हैं) अङ्गीकार करके काल का भेद करने पर दोष कहा है। इस लिये विधि के नष्ट होने में यह निन्दा का कथन है, किन्तु व्याघातरूप दोष नहीं (अर्थात् शास्त्र में जहां अनेक पक्ष हैं, उन में से किसी एक पक्ष को स्वीकार करले, फिर उस का त्याग करना अनुचित है। यह तात्पर्य है)॥

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ५९ ॥ (१२०)

(अभ्यास में जो पुनरुक्त दोष दिया था वह भी यथार्थ नहीं) क्योंकि अनुवाद की उपपत्ति होने से (व्यर्थ अभ्यास पुनरुक्त कहाता है और सार्थक अभ्यास को अनुवाद कहते हैं। तीन वार पहिली ऋचा पढ़नी और तीन वार पिछली बोलनी। यह अभ्यास सार्थक होने से अनुवाद है क्योंकि प्रथम और अन्त्य के तीन वार पढ़ने से सामिधेनियों की संख्या पूरी होती है। सामिधेनी पन्द्रह होनी चाहियें तीन२ बार न पढ़े तो संख्या न्यून होजाय। इस लिये सार्थक होने से यह अभ्यास अनुवाद कहा जायगा, पुनरुक्त नहीं)॥

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६० ॥ (१२१)

वाक्य विभाग के अर्थ ग्रहण से भी (शब्द प्रमाण है क्योंकि लोक में शिष्ट लोग विधि अनुवाद आदि वाक्यों का विभाग करते हैं और अनुवाद वाक्य को सार्थक मानते हैं। वैसे ही शास्त्र में भी अनुवाद वाक्य सार्थक माने जाते हैं)॥

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६१ ॥ (१२२)

क्योंकि शास्त्रीय वाक्य तीन प्रकार से काम में लाये गये हैं—विधिवाक्य, अर्थवादवाक्य और अनुवादवाक्य॥ इन के लक्षण क्रम से आगे लिखते हैं कि—

विधिर्विधायकः ॥ ६२ ॥ (१२३)

जो वाक्य विधायक (आज्ञा करने वाला) होता है, उसे विधिवाक्य कहते हैं। जैसे—स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥६३॥ (१२४)

स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प; यह (चार प्रकार का) अर्थवाद है॥ (विधि वाक्य के फल कहने से प्रशंसा को स्तुति कहते हैं। क्योंकि फल की प्रशंसा सुनने से प्रवृत्ति होती है। जैसे देवों ने इस यज्ञ को करके सब को जीता। इस यज्ञ के करने से सब कुछ प्राप्त होता है। इत्यादि॥ अनिष्ट फल के कथन को निन्दा कहते हैं। यह निन्दित कर्मों के छोड़ने के लिये की जाती है। जैसे यज्ञों के बीच में ज्योतिष्टोम पहिला है, इस को न करके जो और यज्ञ करता है, वह गड्ढे में पड़ता है॥ और जो वाक्य मनुष्यों के कर्मों में परस्परविरोध दिखावे उसे परकृति कहते हैं। इतिहासयुक्त विधि को पुराकल्प कहते हैं। जैसे ब्राह्मणों ने सामस्तोम की स्तुति की, इस लिये हम भी यज्ञ का विस्तार करें। पहिले शिष्ट लोग ऐसा करते आये वा कहते आये हैं इस को ऐतिह्य कहते हैं। अर्थ का कहना अर्थवाद है)॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६४ ॥ (१२५)

१ विधि और २ विधि से जो विधान किया गया उन का अनुवचन=अनुवाद कहाता है॥ १ पहिला शब्दानुवाद और २ दूसरा अर्थानुवाद कहाता है। विहित का अनुवाद करने का प्रयोजन यह है कि स्तुति निन्दा अथवा विधि का शेष ये सब जो विहित हैं, उन के विषय में किये जावें। लोक में भी तीन ही प्रकार के वाक्य देखने में आते हैं। जैसे अन्न पकाओ, यह विधिवाक्य कहाता है। आयु तेज बल सुख और फुरती यह सब अन्न में विद्यमान है। यह अर्थवाद वाक्य हुआ क्योंकि विधिवाक्य में अन्न पकाने की आज्ञा थी और इस से अन्न की स्तुति बोधित हुई। आप पकाइये, पकाइये, शीघ्र पकाइये। हे प्यारे! पकाओ। यह अनुवाद वाक्य कहाते हैं क्योंकि विधिवाक्य से जो विधान किया गया, उसी का अनुवचन इस में है। जैसे लोक में वाक्यों का अर्थ ज्ञान विभाग से होता है और वह प्रमाण समझे जाते हैं ऐसे ही विभाग से अर्थ ज्ञान होने के कारण शास्त्रीय (शब्द प्रमाणस्थ) वाक्यों का भी प्रमाणत्व समझो॥

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥६५॥ (१२६)

शङ्का-पुनरुक्त (अशुद्ध) और अनुवाद (शुद्ध) में विशेष नहीं क्योंकि दोनों ही में (चरितार्थ) शब्द के अभ्यास की उपपत्ति है। (बार २ पढ़ने से दोनों ही दुष्ट हैं)॥

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६६ ॥ (१२७)

उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन-पुनरुक्त और अनुवाद में विशेष नहीं, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अर्थवान् अभ्यास को अनुवाद और अर्थरहित (व्यर्थ) अभ्यास को पुनरुक्त कहते हैं। यही भेद है। जैसे किसी ने कहा "जाओ" फिर कहा "जाओ-जाओ" अर्थात् शीघ्र जाओ। देर मत करो। यह अभ्यास सार्थक है, व्यर्थ नहीं॥

तो क्या शब्द के प्रमाणत्व दूर करने वाले हेतुओं के खण्डन करने ही से शब्द का प्रमाणत्व सिद्ध होजायगा? नहीं, और भी कारण है कि-

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥६७॥(१२८)

उत्तर—मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान शब्द का प्रामाण्य है, आप्त के प्रमाणत्व से॥ जैसे मन्त्रों के जप से उन का फल जैसा का तैसा देखने में आता है ऐसे ही आयुर्वेद में जिस रोग की निवृत्ति के लिये जो उपाय लिखे हैं उन का फल भी वैसा ही देख में आता है जैसा कि शास्त्र में लिखा है। आप्त उन्हें कहते हैं जो यथार्थवक्ता, दूसरे के हित की इच्छा करने वाले, प्राणिमात्र पर दयावान्, धर्म के तत्व जानने वाले हों। ऐसे लोग प्राणियों के सुख के लिये त्यागने योग्य वा ग्रहण करने योग्य पदार्थों का उपदेश करते हैं। जैसे आप्तों के उपदेश से दृष्ट फल वाले वैद्यक शास्त्र का प्रमाणत्व सिद्ध होता है ऐसे ही आप्तलोगों के उपदेश होने से सत्यशास्त्रों का भी प्रामाण्य मानना चाहिये और जो दृष्ट फल वाले वैद्यक आदि के कर्त्ता ऋषि मुनि प्रामाणिक लोग हैं वही वेदादि शब्द के जानने वाले और व्याख्यान करने वाले हैं। इस से भी वेदादि शब्द का प्रमाणत्व सिद्ध होता है। जैसे बटलोई में एक चावल के टटोलने से सब पक गये वा अभी कच्चे हैं, इस का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही दृष्ट फल वाले वाक्य के प्रमाणत्व से अदृष्टार्थक वाक्य का भी प्रमाणत्व अनुमान से सिद्ध है॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥ ६८ ॥ (१२९)

चार ही प्रमाण नहीं क्योंकि ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये भी प्रमाण हैं। ऐतिह्य=इतिहासप्रसिद्ध को कहते हैं जैसे श्री रामचन्द्र जी युधिष्ठिरादि हुवे। इस में ऐतिह्य प्रमाण है॥ एक अर्थ के कहने से दूसरे अर्थ को प्राप्ति हो जाय इसे अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि यह देवदत्त मोटा है और दिन को नहीं खाता। बस इतने कहने मात्र से रात्रि का भोजन अर्थसे सिद्ध हो जायगा क्योंकि बिना भोजन के मोटा नहीं हो सकता॥ संभव-जैसे मन में पंसेरी और पंसेरी में सेर अर्थात् मन, पंसेरी के के बिना नहीं बन सकता तो मन के होने से पंसेरी का होना संभव प्रमाण से जाना जायगा॥ कारण के अभाव से कार्य के अभाव का ज्ञान अभाव प्रमाण से होता है॥

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ ६९ ॥ (१३०)

ऐतिह्य का शब्द प्रमाण में; अर्थापत्ति, संभव और अभाव का अनुमान में अन्तर्भाव होने से (प्रमाण चार ही हैं)। चतुष्ट्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता॥ (क्योंकि ऐतिह्य=इतिहास भी आप्तोपदिष्ट होने से प्रमाण है। तथा प्रत्यक्ष से संबद्ध अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान कहाता है। देवदत्त का मोटापन जो प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, उस से अप्रत्यक्ष रात्रि के भोजन का ज्ञान अनुमान से हो जायगा। जब कहा कि देवदत्त मोटा है और दिन में नहीं खाता तब निःसन्देह रात्रि में खाता होगा, इस बात का अनुमान हो जायगा क्योंकि विना भोजन मोटापन नहीं होता॥ संभव प्रमाण से मन में पंसेरी का ज्ञान होता है, यह भी अनुमान ही है क्योंकि पंसेरियों के समुदाय को मन कहते हैं और विना अवयवों के अवयवी नहीं रह सकता तो जब अवयवी विद्यमान है, तब उस के अवयवों का ज्ञान अनुमान से हो, इस में क्या प्रतिबन्ध है? ऐसे ही कारण के अभाव से कार्य का अभाव अनुमान ही से ज्ञात हो जायगा, पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक नहीं। इतने से यह सिद्ध होगया कि ऐतिह्य आदि प्रमाण तो हैं पर पृथक् प्रमाण नहीं, पहिले जो प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाण कहे हैं उन्हीं में इन का अन्तर्भाव है॥ अब अगले सूत्र से अर्थापत्ति का प्रमाणत्व उड़ाते हैं कि):—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ७० ॥ (१३१)

पू०-अनैकान्तिक (व्यभिचार) होने से अर्थापत्ति प्रमाण नहीं ॥ जैसे किसी ने कहा कि मेघों के न रहते वर्षा नहीं होती तब अर्थ से सिद्ध हुआ कि मेघों के रहने से वर्षा होती है। यह अर्थापत्ति प्रमाण का फल है। पर कभी २ मेघों के रहते भी वृष्टि नहीं होती, इस लिये अर्थापत्ति को व्यभिचार से प्रमाणत्व नहीं हो सक्ता ॥

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥ ७१ ॥ (१३२)

उ०—अर्थापत्ति में व्यभिचार नहीं आता, अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति के अभिमान से। अर्थात् कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। इस वाक्य से विरोधी अर्थ कारण के विद्यमान रहते ही कार्य उत्पन्न होता है। यहसिद्ध हो जाता है क्योंकि अभाव का विरोधी भाव है। इस लिये कारण की विद्यमानता में कार्य का होना—कारण की विद्यमानता का व्यभिचार नहीं है। क्योंकि यह निश्चित है कि कारण के न रहते कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती। इस लिये व्यभिचार नहीं है और जो कारण के विद्यमान रहते किसी निमित्त के प्रतिबन्ध से कार्य न हो तो यह कारण का धर्म है, अर्थापत्ति का प्रमेय नहीं। अर्थापत्ति का प्रमेय तो इतना ही है कि कारण के विद्यमान रहते ही कार्य होता है। इस से यह बात सिद्ध होगई कि अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति का अभिमान कर पूर्वपक्षकार ने निषेध किया है॥ तथा—

प्रतिषेधाऽप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥७२॥ (१३३)

"अर्थापत्ति प्रमाण नहीं व्यभिचार होने से" यह निषेध वाक्य है। इस से अर्थापत्ति के प्रमाणत्व का खण्डन होता है न कि अर्थापत्ति की सत्ता का। अतः यह निषेध भी अनैकान्तिक (व्यभिचारी) हुआ तो अप्रामाणिक से किसी वस्तु का खण्डन नहीं होसकता क्योंकि जो स्वयं अप्रमाण है, वह दूसरे का निषेध क्योंकर कर सकेगा। अथवा—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यऽप्रामाण्यम् ॥७३॥ (१३४)

प्रतिषेध का प्रामाण्य हो तो अर्थापत्ति का भी अप्रमाणत्व सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि कारण की विद्यमानता में कार्य के होने से अर्थापत्ति का भी अव्यभिचार विषय है॥ इस का सारांश यह है कि जो कहीं व्यभिचार आने पर भी निषेध को प्रमाण मानो तो अर्थापत्ति प्रमाण क्यों नहीं। इतने

से अर्थापत्ति का प्रमाणत्व सिद्ध किया। अब अभाव के प्रमाणत्व में शङ्का समाधान हैं कि—

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥७४॥ (१३५)

पू०—अभाव का प्रमाणत्व नहीं, प्रमेय के असिद्ध होने से ॥ क्योंकि जिस का प्रमेय सिद्ध नहीं, वह प्रमाण किस काम का। इस लिये उस का मानना व्यर्थ है ॥

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धेः ॥ ७५ ॥ (१३६)

उ०—"प्रमेय के असिद्ध होने से अभाव का प्रमाणत्व नहीं" इस का खण्डन करते हैं कि-प्रमेय सिद्ध होने से अभाव प्रमाण है।,जैसे कई वस्त्र चिन्ह वाले और कई एक बिना चिन्ह के हैं और एक ही स्थान में धरे हैं, अब किसी मनुष्य से कहा कि उन वस्त्रों में से बिना चिन्ह के वस्त्र ले आ, तो वह जिन वस्त्रों में चिन्ह का अभाव देखेगा, उन्हीं को ले आवेगा,तो लक्षणों के अभाव से ज्ञान हुआ और जो ज्ञान का हेतु है वह प्रमाण कहाता है। इस लिये अभाव प्रमाण है ॥

असत्यर्थे नाभाव इतिचेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ७६ ॥ (१३७)

(जहां पहिले होकर फिर कुछ न रहे वहां उस का अभाव कहा जाता है, जैसे किसी स्थान में पहिले घट था और फिर वहां से हटा लिया तो वहां घट का अभाव होगया। बिना लक्षणवाले वस्त्रों में पहिले ही लक्षण-न थे इस लिये उन में लक्षणाऽभाव सिद्ध नहीं) यह कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि जैसे लक्षणयुक्त वस्त्रों में लक्षणों की उपपत्ति देखते हैं वैसे ही लक्षण रहितों में लक्षणों के अभाव को देख कर वस्तु को जान लेते हैं ॥

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ ७७ ॥ (१३८)

पू०-लक्षण वाले वस्त्रों में जो लक्षण विद्यमान हैं उन लक्षणों का अलक्षितों में अभाव कहना हेतुशून्य है क्योंकि जो विद्यमान है उस का अभाव कैसा? क्यों कि लक्षितों के लक्षण अलक्षितों में उठकर थोड़ा ही चले जाते। बस लक्षितों में लक्षणों का भाव है ही, और अलक्षितों में पहले ही से लक्षण नहीं, अतः अभाव कहना नहीं बनता ॥

न लक्षणावस्थितापेक्षसिद्धेः ॥ ७८ ॥ (१३९)

उ०—हम यह नहीं कहते कि जो लक्षण विद्यमान हैं उन का अभाव किन्तु कितनों ही में लक्षण हैं और कइयों में नहीं हैं, अब जिन में लक्षणों को नहीं देखते उन में लक्षणाऽभाव से अपेक्षासिद्ध वस्तु को जान लेते हैं॥

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ ७९ ॥ (१४०)

अभाव दो प्रकार का होता है एक तो उत्पत्ति होने के पहिले, जैसे जब तक घट उत्पन्न नहीं हुआ तब तक उस का अभाव है और दूसरा जब कोई वस्तु नष्ट हो जाता है तब उस का अभाव होता है। लक्षणरहित वस्त्रों में पहिले प्रकार का अभाव सिद्ध है॥

शब्द के प्रमाणत्व में "आप्तोपदेश" विशेषण है इस से शब्द का अनाप्तोपदिष्ट और आप्तोपदिष्ट होना। इन दो भेदों से ज्ञात होता है कि शब्द अनेक प्रकार के होते हैं, उन में सामान्य रूप से विचार किया जाता है कि शब्द नित्य है वा अनित्य—

विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः ॥८०॥ (१४१)

शब्द—आकाश का गुण, व्यापक, नित्य और अभिव्यक्ति धर्मवाला अर्थात् क्रिया से शब्द का केवल आविर्भाव होता है, शब्द उत्पन्न नहीं होता। ऐसा कोई कहते हैं। कोई गन्ध आदि गुणों का सहचारी, द्रव्य में प्रविष्ट, अभिव्यक्तिधर्मवान् मानते हैं। शब्द आकाश का गुण, उत्पत्ति विनाश वाला है, कइयों का यह मत है और कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि शब्द महाभूतों के क्षोभ से उत्पन्न होता है, किसी के आश्रित नहीं, उत्पत्तिविनाशवान् है। इस लिये सन्देह होता है कि तो फिर सिद्धान्त क्या है? यही सिद्धान्त है कि "शब्द अनित्य है" इस के हेतु अगले सूत्र में कहते हैं कि—

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च ॥ ८१ ॥ (१४२)

शब्द—आदिमान् होने, इन्द्रियों का विषय होने और बनाई हुई वस्तुओं के समान शब्द में व्यवहार होने से अनित्य है॥ जो आदि वाले पदार्थ हैं, अनादि नहीं हैं, वे नित्य नहीं हैं, शब्द भी सादि होने से अनित्य है। दूसरे संयोगजनित कार्य पदार्थ इन्द्रियों का विषय होते हैं, नित्य कारण पदार्थ अतीन्द्रिय होते हैं। अब शब्द इन्द्रियविषय होने से अनित्य हुवा। तीसरे जैसे घड़ा कपड़ा आदि बनाये जाते हैं वैसे शब्द भी बोल कर बनाया हुवा कहा जाता है इस लिये भी शब्द अनित्य हुवा॥

न घटाभावसामान्यनित्यत्वात् नित्येष्व-नित्यवदुपचाराच्च ॥ ८२ ॥ (१४३)

पूर्वपक्ष—नहीं, क्योंकि घटाऽभाव के नित्यत्व से और नित्यों में भी अनित्य के तुल्य उपचार होने से (व्यभिचार आता है इस लिये उक्त हेतुओं से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे कहा था कि आदिमान् होने से शब्द अनित्य है, यह ठीक नहीं, क्योंकि घटाऽभाव भी आदिमान् है। जब तक घट विद्यमान है तब तक उस का अभाव नहीं और जब घट फूट गया तब उस का अभाव होगया वह घटाऽभाव मिट्टी के पृथक् २ होजाने से उत्पन्न होता है और आगे सर्वदा अभाव रहेगा इस लिये नित्य है, पर आदिमान् है। जो कहा था कि इन्द्रियविषय होने से शब्द अनित्य है, इस में भी व्यभिचार है क्योंकि घटत्व पटत्व और ब्राह्मणत्व आदि जातियों का भी ग्रहण इन्द्रियों से ही होता है, पर जाति नित्य है, यह सिद्धान्त है, तो इन्द्रियविषयत्व में भी व्यभिचार आगया। और जो कृतकवत् उपचार दिखलाया था, उस में भी व्यभिचार है क्योंकि नित्यों में भी अनित्यत्व केसा उपचार किया जाता है। जैसे वृक्ष का प्रदेश, कम्बल का स्थान, यह व्यवहार होता है, वैसे ही-आकाश का प्रदेश, आत्मा का स्थान, यह व्यवहार भी होता है। वास्तव में आकाश का प्रदेश (छोर) वा आत्मा का स्थान विशेष नहीं है पर कहने में आता है, इस लिये उक्त हेतु भी ठीक नहीं ॥

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ॥ ८३ ॥ (१४४)

उ०—तत्व (पारमार्थिक) और भाक्त (गौण) के भेद (विवेक) से व्यभिचार नहीं आता (नित्य वही है जिस की कभी उत्पत्ति और विनाश न हों, जो सब काल में एक रूप से विद्यमान हो, जैसे आत्मा आकाश आदि पदार्थ हैं। यथार्थ नित्यत्व इन्हीं में है। घटाऽभाव में उक्त प्रकार का नित्यत्व नहीं है क्योंकि यह घटाऽभाव उत्पत्तिमान् है इस लिये इस का नित्यत्व काल्पनिक है, तात्त्विक नहीं। जिस प्रकार का शब्द है इस प्रकार का कोई कार्य नित्य देखने में नहीं आता, इस लिये व्यभिचार नहीं है) ॥

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ ८४ ॥ (१४५)

शब्द में सन्तान (परम्परा) के अनुमान विशेषण से भी शब्द अनित्य

ही है ॥ इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, केवल इसी लिये शब्द को अनित्य नहीं कहते हैं किन्तु इन्द्रिय के सामीप्य से शब्द का ज्ञान होता है तो सामीप्य के लिये एक शब्द से दूसरा और फिर उस से तीसरा इसी प्रकार शब्द की परम्परा का अनुमान है क्योंकि कर्ण इन्द्रिय तो शब्द के स्थान में जा ही नहीं सकता और सामीप्य जब तक न हो तब तक शब्द का ज्ञान होना असंभव है। इस लिये शब्द अनित्य है ॥

और जो कहा था कि नित्यों में भी अनित्य का सा उपचार होता है, यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकिः—

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्ये-
ष्वप्यव्यभिचारइति ॥ ८५ ॥ (१४६)

कारण द्रव्य का प्रदेश शब्द द्वारा कथन होने से नित्यों में भी व्यभिचार नहीं आ सकता। जैसे कहते हैं कि "आकाश का प्रदेश" "आत्मा का प्रदेश" इस से आकाश और आत्मा का कारण द्रव्य नहीं कहा जाता, जैसा घटादि अनित्य पदार्थों का, क्योंकि परिच्छिन्न द्रव्य के साथ जो आकाश का संयोग है, वह आकाश का व्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश बहुत बड़ा है, उस का घटादि पदार्थों के साथ जो संयोग है, वह एक देश में है, सब देशों में नहीं, यही समाधान " आत्मा का प्रदेश " इत्यादि में जानना चाहिये। जैसे संयोग अव्याप्यवृत्ति है वैसे ही शब्द आदि भी अव्याप्यवृत्ति हैं, क्योंकि ये भी एक देश में रहते हैं, सब देश में नहीं, जो वस्तु किसी प्रदेश में हो और किसी में न हो उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं ॥

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥८६॥ (१४७)

उच्चारण करने के पहिले शब्द उपलब्ध नहीं होता, यदि होता तो सुन पड़ता। तथा आवरणादि भी उपलब्ध (पाये) नहीं जाते इस से शब्द अनित्य है। (यदि कहो कि उच्चारण के पूर्व भी शब्द था तो, पर आवरण आदि रोक होने से सुनने में नहीं आता था, यह कहना भी ठीक नहीं क्योंकि जहां किसी प्रकार की रोक नहीं, वहां भी जब तक उच्चारण न करो तब तक कोई शब्द सुनाई नहीं दे ा, इस से सिद्ध है कि उच्चारण करने के पहिले शब्द न था, पीछे उत्पन्न हुआ। जो उत्पन्न होकर नष्ट हो वह अनित्य कहाता है। इस से शब्द अनित्य है ॥ इस सिद्धान्त पर आक्षेप करते हैं किः—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ ८७ ॥ (१४८)

पू० यदि अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से आवरण नहीं है, तो हम कह सकते हैं कि आवरण की अनुपलब्धि भी अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से है, अनुपलब्धि से आवरण का निषेध नहीं हो सकता ॥

अनुपलम्भादनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ ८८ ॥ (१४९)

जैसे अनुपलम्भ (ज्ञात न होने) से भी अनुपलब्धि है, उसे मानते हो, तद्वत् केवल उपलब्ध न होना आवरण का असाधक नहीं, उपलब्धि नहीं भी है तो भी आवरण है ॥

अनुपलम्भात्मकत्वात्तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ८९ ॥ (१५०)

उ०-जो ज्ञान का विषय होता है, वह है, और जिस का ज्ञान नहीं होता वह नहीं है, यह सिद्धान्त है। उपलब्धि के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं, अभावरूप होने से इस की उपलब्धि नहीं होती। आवरण तो भावरूप पदार्थ है, इस की उपलब्धि अवश्य होनी चाहिये थी और उपलब्धि होती नहीं, इस लिये आवरण नहीं है ॥

अस्पर्शत्वात् ॥ ९० ॥ (१५१)

पू० जैसे आकाश का स्पर्श नहीं होता और वह नित्य है, ऐसे ही शब्द का भी स्पर्श नहीं होता, इस लिये शब्द भी नित्य है ॥

न कर्मानित्यत्वात् ॥ ९१ ॥ (१५२)

व्यभिचारी होने से अस्पर्शत्व हेतु ठीक नहीं। क्योंकि कर्म का भी स्पर्श नहीं होता पर वह अनित्य है ॥

नाणुनित्यत्वात् ॥ ९२ ॥ (१५३)

परमाणु का स्पर्श होता है पर नित्य है, इस लिये अस्पर्शत्व हेतु से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। दो उदाहरणों में व्यभिचार आजाने से अस्पर्शत्व हेतु दुष्ट है। इन दोनों सूत्रों का अभिप्राय यह है कि जिस पदार्थ का स्पर्श नहीं होता वह नित्य होता है जैसे " आकाश " ऐसा पूर्वपक्षी कहे तो उत्तर यह है कि क्रिया का स्पर्श नहीं होता पर अनित्य है, अर्थात् यह नियम नहीं है कि जिस २ का स्पर्श न हो वह २ नित्य ही हो।

और यह भी नियम नहीं कि जिस २ का स्पर्श हो वह २ अनित्य हो। देखो परमाणु का स्पर्श होने पर भी वह नित्य है ॥

सम्प्रदानात् ॥ ९३ ॥ (१५४)

पू०-शब्द का सम्प्रदान होता है इस लिये नित्य है। क्योंकि जो पदार्थ दिया जाता है, वह पहिले से विद्यमान रहता है। आचार्यादि शिष्यादि को शब्द देता है इस से पहिले से शब्द विद्यमान है, यह मानना पड़ेगा ॥

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ ९४ ॥ (१५५)

उ०-देनेवाले और लेने वाले के बीच में शब्द की उपलब्धि नहीं होती, इस लिये उक्त हेतु ठीक नहीं। जो वस्तु विद्यमान होती है वह देने वाले से अलग होके लेने वाले के पास पहुंचती है, यह बात शब्द में नहीं घटती इस लिये संप्रदान कहने से शब्द नित्य नहीं हो सकता ॥

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ ९५ ॥ (१५६)

पू०-पढ़ाये जाने से निषेध नहीं हो सकता। जो संप्रदान न होता तो पढ़ाना नहीं बन सकता। इस लिये शब्द का देना मानना चाहिये ॥

उभयोःपक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥९६॥ (१५७)

उ०-सन्देह की निवृत्ति न होने से दोनों पक्षों में पढ़ाना समान है। क्या जाने गुरुका शब्द शिष्य में पहुंचता है अथवा शिष्य भी जैसा गुरु बोलता है वैसा ही आप उच्चारण करता है इस लिये पढ़ाना सम्प्रदान का हेतु नहीं और संप्रदान न होने से शब्द नित्य नहीं होसकता ॥

अभ्यासात् ॥ ९७ ॥ (१५८)

पू०-जिस का अभ्यास किया जाता है वह नित्य देखा गया है जैसे पांच बार देखता है, तो नित्य रूप फिर फिर देखा जाता है। ऐसे ही शब्द में भी अभ्यास होता है कि दशबार वाक्य पढ़ा, बीस वार पढ़ा, इस लिये नित्य शब्द का वार वार उच्चारण करना अभ्यास है। अभ्यास तभी बन सकता है जब कि शब्द उच्चारण से पूर्व भी नित्य वर्त्तमान हो ॥

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥९८॥ (१५९)

उ०-नहीं, क्योंकि नित्य न होते हुवे भी अभ्यास का व्यवहार होता है। जैसे दो वार अग्निहोत्र करता है, तीन वार होम करता है, दो वार भोजन करता है, इस व्यभिचार से यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि उदाहरणों से सिद्ध हो गया कि होम भोजन आदि क्रिया अनित्य हैं तो भी अभ्यास का उपचार होता है, ऐसे ही अनित्य शब्दों का अभ्यास होता है॥

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यादित्यन्यताऽभावः ॥ ९९ ॥ (१६०)

पू०—प्रतिषेध हेतु में जो अन्य शब्द का प्रयोग किया था, उस का खण्डन इस सूत्र से करते हैं कि जिस को अन्य कहते हो, वह अपने साथ अनन्य होने से अन्य नहीं हो सकता, इस लिये अन्यता का अभाव हुआ। तात्पर्य यह है कि अन्य (भिन्न) दूसरे का भेद इस में हो सकता है अपने साथ तो भेद नहीं, तो अनन्य हुआ और जो अनन्य है, वह अन्य हो नहीं सकता, इस लिये अन्यत्व का अभाव सिद्ध होता है॥

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥ १०० ॥ (१६१)

उ०—सिद्धान्ती कहता है कि अन्यत्व का अभाव मानो तो अनन्यता भी न बनेगी क्योंकि इन दोनों की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है॥

जैसे कहा कि "अनन्य" तो यह समस्त पद है, इस का अर्थ यह है कि "अन्य नहीं" वह "अनन्य" कहाता है। जो उत्तर पद अन्य न होता तो किस का निषेध किया जाता। इस लिये अनन्य शब्द दूसरे अन्य शब्द की अपेक्षा से सिद्ध होता है। इस से जो पूर्वपक्ष में कहा था कि अन्यत्व का अभाव है, सो यथार्थ नहीं॥

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ १०१ ॥ (१६२)

पू०-शब्द के नाश का कारण नहीं जान पड़ता। इस लिये शब्द नित्य है॥ जो पदार्थ अनित्य होता है उस का नाश किसी कारण से होता है, जैसे वस्त्र के कारण तन्तुओं का संयोग जब नष्ट (डोरे अलग २) होते हैं तब वस्त्र नष्ट होता है। यदि शब्द अनित्य होता तो उस का नाश जिस कारण से होता, वह कारण जान पड़ता॥

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसंगः ॥ १०२ ॥ (१६३)

उ०—शब्द न सुन पड़ने का कारण उपलब्ध न होने से सर्वदा श्रवण होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता इस लिये शब्द नित्य नहीं ॥

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥१०३॥ (१६४)

यदि कहो कि न सुनाई पड़ने का कारण अनुमान से उपलब्ध है, तौ अनुपलब्धि के असत् होने से यह कहना नहीं बनता कि कारण उपलब्ध नहीं ॥

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावेनानुपलब्धिः ॥१०४॥ (१६५)

घण्टे को बजा कर उस को हाथ से पकड़ लो तौ शब्द रुक जाता है, उपलब्ध नहीं होता (यदि नित्य होता तौ ऐसा क्यों होता ?) ॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसंगः ॥ १०५ ॥ (१६६)

इस सूत्र पर वृत्तिकार ने पूर्व वा उत्तर कोई पक्ष नहीं लिखा, प्रत्युत यह सूत्र ही अपनी व्याख्या में नहीं माना, परन्तु वात्स्यायन मुनि ने भाष्य में व्याख्या की है इस लिये हम भी लिखते हैं—

शब्द के विनाश का कारण (हाथ से पकड़ने में) उपलब्ध नहीं होता तब शब्द स्थिर रहना चाहिये था, और उस दशा में शब्द की नित्यता पाई जाती ॥

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ १०६ ॥ (१६७)

पू०—शब्द के स्पर्शरहित होने से (१६५) सूत्र का दोष नहीं आता। (क्योंकि शब्द आकाश का गुण है, आकाश में स्पर्श नहीं । तब हाथ लगाने से शब्दाऽभाव कैसे माना जाय ?) ॥

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ १०७ ॥ (१६८)

उ०—समास में जहां एक द्रव्य में विभक्त=भिन्न २ प्रकार का शब्द भी सुनने में उपपन्न होता है॥ (कुछ यही एक बात नहीं कि घंटा बजा कर छू देने से शब्द रुक जाता हो, किन्तु एक ही घंटे वा तुरी आदि में अनेक विभागों=विभक्तियों के शब्द को हम सुनते हैं, इस से जानते हैं कि आकाश के

सिवाय अन्य द्रव्य भी चाहे आकाश में ही विकृत होते हैं, पर शब्दभेद के कारण हैं) ॥

आगे वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक शब्दों में से वर्णात्मक शब्द के विषय में विचार करते हैं कि—

विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥ १०८ ॥ (१६९)

शब्द (वर्णात्मक) में विकार और आदेश किये जाते हैं इस से संशय होता है ॥ (कि इ को य् (सुधी-उपास्यः=सुध्युपास्यः) किया जाता है तब इ का विकार य् होता है, वा इ के स्थान में एक स्वतन्त्र दूसरा वर्ण य् (जो इ से नहीं बना) प्रयुक्त होता है ?) ॥

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धिः ॥ १०९ ॥ (१७०)

प्रकृति (ई इत्यादि) बड़ी होने पर विकार (य् इत्यादि) भी बड़े होने चाहिये थे ॥ (पर ऐसा देखने में नहीं आता । इस लिये इ और य् में कारण का विकार कार्य पना मानना ठीक नहीं) ॥

न्यूनसमाधिकोपपत्तेर्विकाराणामहेतुः ॥ ११० ॥ (१७१)

पूर्व सूत्र में यह आक्षेप करते हैं कि–विकारों के न्यून, समान और अधिक भी उपपन्न होने से यह कोई हेतु नहीं कि (ई बड़ी हो तो य् भी बड़ा होना चाहिये था । बड़े कारणों के छोटे कार्य भी होते हैं, जैसे बहुत रुई का थोड़ा कपड़ा; समान कारण के समान कार्य विकार भी होते हैं, जैसे जितना सुवर्ण उस के उतने ही कुण्डलादि, और न्यून कारण के अधिक कार्य विकार भी देखे जाते हैं, जैसे छोटे से वटबीज कारण का बड़ा भारी वटवृक्ष विकार कार्य है) ॥

नाऽतुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ १११ ॥ (१७२)

समाधान—यह आक्षेप इस लिये नहीं बनता कि–अतुल्य=भिन्न २ प्रकृतियों के विकारविकल्प=भिन्न २ कार्य होते हैं (वट से आम्र तो उत्पन्न नहीं होता । बस यदि इ का विकार य् होता तो इ और य् में सजातीयता होती । ऐसा नहीं है । इस लिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

द्रव्यविकारवैषम्यवद्वर्णविकारविकल्पः ॥११२॥ (१७३)

आक्षेप की पुनः पुष्टि करते हैं कि- जैसे द्रव्यों से विषमविकार हो जाते हैं वैसे ही वर्णों= अक्षरों से भी विषमविकार वा विकार के विकल्प समझ लो (अर्थात् जैसे मीठे दूध से खट्टा दही आदि विषमविकार वा कार्य हो जाते हैं, ऐसे ही ह्रस्व वा दीर्घ इ वर्ण से भी विषम य् विकार होजाना अनुपपन्न नहीं) ॥

न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥११३॥ (१७४)

फिर आक्षेप की पुष्टि का खण्डन करके अपने पक्ष का समाधान करते हैं कि-विकार के धर्म न पाये जाने से (इ का विकार य्) नहीं ॥ (जैसे मिट्टी के विकार मिट्टी, सुवर्ण के विकार सुवर्ण होते हैं, ऐसा धर्म (नियम) इ को य् होने आदि में नहीं पाया जाता। इस लिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

विकारप्राप्तानामपुनरावृत्तेः ॥ ११४ ॥ (१७५)

जो वस्तु विकार को प्राप्त हो जाते हैं वे फिर अपनी प्रकृति (स्वरूप) को प्राप्त नहीं होते, (इस से भी इ का विकार य् नहीं। क्योंकि दूध का दही बनकर फिर उसी दही का दूध नहीं बनता, पर य् का तो फिर इ भी होता देखा जाता है। इस लिये विकार मानना ठीक नहीं) ॥

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ११५ ॥ (१७६)

पुनः आक्षेप है कि-सुवर्णादि के पुनः प्रकृति (स्वरूप) में आ जाने से यह हेतु (जो कि १७५ में कहा) ठीक नहीं (सुवर्ण का विकार कुण्डलादि, और कुण्डलादि का फिर सुवर्ण जैसे हो जाता है, वैसे ही इ का य् और फिर य् को इ भी जानो) ॥

तद्विकाराणां सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात् ॥ ११६ ॥ (१७७)

फिर समाधान करते हैं कि— सुवर्ण के विकार सुवर्णभाव से अलग नहीं होते, इस कारण (यह दृष्टान्त ठीक नहीं जो कि १७६ में कहा है क्योंकि सुवर्ण का तो विकार कुण्डलादि भी सुवर्ण ही है, पर इ का विकार य् को मानें तो य् ही इ तो नहीं होता। इस लिये सुवर्ण के दृष्टान्त से वर्णविकार मानना ठीक नहीं) ॥

वर्णत्वाऽव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः॥ ११७ ॥ (१७८)

आक्षेप की पुष्टि में फिर कहते हैं कि-वर्णत्व से अलग न होने से वर्णों के विकार का प्रतिषेध नहीं हो सकता (जैसे सुवर्ण का विकार सुवर्ण है वैसे इ " वर्ण " का विकार य् भी " वर्ण " ही तो है) ॥

पुनः समाधान करते हैं कि:-

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ॥ ११८ ॥ (१७९)

सामान्य वाले (सुवर्ण) का धर्मयोग है, न कि सामान्य (सुवर्णत्व) का (अर्थात् सुवर्ण का सुवर्णत्व तो स्वयं धर्म है, उसके कुण्डलादि धर्म नहीं हो सकते, किन्तु सुवर्ण के हो सकते हैं । इसी प्रकार इ में वर्णत्व है वह किस वर्ण का वर्णत्व है ? क्या जिस वर्ण का वर्णत्व इ में है, उसी का वर्णत्व य् में भी कोई कह सकता है ? जब नहीं कह सकता तो वर्णत्व सामान्य के धर्म इ को य् इत्यादि नहीं हो सकते । भला निवृत्त होने वाला इत्व-उत्पन्न होने वाले यत्व की प्रकृति कैसे हो सकता है ?) ॥

नित्यत्वे विकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ११९ ॥ (१८०)

वर्णों के नित्य होने पर विकार से और अनित्य होने पर न ठहर सकने से (विकारपक्ष ठीक नहीं, क्योंकि नित्य में विकार संभव नहीं । अनित्य में इस लिये विकार मानना नहीं हो सकता कि यदि वर्ण उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाता है तो एक वर्ण दूसरे वर्ण का कारण नहीं, तब एक वर्ण का दूसरा वर्ण विकार कैसे माना जावे ?) ॥

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्ण-विकाराणामप्रतिषेधः ॥ १२० ॥ (१८१)

विकारपक्ष की पुष्टि में कहते हैं कि-नित्य वर्णों के विकारों का प्रतिषेध इस लिये नहीं हो सकता कि नित्य पदार्थों के धर्म कई प्रकार के (विकल्पित) हैं और अतीन्द्रिय हैं ॥ (अर्थात् कोई नित्य पदार्थ इन्द्रियों का विषय नहीं हैं और "च" कार से कोई इन्द्रियों के विषय हैं, जैसे गोत्व जाति, और नित्य पदार्थों के धर्म अनेक हैं, कोई विकारी, कोई अविकारी । बस वर्ण नित्य होने पर भी विकारी माने जा सकते हैं) ॥

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः॥१२१॥(१८२)

अब अनवस्थान (न ठहर सकने) के दोष का भी उत्तर देते हैं कि–न ठहरने वाला होने पर भी जैसे वर्ण उपलब्ध (विषय) हो जाता है वैसे उस को विकार की भी उपपत्ति जानो ॥

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाऽप्रतिषेधः ॥ १२२ ॥ (१८३)

१८१ । १८२ में जो विकारपक्ष के समाधान किये थे, उन का खण्डन करते हैं कि–विकार वाला होने पर नित्यता नहीं रहती (क्योंकि धर्मविकल्प नहीं देखा जाता कि कोई नित्य पदार्थ विकारी हों और कोई अविकारी, किन्तु सब नित्य पदार्थ अविकारी होते हैं) और अन्य काल में विकार उपपन्न होने से भी उत्तर (वर्णोपलब्धिवत्) ठीक नहीं बनता (क्यों कि इकारश्रवणकाल में यकार सर्वथा नहीं रहता और यकारश्रवणकाल में इकार नहीं) ॥

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ॥ १२३ ॥ (१८४)

और भी विकारपक्ष मानने में दोष है कि–वर्णविकारों में प्रकृति का नियम नहीं (अर्थात् जैसे दूध से दही विकार में दूध प्रकृति और दही विकार है, ऐसा नियम है, वैसे यह नियम नहीं कि इकार प्रकृति से ही यकार विकार होता हो, प्रत्युत " विध्यति " इत्यादि प्रयोगों में यकार प्रकृति से इकार विकार हो गया, तो प्रकृति का नियम न होने से भी विकार पक्ष मानना ठीक नहीं) ॥

अनियमे नियमान्नाऽनियमः ॥ १२४ ॥ (१८५)

उक्त १८४ सूत्र का छलवाद से प्रतिवाद करते हैं कि–अनियम के नियत होने से अनियम न रहा (अर्थात् जब यह बात नियमित हो गई कि वर्ण विकारों में प्रकृति का नियम नहीं, तो यह भी एक प्रकार से नियम होगया, बस अनियम बताना ठीक नहीं रहा) ॥

फिर खण्डन करते हैं कि—

नियमाऽनियमविरोधादनियमे नियमाच्चाऽप्रतिषेधः ॥ १२५ ॥ (१८६)

नियम और अनियम इन दोनों में परस्पर विरोध होने और अनियम

के नियत होने से (१८५) का यह कथन ठीक नहीं कि " अनियम न रहा "
अब इस विचार को समाप्त करते हुवे आचार्य कहते हैं कि—

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु
विकारोपपत्तेर्वर्णविकारः ॥ १२६ ॥ (१८७)

(तु) वर्णप्रकृति से वर्णान्तर विकार मानना तो उक्त तर्क वितर्कों से खण्डित हो चुका, हां-गुणान्तरापत्ति, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश और श्लेषों से तो विकार की उपपत्ति होने से वर्णविकार माना जासकता है (गुणान्तरापत्ति=उदात्त को अनुदात्त होना इत्यादि, उपमर्द=अस् का भू और ब्रू का वच इत्यादि, ह्रास=दीर्घ का ह्रस्व हो जाना, वृद्धि=ह्रस्व का दीर्घ हो जाना, लेश=जैसे अस् के अ का लोप हो जाना, श्लेष=आगम जैसे इट् आदि, इन से वर्णों में विकार का व्यवहार है) ॥

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ १२७ ॥ (१८८)

वे (वर्ण) विभक्ति अन्त में लगे हुवे "पद" कहाते हैं ॥

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥१२८॥ (१८९)

उस (पद) के अर्थ (पदार्थ) में व्यक्ति, आकृति और जाति के सन्निधान में उपचार से संशय होता है (कि गौः पद से उस का पदार्थ गोजाति, गो-व्यक्ति वा गौ आकृति, इन में से क्या है ? या सब ही गो पदार्थ हैं ?)

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमा-
सानुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः ॥१२९॥ (१९०)

प्रथम व्यक्ति को पदार्थ मानने वालों का मत कहते हैं कि-या शब्द, समूह, त्याग, ग्रहण, संख्या, वृद्धि, ह्रास, वर्ण, समास=बैठना, अनुबन्ध=सम्बन्ध इन सब का व्यक्ति में उपचार (प्रयोग) देखा जाने से व्यक्ति (ही पद का अर्थ है । जो गौ जाती है, यह याशब्द, गौओं का समूह, गौ का दान, गौ का ग्रहण=लेना, १० गौवें, गौ की वृद्धि, गौ का ह्रास, गौर आदि गौ के रङ्ग, गौ का बैठना, गौ का मुख इत्यादि सब प्रयोगों में जाति और आकृति तक

का ग्रहण नहीं, किन्तु व्यक्ति का ही ग्रहण देखा जाता है, अतः व्यक्ति ही पदार्थ है) ॥

न तदनवस्थानात् ॥ १३० ॥ (१९१)

नहीं, क्योंकि व्यक्ति (पदार्थ) मानने में व्यवस्था नहीं होती (क्योंकि गौ खड़ी है, इत्यादि प्रयोगों में जाति का त्याग तो नहीं, किन्तु जातिसहित व्यक्ति का ग्रहण है । इसी प्रकार दान, आदान, संख्या आदि में भी समझिये)॥

अब इस बात का समाधान करते हैं कि तो फिर (१९०) के अनुसार व्यक्ति में उपचार क्यों है ?

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ १३१ ॥ (१९२)

जैसे सहचार में-यष्टिपद से यष्टि वाला ब्राह्मण, स्थान में-मञ्च से मञ्चस्थ पुरुष, तादर्थ्य (उस के लिये) में-कट से कटार्थक तृण, वृत्त (चलन) में-यम से तत्तुल्य राजा, तोल में-धौन मन सत्तू से उतने सत्तू, धारण में-तुलाचन्दन से तुला में धरा चन्दन, सामीप्य में-गङ्गा से गङ्गातीर, संयोग में-काले रङ्ग से रङ्गी साड़ी (वस्त्र) काली साड़ी, साधन में अन्न से प्राण, आधिपत्य में-कुल वा गोत्र से उस कुल का मुख्य पुरुष ग्रहण किया जाता है, ऐसे ही लक्षणा से जो वह न हो उस में भी उस का प्रयोग होता है (तब गौ पद से गोत्व ग्रहण सुगम है)॥

आकृतिस्तदपेक्षत्वात्सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥१३२॥ (१९३)

अब यह पक्ष खड़ा करते हैं कि आकृति ही पद का अर्थ है-प्रत्येक प्राणी (यह गौ है, यह घोड़ा है इत्यादि) की व्यवस्था की सिद्धि आकृति (शकल सूरत) आकार की सापेक्ष होने से आकृति (पद का अर्थ है) ॥

अब जाति को पद का अर्थ मानने का पक्ष कहते हैं कि-

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसंगात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ १३३ ॥ (१९४)

व्यक्ति और आकृति युक्त भी मट्टी की गाय में गौ के स्नान आदि का व्यवहार नहीं, इस लिये जाति (पद का अर्थ है) ॥

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ १३४ ॥ (१९५)

नहीं (१९४ का कथन ठीक नहीं) क्योंकि जाति की पहचान भी आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा रखती है। (तो फिर व्यक्ति आकृति और जाति में से पद का अर्थ क्या है ? कहते हैं कि-)

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ १३५ ॥ (१९६)

व्यक्ति आकृति और जाति (तीनों) पद का अर्थ हैं (क्योंकि शब्द की शक्ति तीनों में है) ॥

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः ॥ १३६ ॥ (१९७)

गुणविशेष (गुरुत्व, कठिनत्व, द्रवत्व आदि) की आश्रय वाली मूर्त्ति को व्यक्ति कहते हैं ॥

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ १३७ ॥ (१९८)

जिस से जाति और जाति के चिन्ह विख्यात हों उस को आकृति कहते हैं। (प्राणी और उन के अङ्गों की रचनाविशेष जाति का चिन्ह आकृति हुई) ॥

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ १३८ ॥ (१९९)

(द्रव्यों में आपस का भेद होते हुवे भी) जिस से समानप्रसव पना पाया जाता है वह जाति है ॥

इति द्वितीयाऽध्याये द्वितीयमान्हिकम् ॥ २ ॥

इति न्यायदर्शनभाषानुवादे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

ओ३म्

अथ तृतीयाध्यायः

प्रमाणों की परीक्षा हो चुकी, अब प्रमेयों की परीक्षा की जायगी। प्रमेयों में पहिला और मुख्य "आत्मा" है, इस लिये प्रथम आत्मा की ही विवेचना की जाती है। क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वेदना के संघात का ही नाम आत्मा है या आत्मा इन से कोई भिन्न पदार्थ है? पहिले सूत्र में इन्द्रियचैतन्यवादियों के मत का निराकरण करते हैं:—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥ (२००)

उ०-दर्शन और स्पर्शन से एक ही अर्थ का ग्रहण होने से (आत्मा देहादि से भिन्न है) ॥

जिस विषय को हम आंख से देखते हैं, उसी को त्वचा से स्पर्श भी करते हैं। नींबू को देख कर रसना में पानी भर आता है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो ऐसा कदापि नहीं हो सकता था, क्योंकि "अन्यदृष्टमन्यो न स्मरति" देवदत्त के देखे हुवे अर्थ का यज्ञदत्त को कभी स्मरण नहीं होता। फिर आंख के देखे हुवे विषय का जिह्वा से वा त्वचा से क्योंकर अनुभव किया जाता। जो कि हम विना किसी सन्देह के एक इन्द्रिय के अर्थ को दूसरे इन्द्रिय से ग्रहण करते हैं, इस से सिद्ध है कि उस अर्थ के ग्रहण करने में इन्द्रिय स्वतन्त्र नहीं हैं, किन्तु इन के अतिरिक्त ग्रहीता कोई और है जो इन के द्वारा एककर्तृक अनेक प्रत्ययों को ग्रहण करता है और वही चेतन आत्मा है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न, विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥ (२०१)

पू०- उक्त कथन ठीक नहीं है, विषयों की व्यवस्थिति होने से॥

देहादि संघात के अतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, विषयों की व्यवस्था होने से। इन्द्रियों के विषय नियत हैं, आंख के होने पर रूप का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं होता और यह नियम है कि जो जिस के होने पर होता और न होने पर नहीं होता, वह उसी का समझा जाता है। इस लिये

रूपज्ञान नेत्र का है क्योंकि वही उस को देखता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय भी अपने २ अर्थज्ञान में स्वतन्त्र हैं। जब इन्द्रियों के होने से ही विषयों की उपलब्धि होती है तब उस से भिन्न अन्य किसी चेतन की कल्पना क्यों की जाय ? अब इस का समाधान करते हैं:-

तद् व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः॥३॥ (२०२)

उ०-उक्त विषयव्यवस्थिति से ही आत्मा की सिद्धि होने से निषेध नहीं हो सकता ॥

इन्द्रियों के विषयों की व्यवस्था होने से ही (उन से भिन्न चेतन) आत्मा की सत्ता माननी पड़ती है। यदि इन्द्रियों के विषय नियत न होते अर्थात् एक इन्द्रिय से दूसरे इन्द्रिय के विषय का भी ग्रहण हो सकता, तब तो उन में स्वतन्त्रता की कल्पना की जासकती थी। परन्तु जिस दशा में कि उन के विषय नियत हैं अर्थात् आंख से रूप का ही ग्रहण होता है, न कि गन्धादि अन्य विषयों का। इस से यह सिद्ध होता है कि सब विषयों का ज्ञाता चेतन आत्मा जो इन्द्रियों से अपने २ विषयों को ही ग्रहण कराता है, उन से भिन्न है ॥

इन्द्रियचैतन्यवादियों के मत का खण्डन करके, अब देहात्मवादियों का खण्डन करते हैं:-

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥ (२०३)

उ०-शरीर को जलाने में पाप न होने से (आत्मा शरीर से पृथक् है) ॥

यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं है तो मृत शरीर को जलाने में पाप होना चाहिये, परन्तु पाप सजीव शरीर को जलाने में होता है न कि मृत शरीर को। यदि कहो कि देहात्मवादी पाप पुण्य को नहीं मानते तो देह की रक्षा और विनाश से लाभ हानि तो मानते हैं, बस उस देह (उन की दृष्टि में आत्मा) के नाश होने से जो हानि होगी, वही पाप है। इस लिये देह से भिन्न आत्मा अवश्य मानना चाहिये ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥५॥ (२०४)

पू०-उस (आत्मा) के नित्य होने से सजीव शरीर के जलाने में भी पाप न होना चाहिये ॥

सजीव शरीर के जलाने में भी पाप का अभाव होना चाहिये, आत्मा के नित्य होने से क्योंकि जो देह से भिन्न आत्मा को मानते हैं, वे उस को नित्य भी मानते हैं। यथा–"न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे"। अर्थात् आत्मा न कभी उत्पन्न होता और न मरता है, न कभी उत्पन्न हुआ न होगा, न मरा न मरेगा, वह अज, नित्य, सनातन और पुराण है, शरीर के नाश होने पर उस का नाश नहीं होता। तथा आगे चल कर उसी गीता में कहा है:–" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः"॥ अर्थात् आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि नहीं जला सकता, जल गला नहीं सकते और न पवन सुखा सकता है। जब ऐसा है तो फिर आत्मा सहित शरीर के जलाने में भी कुछ पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि नित्य आत्मा की कोई हिंसा नहीं कर सकता। यदि कहो कि हिंसा होती है, तो आत्मा का नित्यत्व न रहेगा। इस प्रकार पहिले पक्ष में हिंसा निष्फल होती है और दूसरे पक्ष में उस की उपपत्ति नहीं होती॥ अब इस का समाधान करते हैं:–

न, कार्याश्रयकर्त्तृवधात् ॥ ६ ॥ (२०५)

उ०–शरीर और इन्द्रियों के उपघात होने से (पूर्वपक्ष) ठीक नहीं॥

इस सूत्र में गौतमऋषि अपना अन्तिम सिद्धान्त कहते हैं। हम नित्य आत्मा के वध को हिंसा नहीं कहते किन्तु कार्याश्रय शरीर और विषयोपलब्धि के कारण इन्द्रियों के उपघात (जिस से आत्मा में विकलता उत्पन्न होती है) को हिंसा कहते हैं। सुख दुःख रूप कार्य हैं, उन का संवेदन शरीर के द्वारा किया जाता है, इस लिये वह कार्याश्रय कहाता है और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण किया जाता है, इस लिये उन में कर्तृत्व का व्यपदेश किया है। तो बस शरीर और इन्द्रियों के प्रबन्ध का जो उच्छेद करना है, इसी का नाम हिंसा है, इस लिये हमारे मत में उक्त दोष नहीं आता॥

अब आत्मा के देहादि संघात से भिन्न होने में दूसरा हेतु देते हैं:–

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥ (२०६)

उ०— बाईं आंख से देखी हुई वस्तु का दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञान होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है)॥

पूर्वापर ज्ञान के मेल को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसे-यह वही यज्ञदत्त है जिस को मैंने वाराणसी में देखा था। बाईं आंख से देखी हुई वस्तु की जो दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञा होती है इस से सिद्ध होता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है। यदि इन्द्रिय ही चेतन होते तो बाईं आंख से देखी हुई वस्तु को दाईं आंख कभी नहीं पहचान सकती थी, क्योंकि देवदत्त के देखे हुवे को यज्ञदत्त नहीं जान सकता॥

इस पर आक्षेप करते हैं:-

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात्॥ ८॥ (२०७)

पू० —नाक की हड्डी का आवरण होने से एक में दो का अभिमान होने से (यह कथन) युक्त नहीं है॥

वास्तव में चक्षु इन्द्रिय एक ही है, नाक की हड्डी के बीच में आजाने से लोगों को दो की भ्रान्ति हो रही है। जैसे किसी तड़ाग में पुल बान्ध देने से दो तड़ाग नहीं हो जाते, ऐसे ही एक मस्तक में नाक का व्यवधान होने से आंख दो वस्तु नहीं हो सकतीं। अतएव प्रत्यभिज्ञा कैसी?

अब इस आक्षेप का समाधान करते हैं:-

एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम्॥ ९॥ (२०८)

उ०-एक के नाश होने पर दूसरी का नाश न होने से एकता नहीं हो सकती।

यदि चक्षु इन्द्रिय एक ही होता तो एक आंख के नष्ट होने पर दूसरी भी नहीं रहती, परन्तु यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि एक आंख के फूट जाने पर दूसरी शेष रहती है और उस से आंख का काम लिया जाता है। इस लिये चक्षु एक नहीं॥ पुनः पूर्वपक्षी इस पर आक्षेप करता है:—

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः॥ १०॥ (२०९)

पू०—अवयव का नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि होने से (उक्त हेतु) अहेतु है॥

उक्त हेतु ठीक नहीं है क्योंकि अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि देखने में आती है। जैसे-वृक्ष की किन्हीं शाखाओं के कट जाने पर भी वृक्ष की उपलब्धि होती है, ऐसे ही अवयव रूप एक चक्षु के विनाश होने पर भी दूसरे चक्षु में अवयवी की उपलब्धि शेष रहती है। इस लिये चक्षुर्द्वैत मानना ठीक नहीं॥

अब सिद्धान्तसूत्र के द्वारा समाधान करते हैं:—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥ (२१०)

उ०—दृष्टान्त के विरोध से निषेध नहीं हो सकता ॥

दृष्टान्त के विरोध से चक्षुद्वैत का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे शाखायें वृक्ष रूप अवयवी का अवयव हैं, तद्वत् एक चक्षु दूसरे चक्षु का अवयव नहीं अर्थात् वे दोनों ही अवयव हैं। अवयवी उन का कोई और है। अतः दृष्टान्त में विरोध आने से निषेध युक्त नहीं। अथवा दृश्यमान अर्थ के विरोध को दृष्टान्तविरोध कहते हैं। मृत मनुष्य के कपाल में नासास्थि का व्यवधान होने पर भी दो छिद्र भिन्न २ रूप से स्पष्ट दीख पड़ते हैं। यों तो हृदय का व्यवधान होने से दोनों हाथों को भी कोई एक कह सकता है,परन्तु यह दृश्यमान अर्थ का साक्षाद्विरोध है इस लिये चक्षुरैक्य ठीक नहीं और जब चक्षु दो सिद्ध होगये, तब एक के देखे हुवे अर्थ की दूसरे को प्रत्यभिज्ञा होना यह सिद्ध करता है कि उस प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता इन्द्रियों से भिन्न कोई और ही पदार्थ है और वही चेतन आत्मा है ॥ फिर उसी की पुष्टि करते हैं:—

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥ (२११)

उ०—(किसी इन्द्रिय से उस के विषय को ग्रहण करने पर) अन्य इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है) ॥

किसी अम्लद्रव्य को चक्षु से देखने अथवा घ्राण से उस का गन्ध ग्रहण करने पर रसना में विकार उत्पन्न होता है, अर्थात् मुंह में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियों को ही चेतन माना जावे तो यह बात हो नहीं सकती कि अन्य के देखे को कोई और स्मरण करे। इस लिये इन्द्रियों से पृथक् कोई आत्मा है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥ (२१२)

पू०—स्मृति के स्मर्त्तव्यविषयिणी होने से (पृथक् आत्मा के मानने की कोई आवश्यकता) नहीं ॥

स्मरण योग्य विषयों का अनुभव करना स्मृति का धर्म है, वह स्मृति स्मर्त्तव्य विषयों के योग से उत्पन्न होती है, उसी से इन्द्रियान्तरविकार उत्पन्न होते हैं। जिस मनुष्य ने एक बार नीबू के रस को चाखा है, दूसरी

वार उस को स्मरण करने से उस के मुंह में पानी भर आता है, सो यह स्मृति का धर्म है, न कि आत्मा का ॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ (२१३)

उ०—उस के आत्मगुण होने से (आत्मा का) निषेध नहीं हो सकता ॥

स्मृति कोई द्रव्य नहीं है, किन्तु वह आत्मा का एक गुण है, इस लिये उक्त आक्षेप युक्त नहीं है। जब स्मृति आत्मा का गुण है तभी तौ अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं होता। यदि इन्द्रियों को चेतन मानोगे तौ अनेक कर्त्ता होने से विषयों का प्रतिसन्धान न होसकेगा, जिस से विषयों की कोई व्यवस्था न रहेगी अर्थात् कोई देखेगा और कोई स्मरण करेगा और यह हो नहीं सकता। यह व्यवस्था तौ तभी ठीक रह सकती है जब कि अनेक अर्थों का एक द्रष्टा भिन्न २ निमित्तों के योग से पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण करता हुवा इन्द्रियान्तर विकारों को उत्पन्न करता है,ऐसा माना जायगा। क्योंकि अनेक विषयों के द्रष्टा को ही दर्शन के प्रतिसन्धान से स्मृति का होना सिद्ध हो सकता है, अन्यथा बिना आधार के स्मृति किस में रहे ? इस के अतिरिक्त " मैं स्मरण करता हूं " यह प्रत्यय (जो विना किसी भेद के प्रत्येक मनुष्य को होता है) भी स्मृति का आत्मगुण होना सिद्ध करता है ॥

पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥ (२१४)

उ०–स्मृतिविषय का परिगणन न करने से भी (यह शङ्का उत्पन्न हुई है) ॥

स्मृतिविषय के विस्तार और तत्व पर ध्यान न देकर प्रतिवादी ने यह आक्षेप किया है कि "स्मर्त्तव्य विषयों को स्मरण करना स्मृति का काम है " वास्तव में स्मृति का विषय बड़ा लम्बा और गहरा है। " मैंने इस अर्थ को जाना, मुझ से यह अर्थ जाना गया, इस विषय में मुझ से जाना गया, इस विषय का मुझ को ज्ञान हुवा, यह जो चार प्रकार का परोक्षज्ञान है, यही स्मृतिका मूल है, इस में सर्वत्र ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों की उपलब्धि होती है। अब प्रत्यक्ष अर्थ में जो स्मृति होती है, उस से तीन प्रकार के ज्ञान एक ही अर्थ में उत्पन्न होते हैं। उदाहरण " जिस को मैंने पहिले देखा था, उसी को अब देख रहा हूं " इस में दर्शन, ज्ञान और प्रत्यय ये तीनों संयुक्त हैं। सो यह एक अर्थ तीन प्रकार के ज्ञानों

से युक्त हुआ न तो अकर्तृक है और न नानाकर्तृक किन्तु एककर्तृक है, क्योंकि एक ही सब विषयों का ज्ञाता अपने सम्पूर्ण ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। "इस अर्थ को जानूंगा, इस को जानता हूं, इसे जाना और अमुक अर्थ की जिज्ञासा करते हुवे बहुत काल तक न जानकर फिर मैंने जाना इत्यादि ज्ञानों का निश्चय करता है। यदि इस को केवल संस्कारों का फैलाव मात्र ही माना जाय तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रथम तो संस्कार उत्पन्न होकर विलीन होजाते हैं, इस के अतिरिक्त कोई संस्कार ऐसा नहीं है जो तीनों काल के ज्ञान और स्मृति का अनुभव कर सके। बिना अनुभव के "मैं और मेरा" यह ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। इस से अनुमान किया जाता है कि एक सब विषयों का ज्ञाता प्रत्येक देह में अपने ज्ञान और स्मृति के प्रबन्ध को फैलाता है, देहान्तर में उस की प्राप्ति न होने से उस के ज्ञान और स्मृति का प्रतिसन्धान हो नहीं सकता॥

पुनः शङ्का करते हैं:-

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्॥ १६॥ (२१५)

पू०—आत्मसाधक हेतुओं के मनमें सम्भव होने से (कोई और आत्मा) नहीं है॥

देहादि संघात के व्यतिरिक्त और कोई आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा के साधक जितने हेतु दिये गये हैं वे सब मन में घट जाते हैं, अर्थात् दर्शन और स्पर्शन आदि से मन ही एक अर्थ का ग्रहण करता है, क्योंकि मन सर्वविषयी है। इस लिये मन के अतिरिक्त और किसी आत्मा के मानने की आवश्यकता नहीं है॥ उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं:-

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्॥ १७॥ (२१६)

उ०—ज्ञाता के ज्ञानसाधन की उपपत्ति होने से केवल संज्ञा का भेद है॥

जैसे ज्ञाता के लिये कोई ज्ञानसाधन होते हैं, जिन से वह ज्ञान की उपलब्धि करता है। जैसे-आंख से देखता है, नाक से सूंघता है, त्वचा से स्पर्श करता है। ऐसे ही मन्ता के लिये मतिसाधन भी (जिन से वह मनन करता है) होने चाहियें। ऐसा होने पर ज्ञाता की आत्मसंज्ञा न मानकर मनःसंज्ञा मानते हो और मन को मन न कहकर मतिसाधन कहते हो तो यह केवल संज्ञाभेदमात्र है, अर्थ में कुछ भी विवाद नहीं। तात्पर्य इस

का यह है कि मनन करने से आत्मा को संज्ञामात्र चाहे मन कहलो, परन्तु वास्तव में ज्ञातृत्व धर्म मन का नहीं हो सकता। यदि उस में ज्ञातृत्व धर्म भी माना जावे तो फिर मनन करने के लिये करणान्तर की कल्पना करनी पड़ेगी। क्योंकि बिना करण के कर्त्ता कोई क्रिया नहीं कर सकता॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

नियमश्च निरनुमानः॥ १८॥ (२१७)

उ०-नियम भी अनुमान (युक्ति) शून्य है॥

प्रतिवादी ने यह जो नियम किया है कि रूपादि के ग्रहणसाधन चक्षुरादि इन्द्रिय तो हैं, परन्तु सुख दुःख के अनुभव तथा मनन करने का कोई साधन नहीं है। यह नियम युक्तिशून्य है, क्योंकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि रूपादि विषयों से सुख दुःख पृथक् हैं, इस लिये उन के ज्ञान का साधन भी नेत्र आदि इन्द्रियों से भिन्न अवश्य कोई मानना पड़ेगा। जैसे आंख से गन्ध का ज्ञान नहीं होता, उस के लिये दूसरा इन्द्रिय घ्राण मानागया, इसी प्रकार चक्षु और घ्राण दोनों से रस का ग्रहण नहीं होता, तब उस के लिये तीसरा इन्द्रिय रसना मानना ही पड़ा, ऐसे ही शेष इन्द्रियों के विषय में समझ लीजिये। इसी प्रकार आंख आदि इन्द्रियों से सुखादि का ग्रहण नहीं होता, अतः उन के ग्रहण करने के लिये भी कोई इन्द्रिय अवश्य मानना पड़ेगा और वह मन है, जिस में एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति हो नहीं सकती अर्थात् जब जिस इन्द्रिय के साथ उस का संयोग होता है तभी तद्विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है और संयोग न होने पर इन्द्रिय के अविकल और समर्थ होने पर भी ज्ञान नहीं होता। इस लिये पूर्व आत्मसिद्धि के लिये जो हेतु दिये गये हैं, वे मन में कदापि नहीं घट सकते॥

अब यह बात विचारणीय है कि देहादि संघात से भिन्न जो आत्मा सिद्ध हुवा है, वह नित्य है अथवा अनित्य? विद्यमान वस्तु नित्य वा अनित्य भेद से दो ही प्रकार का होता है। आत्मा की सत्ता सिद्ध होने पर भी वह नित्य है अथवा अनित्य? यह सन्देह अवशिष्ट रहता है। देह से पृथक् होने से पहिले तो आत्मा की स्थिति, जिन हेतुओं से उसे सिद्ध किया उन्हीं से सिद्ध हो गई। अब देह के नष्ट होने पर भी आत्मा विद्यमान रहता है, इस पक्ष को सिद्ध करते हैं:—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥ १९ ॥ (२१८)

उ०-पहिले अभ्यास की हुई स्मृति के लगाव से उत्पन्न हुवे को हर्ष, भय, शोक की प्राप्ति होने से (आत्मा नित्य है)॥

तत्काल जन्मा बालक (जिस ने इस जन्म में हर्ष, भय और शोक आदि के हेतुओं का अनुभव नहीं किया है) हर्ष, भय और शोक आदि से युक्त देखा जाता है और वे हर्षादि पूर्वजन्म में अभ्यास की हुई स्मृति के अनुबन्ध से ही उत्पन्न होते हैं, क्योंकि विना पूर्वाभ्यास के स्मृति का अनुबन्ध हो नहीं सकता और पूर्वाभ्यास विना पूर्वजन्म के नहीं हो सकता। अतएव इस से सिद्ध है कि यह आत्मा इस शरीर के नष्ट होने पर भी शेष रहता है, अन्यथा सद्योजात बालक में हर्षादि की प्रतिपत्ति असंभव है। इस से आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

पद्मादिषु प्रबोधसंमीलनविकारवत्तद्विकारः ॥ २० ॥ (२१९)

पू०-पद्मादि में जैसे प्रबोध और संमीलन आदि विकार होते हैं, तद्वत् इस में भी हर्ष, शोक आदि विकार मानने चाहियें ॥

जैसे कमल आदि अनित्य पदार्थों में खिलना और बन्द होना आदि विकार होते हैं, ऐसे ही अनित्य आत्मा में भी हर्ष, भय और शोक आदि विकार स्वाभाविक हो सकते हैं। इस दशा में पूर्वजन्म के मानने की क्या आवश्यकता है ? अतएव आत्मा अनित्य है ॥ अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥ २१ ॥ (२२०)

उ०-पञ्चात्मक विकारों के उष्ण शीत और वर्षाकाल नैमित्तिक होने से (पूर्वपक्ष ठीक) नहीं ॥

पञ्चभूतों के विकार कमल आदि का खिलना और बन्द होना भी विना निमित्त के नहीं है। गर्मी, शीत और वर्षा इन मौसमों के कारण से ही पद्मादिकों में प्रबोध और सम्मीलन आदि विकार उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार सद्योजात बालक के हर्षादि का निमित्त पूर्वाभ्यस्त स्मृति का संस्कार है। जैसे विना गर्मी आदि निमित्त के कमल का खिलना

और मन्द होना आदि विकार नहीं होसकते, ऐसे ही विना पिछले संस्कार रूप निमित्त के तत्काल जन्मे बालक को हर्ष भय आदि विकारों का होना असंभव है, अतः आत्मा नित्य है ॥ इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:-

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ २२ ॥ (२२१)

उ०-मर कर पूर्वाभ्यासकृत दूध का अभिलाष होने से आत्मा नित्य है।

मरकर जब प्राणी जन्म लेता है, तब उसी समय विना किसी की शिक्षा वा प्रेरणा के स्वयं दूध पीने लगता है, यह बात विना पूर्वकृत भोजनाभ्यास के हो नहीं सकती, क्योंकि इस जन्म में तो अभी उस ने भोजन का अभ्यास किया ही नहीं, फिर उस की प्रवृत्ति उस में क्योंकर हुई ? हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि क्षुधा से पीड़ित बालकादि पूर्वकृत आहाराभ्यास के संस्कारों से प्रेरित होकर दुग्धपानादि भोजन करने में प्रवृत्त होते हैं। विना पूर्वजन्म को माने जातमात्र की भोजन में प्रवृत्ति हो नहीं सकती, इस से अनुमान होता है कि इस शरीर से पहिले भी शरीर था, जिस में इस ने भोजन का अभ्यास किया था। जब उस शरीर को छोड़ कर यह दूसरे शरीर में आया, तब क्षुधा से पीड़ित होकर पूर्वजन्माभ्यस्त आहार को स्मरण करता हुवा दूध की इच्छा करता है। अतएव देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता ॥

इस पर भी शङ्का करते हैं:-

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥ २३ ॥ (२२२)

पू०—लोहे का चुम्बक के प्रति जैसे अभिगमन होता है, तद्वत् उस का भी उपसर्पण हो सकता है ॥

जैसे लोहा अभ्यास के विना ही चुम्बक की ओर जाता है, इसी प्रकार बालक भी आहाराभ्यास के विना ही दूध की इच्छा करता है। इस लिये यह हेतु कि विना पूर्वाभ्यास के भोजन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ठीक नहीं ॥

अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:-

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २४ ॥ (२२३)

उ०-अन्यत्र प्रवृत्ति न होने से (उक्त हेतु) ठीक नहीं ॥

लोहे और चुम्बक का जो दृष्टान्त दिया गया है वह ठीक नहीं क्योंकि

लोहे का चुम्बक के पास जाना किसी निमित्त से है । यदि इस में कोई निमित्त न होता तो लोष्ट आदि भी चुम्बक के पास सरक जाते या लोहा चुम्बक के सिवाय लोष्टादिक के समीप भी आकर्षित होजाता । यह नियम क्यों है कि चुम्बक लोहे को ही अपने पास खींचता है और किसी को नहीं और लोहा भी चुम्बक के ही पास जाता है और किसी के नहीं ? यह नियम ही इन के उस विशेष सम्बन्ध रूप निमित्त की (जो होने वाली क्रिया का लिङ्ग वा हेतु है) सूचना करता है । बस जैसे लोहे का चुम्बक के प्रति उपसर्पण अकारण नहीं है, ऐसे ही बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति भी निष्कारण नहीं है । अब रही यह बात कि वह कारण क्या है ? हमें प्रत्यक्ष दीखते हैं कि जीवों की भोजन में प्रवृत्ति पूर्वकृत आहार के अभ्यास की स्मृति से होती है तो फिर हम इस दृष्ट कारण को छोड़ कर अदृष्ट की कल्पना क्यों करें ? इस लिये आत्मा का नित्य होना सिद्ध है ॥

पुनः इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:—

वीतरागजन्माऽदर्शनात् ॥ २५ ॥ (२२४)

उ०-वीतराग (विरक्त पुरुष) का जन्म न दीखने से (आत्मा नित्य है) ।

आत्मा के नित्यत्व में दूसरा हेतु यह भी है कि राग (सांसारिक पदार्थों के मोह) में फंसा हुआ प्राणी जन्म लेता है और पूर्वानुभूत विषयों का अनुचिन्तन करना ही राग का कारण है, सो यह अनुचिन्तन दूसरे जन्म में बिना शरीर धारण किये हो नहीं सकता । यह आत्मा पूर्व शरीर में अनुभव किये विषयों का स्मरण करता हुआ उन में रक्त होता है, यही दोनों जन्मों की सन्धि है अर्थात् पूर्वजन्म का पूर्वतर जन्म से और पूर्वतर जन्म का पूर्वतम जन्म से सम्बन्ध होता है । इस प्रकार चेतन आत्मा का शरीर के साथ अनादि सम्बन्ध है जो कि राग की परम्परा को भी (जिस में अनुबद्ध हुआ प्राणी जन्म लेता है) अनादि सिद्ध करता है । अतएव आत्मा नित्य है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥ (२२५)

पू०-सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के तुल्य उस की उत्पत्ति भी (हो जायगी) जैसे उत्पत्तिधर्मक घटादि द्रव्यों के रूपादि गुण द्रव्योत्पत्ति के साथही

स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे ही उत्पत्ति धर्म वाले आत्मा में राग भी स्वयं उत्पन्न हो जायगा। अतएव जब राग ही उत्पत्ति से पहिले नहीं था, तब उस पर बनने वाली पूर्वजन्म की भित्ति कहां रह सकती है और जब पूर्वजन्म नहीं तौ आत्मा अवश्यमेव अनित्य है ॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥ (२२६)

उ०-रागादिकों के सङ्कल्पमूलक होने से (उन की उत्पत्ति) नहीं (हो सकती) ॥

सगुणद्रव्य की उत्पत्ति के समान आत्मा की वा राग की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि रागादि सङ्कल्पमूलक हैं। विषयों का सेवन करते हुवे प्राणी जब पूर्वानुभूत विषयों का चिन्तनरूप सङ्कल्प करते हैं, तब राग उत्पन्न होता है। इस से सिद्ध होता है कि उत्पन्न हुवे बालक में भी राग (इच्छा) पूर्वजन्मानुभूत विषयों के स्मरण से उत्पन्न होता है। यदि आत्मोत्पत्ति के कारण से राग की उत्पत्ति होती तौ सङ्कल्प से भिन्न राग का कारण होता, परन्तु कार्यद्रव्य के समान न तौ आत्मा की उत्पत्ति हो सकती है, क्योंकि वह अप्राकृत है और न सङ्कल्प से भिन्न कोई और राग का कारण ही है। इस लिये सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान इन की भी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं। यदि सङ्कल्प से अन्य धर्माधर्म लक्षणरूप राग का कारण मानोगे तौ भी आत्मा का पूर्व शरीर से संयोग मानना ही पड़ेगा, अन्यथा विना शरीर के धर्माधर्म की स्थिति हो ही नहीं सकती। अतएव आत्मा नित्य है ॥

यह कहा जा चुका है कि चेतन आत्मा का शरीर के साथ संयोग अनादि है और अपने किये शुभाऽशुभ कर्मानुसार आत्मा को यह शरीर (जो सुख दुःख का अधिष्ठान है) मिलता है। अब उस शरीर की परीक्षा की जाती है कि वह प्राणादि के समान एकप्रकृति है अथवा नानाप्रकृति ?

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥ (२२७)

उ०-(मनुष्य का शरीर) पार्थिव है, गुणान्तर की उपलब्धि होने से।

पृथिवी के विकार को पार्थिव कहते हैं, पृथिवी के गुण गन्ध काठिन्यादि की उपलब्धि शरीर में भी होती है। यद्यपि केवल पृथिवी से ही नहीं,

किन्तु पञ्चभूतों के संयोग से शरीर बनता है, तथापि जलादि अन्य भूत इस के निमित्त कारण हो सकते हैं, उपादान नहीं। क्योंकि पृथिवी के परमाणुओं में उन का संयोग होने से शरीर बनता है। जल, तेज और वायु सम्बन्धी शरीर अन्य लोकों में होंगे, परन्तु उन में भी अन्य भूतों का संयोग अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि अस्मदादि के शरीर यद्यपि पञ्चभूतों के संयोग से बने हैं, तथापि पृथिवी के परमाणुओं का विशेष सम्बन्ध होने से पार्थिवप्रधान हैं॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २९ ॥ (२२८)

सू०–श्रुति के प्रमाण से भी (अस्मदादि के शरीर पार्थिव हैं)॥

"सूर्यन्ते चक्षुर्गच्छतात्" इस श्रुति में "पृथिवीं ते शरीरम्" कहा गया है। मृत शरीर के प्रति यह उक्ति है अर्थात् तेरी आंख सूर्य में जावे और तेरा शरीर पृथिवी में मिल जावे, इत्यादि। अतएव "नाशः कारणलयः" इस सांख्य मत के अनुसार कार्य का अपने कारण में लीन हो जाना ही नाश कहाता है। इस श्रुति के प्रमाण से सिद्ध है कि शरीररूप कार्य का उपादान कारण पृथिवी है, तभी तो उस के नाश होने पर उस का पृथिवी में मिलना बन सकता है। यह श्रुति या तो किसी शाखान्तर की है, या (सूर्यं चक्षुर्गच्छतु०) ऋग्वेदमन्त्र में पाठान्तर हो गया है॥

आत्मा और शरीर की परीक्षा हो चुकी, अब क्रमप्राप्त इन्द्रियों की परीक्षा की जाती है। प्रथम इस का विचार किया जाता है कि इन्द्रिय भौतिक हैं, अथवा अभौतिक?

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः॥ ॥ ३० ॥ (२२९)

पू०–आंख की पुतली होने पर तथा उस से पृथक् होने पर (रूप की) उपलब्धि होने से संशय होता है॥

आंख की पुतली भौतिक है, उस के स्वस्थ होने पर रूप की उपलब्धि होती है और नष्ट होने पर नहीं होती, इस लिये ये भौतिक गोलक ही इन्द्रिय हैं, एक पक्ष तो यह हुआ, दूसरा यह है कि आंख की पुतली का विषय से जब कुछ अन्तर (फासला) होगा तभी उस का उपलम्भ (ग्रहण) हो सकेगा और यदि कोई वस्तु आंख की पुतली से मिलादी जाय तो कदापि

उस का ग्रहण न होसकेगा । बस अप्राप्त और दूर की वस्तु को ग्रहण करना भौतिक पदार्थ का धर्म नहीं हो सकता, इस लिये इन्द्रिय अभौतिक हैं । अब इस संशय का आंशिक समाधान करते हैं:—

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥ (२३०)

उ०-छोटे (और) बड़े (पदार्थों को) ग्रहण करने से इन्द्रिय अभौतिक हैं ॥

इन्द्रिय भौतिक नहीं हैं, इस लिये कि उन से बड़े से बड़े और छोटे से छोटे पदार्थों का भी ग्रहण होता है । आंख जिस प्रकार वृक्ष और पर्वत जैसे बड़े पदार्थों को देख सकती है उसी प्रकार राई के दाने जैसे छोटे पदार्थों को भी देखती है, भौतिक पदार्थ में यह बात नहीं होसकती, क्योंकि वह अपने से अधिक परिमाण वाले द्रव्यों में व्यापक नहीं हो सकता। यह बात केवल अभौतिक पदार्थ में ही हो सकती है कि वह छोटे, बड़े सब पदार्थों में व्याप्त हो सकता है, अतएव छोटे, बड़े सब पदार्थों को ग्रहण करने से इन्द्रिय अभौतिक हैं ॥

अब उक्त समाधान का प्रतिवाद करते हैं:—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात् तद्ग्रहणम् ॥ ३२ ॥ (२३१)

(आंख की) रश्मि और अर्थ के संयोग विशेष से उन का ग्रहण होता है॥

छोटे और बड़े पदार्थों के ग्रहण होने का कारण आंख की ज्योति और पदार्थ का संयोग विशेष है । भौतिक दीपक भी अपनी ज्योति से छोटे और बड़े पदार्थों को प्रकाशित करता है, फिर यदि भौतिक आंख भी ऐसा करे तो आश्चर्य ही क्या है ? यदि आंख अभौतिक होती तो आगे पीछे के सब पदार्थों को देख सकती थी, भित्ति का आवरण भी उस की दर्शनशक्ति को नहीं रोक सकता था । इस से सिद्ध है कि इन्द्रिय भौतिक हैं ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३३ ॥ (२३२)

उस की उपलब्धि न होने से (यह हेतु) अहेतु है ॥

पूर्व सूत्र में जो हेतु दिया था कि आंख की ज्योति और पदार्थ के संयोग विशेष से ऐसा होता है, उस पर यह आक्षेप करते हैं कि आंख की ज्योति कल्पित है, यदि वास्तविक होती तो उसकी उपलब्धि अवश्य होती जैसी कि दीपक की ज्योति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। इस से सिद्ध है कि गोलक के अतिरिक्त आंख में और कोई ज्योति नहीं ॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

मानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतु: ॥३४॥ (२३३)

उ०-अनुमान से सिद्ध होने वाले (पदार्थ) की (यदि) प्रत्यक्ष से उपलब्धि न भी हो तो भी वह उस के अभाव का हेतु नहीं है ॥

संयोग के निवारक आवरण रूप लिङ्ग से जिस का अनुमान किया जाता है, ऐसी आंख की ज्योति का प्रत्यक्ष से ग्रहण न किया जाना उस के अभाव का प्रतिपादक नहीं है। जैसे चन्द्रमा का पिछला भाग और पृथिवी का नीचे का भाग जब अनुमान से सिद्ध है तो उस का हम को प्रत्यक्ष न दीखना उस के अभाव को सिद्ध नहीं करता। निदान आंख की ज्योति का होना अनुमान से सिद्ध है इस लिये उस का प्रत्यक्ष न दीखना उस के अभाव को सिद्ध नहीं करता ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३५ ॥ (२३४)

उ०-द्रव्य और गुण के धर्मभेद से उपलब्धि का नियम है ॥

बहुत से द्रव्य ऐसे हैं कि जिन की प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती, किन्तु वे अपने गुणों से ग्रहण किये जाते हैं। जैसे जल के सूक्ष्म परमाणु जो आकाश में व्यापक रहते हैं, उन को आंख से कोई देख नहीं सकता परन्तु शीतस्पर्श उन का अनुभव कराता है जिस से कि हेमन्त और शिशिर ऋतु उत्पन्न होते हैं। ऐसे ही अग्नि के सूक्ष्म परमाणु भी जो आकाश में जाकर फैलते हैं, आंख से नहीं दीखते, पर उष्णस्पर्श से ग्रहण किये जाते हैं, जिस के कारण ग्रीष्म और वसन्त ऋतु का प्रादुर्भाव होता है। अतएव द्रव्यमात्र में ही उपलब्धि का नियम नहीं है, किन्तु कहीं २ उस के गुण से भी यह सम्बन्ध रखता है ॥ फिर उसी की पुष्टि करते हैं:-

अनेकद्रव्यसमवायाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥३६॥ (२३५)

उ०-अनेक द्रव्यों के समवाय और रूपविशेष से रूप की उपलब्धि होती है।

जहां रूप और उस के आश्रय द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, उस को रूप विशेष कहते हैं, जिस के होने से कहीं रूप का ज्ञान होता है और न होने से कहीं द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। यह रूप का धर्म उद्भूत नाम से प्रख्यात है, आंख की ज्योति में उद्भूतत्व धर्म नहीं है, इसी लिये उस का प्रत्यक्ष नहीं होता। तेज में उद्भूत रूप और स्पर्श ये दोनों देखे जाते हैं, जैसे कि

सूर्य की किरणें, आंख से उनका उद्भूतरूप होना और त्वचा से उद्भूतस्पर्श होना प्रत्यक्ष है। किसी २ में रूप का उद्भव और स्पर्श का अनुद्भव देखा जाता है जैसी कि मन्द दीप की किरणें। आंख से दीप के प्रकाश को देखते हैं परन्तु त्वचा से उष्णस्पर्श का अनुभव दूर से नहीं होता। उद्भूत रूप होने से यह भी प्रत्यक्ष कहलाता है। कोई २ पदार्थ उद्भूत स्पर्श और अनुद्भूत रूप होते हैं जैसा कि उष्ण जल, जिस में उष्णता का अनुभव तो होता है, परन्तु उस का रूप नहीं दीखता, इस लिये यह अनुद्भूत रूप है। ऐसे ही कोई २ पदार्थ ऐसे भी होते हैं कि जिन में रूप और स्पर्श दोनों अनुद्भूत होते हैं, जैसी कि आंख की ज्योति। फिर उस की उपलब्धि क्योंकर हो सकती है?

आंख की ज्योति भी सूर्य और दीप के समान उद्भूत रूप ही क्यों न बनाई गई? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं:—

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥३७॥ (२३६)

उ०–इन्द्रियों की रचना कर्मकारित पुरुषार्थ के आधीन है।

जैसे चेतन आत्मा का काम सुख दुःख आदि विषयों की उपलब्धि करना है, ऐसे ही इन्द्रियों का काम आत्मा को उक्त विषयों की उपलब्धि कराना है। जब जीवात्मा सुख दुःखादि के उपभोग में स्वकृत पूर्व कर्मों के आधीन है, तब इन्द्रियगण और उस की रचनाविशेष कर्मचक्र का अतिक्रमण कैसे कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों की बनावट जीवात्मा को कर्मानुसार सुख दुःख आदि विषयों की उपलब्धि कराने के लिये है, न कि स्वयं उद्भूत रूप और स्पर्श होने के लिये। इसी विषय में और भी उपपत्ति देते हैं:–

अव्यभिचाराच्च प्रतीघातो भौतिकधर्मः ॥ ३८ ॥ (२३७)

उ०—व्यभिचार न होने से प्रतीघात (रुकावट) भूतों का धर्म है ॥

जो किसी आवरण के होने से इन्द्रिय की द्रव्य में रुकावट होती है, वह भौतिक धर्म है, उस से भूतों में व्यभिचार नहीं होता क्योंकि अभौतिक पदार्थ के लिये कहीं कोई रुकावट नहीं हो सकती। यदि कहो कि आवरण की रुकावट होने से इन्द्रिय भौतिक हैं, तो कहीं पर रुकावट न होने से उन को अभौतिक भी मानना पड़ेगा, जैसे काच और बिल्लौर आदि का आवरण होते हुवे भी दीप रश्मि रुक नहीं जाती, बटलोई में तली की आड़ होते हुवे भी अग्नि की उष्णता से वस्तु पक जाती है ॥

अनुपलब्धि का और भी कारण है :-

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥३९॥(२३८)

उ०-मध्याह्न में उल्काप्रकाश की अनुपलब्धि के समान उस की अनुपलब्धि (समझनी चाहिये) ॥

उपलब्धिकारणों के होते हुवे भी दिन में सूर्य के प्रकाश से दबे हुवे तारे नहीं दीखते तद्वत् दर्शनसाधनों के रहते हुवे भी किसी अन्य निमित्त से नेत्र की रश्मि का प्रत्यक्ष नहीं होता और वह निमित्त बतलाचुके हैं अर्थात् जो पदार्थ अनुद्भूतरूप स्पर्श धर्म वाला है, उसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि नहीं होती॥

अत्यन्त अनुपलब्धि से तो अभाव समझा जाता है, अन्यथा कोई कह सकता है कि मट्टी के ढेले में भी प्रकाश है और वह सूर्य के प्रकाश से तिरोहित हुवा नहीं दीख पड़ता । इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं:-

न, रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥ (२३९)

उ०-रात को भी न दीखने से (उक्त कथन ठीक) नहीं है ॥

यदि ढेले में प्रकाश होता तो रात को तो दीख पड़ता, बस रात को भी न दीखने से ढेले में प्रकाश का अत्यन्ताऽभाव है ॥

अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि अनुद्भूतरूप होने से आंख की किरण का प्रत्यक्ष नहीं होता अथवा किसी अन्य पदार्थ से अभिभूत होने से, जैसे कि तारे सूर्य के प्रकाश से अभिभूत होकर नहीं दीखते ? इस के उत्तर में कहते हैं कि :—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद्विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४१ ॥ (२४०)

उ०-बाह्यप्रकाश की सहायता से विषयोपलब्धि (होती) है । अतः अनुद्भूतरूप होने से उपलब्धि नहीं होती ॥

अनुद्भूतरूप होने से आंख की ज्योति नहीं दीखती, क्योंकि सूर्यादि के प्रकाश की सहायता से आंख देखने में समर्थ होती है, यदि वह नक्षत्रादि के समान उद्भूतरूप होती तो बाह्यप्रकाश की अपेक्षा न रखती और यदि किसी से अभिभूत हुवा करती तो फिर सूर्यादि के प्रकाश में देखना नहीं बन सकता था, अतएव केवल अनुद्भूतरूप होने से ही आंख की रश्मि का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥ पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:—

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४२ ॥ (२४१)

उ०-उद्भूतरूप होने पर और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा न रखने पर अभिभव (तिरस्कार) होने से (नेत्र रश्मिवान् है) ॥

जो रूप अभिव्यक्त (उद्भूत) होता है और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता उस का अभिभव देखने में आता है। जैसे कि नक्षत्र और दीपादि। इस के विपरीत जो पदार्थ अनभिव्यक्तरश्मि है और बाह्यप्रकाश की अपेक्षा भी रखता है, जैसी कि दूरबीन, उस का अभिभव नहीं होता। इसी प्रकार अनुद्भूतरूप होने से आंख की ज्योति का प्रत्यक्ष नहीं होता ॥

अब इसी विषय में दूसरा हेतु देते हैं :-

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४३ ॥ (२४२)

उ०-रात्रिचरों की नेत्र ज्योति देखने से भी (आंख में किरण हैं) ॥

रात में विचरने वाले मार्जार आदि जन्तुओं की नेत्रज्योति अन्धेरी में स्पष्ट दीख पड़ती है अन्यथा अन्धेरे में उन को देख न पड़ता। इस से शेष जन्तुओं में भी अनुमान करना चाहिये ॥

इन्द्रिय और अर्थ के संयोग को उपलब्धि का कारण कहा था, अब उस पर शङ्का करते हैं :-

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥

॥ ४४ ॥ (२४३)

पू०-(इन्द्रियों में विषयों को) प्राप्त न होकर (भी) ग्रहण (करने की शक्ति है) काच, जल और स्फटिक का व्यवधान होने पर (भी) वस्तु की उपलब्धि होने से ॥

पानी, काच और बिल्लौर का आवरण होते हुवे भी पदार्थ वैसे ही दीखते हैं, जैसे कि विना आवरण के। व्यवधान के होने पर संयोग नहीं रहता, यदि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही उपलब्धि का कारण होता तो व्यवधान होने पर कदापि वस्तु का ज्ञान न होना चाहिये था, परन्तु होता है। इस से सिद्ध है कि इन्द्रियों में अप्राप्यग्राहकत्व है, अतएव वे अभौतिक भी हैं क्योंकि केवल प्राप्त को ग्रहण करना भौतिक का धर्म है ॥

अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:-

न, कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥ (२४४)

उ०—भित्ति के आवरण में उपलब्धि न होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं (इस लिये इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही उपलब्धि का कारण है; इस का) खण्डन नहीं हो सकता ॥

यदि इन्द्रिय अप्राप्त को ग्रहण करते होते तो भित्ति (दीवार) का आवरण होने पर भी वस्तु की उपलब्धि होती और यदि इन्द्रिय प्राप्त को ही ग्रहण करते होते तो काच और बिल्लौर आदि के व्यवधान में भी उपलब्धि न होनी चाहिये थी। इस का उत्तर देते हैं:—

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४६ ॥ (२४५)

उ०—प्रतिघात न होने से संयोग की उपपत्ति (सिद्धि) है ॥

काच और स्फटिक आदि स्वच्छ होने से नेत्र की रश्मि को पदार्थ में जाने से नहीं रोकते, अतएव उन के आवरण होने पर भी संयोग का प्रतिघात (प्रतिबन्ध) नहीं होता। पुनः दृष्टान्त से इसी की पुष्टि करते हैं:—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥४७॥ (२४६)

उ०—सूर्य की किरण के (कुम्भादि में, दीप किरण के) स्फटिकादि में और (अग्नि तेज के) दाह्य वस्तु में प्रतिघात न होने से (संयोग सिद्ध है)॥

इस सूत्र में भाष्यकार ने "अविघातात्" इस हेत्वर्थक पञ्चम्यन्त पद का सूत्रस्थ प्रत्येक पद के साथ अन्वय किया है और उस के पृथक् २ ही उदाहरण भी दिये हैं। यथा—सूर्य की किरण घड़े के भीतर जाने से नहीं रुकतीं इसी कारण घड़े का जल गरम हो जाता है, संयोग होने से ही कुम्भस्थ जल में सूर्य की उष्णता का प्रभाव हो जाता है, जिस से जल का अपना गुण शैत्य दब जाता है। इसी प्रकार स्फटिकादि में दीपकिरणों का अवरोध नहीं होता, प्रत्युत काचादि का आवरण होने से दीप का प्रकाश और भी स्वच्छ हो जाता है। काचादि का आवरण होते हुवे भी प्रकाश्य और प्रकाशक का संयोग मानना पड़ता है, अन्यथा रूपोपलब्धि नहीं हो सकती। ऐसे ही बटलोई में डाली हुई वस्तु अग्नि के तेज से पक जाती है, अर्थात् तवे का व्यवधान होते हुवे भी अग्नि का दाह्य वस्तु से संयोग हो जाता है। यदि संयोग न होता तो उस का रूपान्तर क्यों होता। बस जैसे कुम्भादि सूर्य की किरण को, स्फटिकादि दीपकिरण को और स्थाल्यादि अग्नि के तेज को नहीं रोकते, ऐसे ही काचादि नेत्र की ज्योति को भी नहीं रोकते। अतएव संयोग अप्रतिहत है। अब पुनः इस पर आक्षेप करते हैं:—

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥ (२४७)

पू०-एक दूसरे के धर्म के प्रसङ्ग से (अविघात) ठीक नहीं ॥

प्रतिवादी कहता है कि तुम्हारा कहा अविघात ठीक नहीं है, क्योंकि काचादि और कुड्यादि के धर्म परस्परविरुद्ध हैं। काचादि के ही समान कुड्यादि में भी अप्रतिघात क्यों नहीं होता ? यद्वा कुड्यादि के ही तुल्य काचादि में भी प्रतिघात क्यों नहीं होता ? इस का क्या कारण है ?

अब उक्त आक्षेप का दृष्टान्त से समाधान करते हैं:-

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धि-वत्तदुपलब्धिः ॥ ४९ ॥ (२४८)

उ०-(जैसे) दर्पण और जल का स्वच्छ स्वभाव होने से रूप की उपलब्धि (होती है, वैसे ही) उस की उपलब्धि (होती है) ॥

जैसे स्वच्छस्वभाव होने से दर्पण और जल में मुखादिरूप की उपलब्धि होती है, ऐसे ही स्फटिकादि के भी स्वच्छस्वभाव होने से नेत्र की रश्मि उस के भीतर प्रवेश कर जाती है और फिर लौट आकर प्रतिबिम्ब का ग्रहण कराती है, इसलिये संयोग का प्रतिघात नहीं होता, परन्तु भित्ति आदि में मलिनस्वभाव होने से प्रतिबिम्ब को धारण करने की शक्ति नहीं है अतएव काचादि और कुड्यादि के स्वभाव में महान् अन्तर होने से पदार्थों का प्रभाव इन पर एकसा नहीं पड़ सकता ॥

प्र०-दर्पणादि के समान आंख की ज्योति को मानने में क्या प्रमाण है ?

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ५० ॥ (२४९)

उ०-देखे और अनुमान किये अथवा लिङ्ग देख कर अनुमान किये पदार्थों का नियोग और प्रतिषेध नहीं होसकता ॥

प्रमाणों से जो प्रमेयों की परीक्षा करना चाहता है, वह उन के विषय में जबतक कि उन की सिद्धि न हो जावे, नियोग (यह ऐसा ही है) और प्रतिषेध (यह ऐसा नहीं है) नहीं कहसकता, क्योंकि यह हो नहीं सकता कि रूप के समान गन्ध भी नेत्र का विषय होजावे अथवा गन्ध के तुल्य रूप भी नेत्र का विषय न हो, तथा धुवें से जैसे अग्नि का अनुमान किया जाता है वैसे ही जल का भी किया जाने लगे, यद्वा जैसे जल का अनुमान नहीं

होता वैसे ही अग्नि का भी न हो। बात यह है कि जो पदार्थ जैसे होते हैं वैसा ही उन का स्वभाव भी होता है। प्रतिवादी ने जो यह कहा था कि काचादि के समान कुड्यादि में भी रुकावट न होनी चाहिये तथा कुड्यादि के तुल्य काचादि में भी रुकावट होनी चाहिये, यह नियोग और प्रतिषेध ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की बनावट और दशा भिन्न २ है जो कि प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध होती है। भित्ति की आड़ में रक्खी हुई वस्तु आंख से नहीं दीखती, इस से भित्ति में दृष्टि का प्रतिघात होना सिद्ध है, काचादि पदार्थों में दृष्टि का अवरोध नहीं होता, इस से पदार्थों की उपलब्धि होती है। इस लिये सब पदार्थों में एकसा नियोग और प्रतिषेध नहीं हो सकता॥

इन्द्रियपरीक्षा समाप्त हुई अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि इन्द्रिय एक है अथवा अनेक?

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानात्वादवयविनाना-स्थानत्वाच्च संशयः॥ ५१॥ (२५०)

पू०—अनेक स्थानों में अनेक पदार्थों के होने से और एक पदार्थ के अनेक स्थानों में होने से संदेह (होता है)॥

बहुत से द्रव्य ऐसे हैं कि जो पृथक् २ रूप से अनेक स्थानों में देखे जाते हैं जैसे शरीर के हस्तपादादि अवयव और कहीं पर एक ही द्रव्य अनेक स्थानों में देखा जाता है जैसा कि जीवात्मा। अब यहां पर यह सन्देह होता है कि हस्तपादादि अङ्गों के समान इन्द्रिय अनेक हैं अथवा अङ्गी जीवात्मा के समान एक?

प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं कि—

त्वगव्यतिरेकात्॥ ५२॥ (२५१)

पू०—व्यतिरेक (पार्थक्य) न होने से त्वचा (ही एक इन्द्रिय है)॥

सब शरीर में व्याप्त होने से त्वचा ही एक इन्द्रिय है क्योंकि शरीर में कोई भी ऐसा इन्द्रिय नहीं है जिस में त्वचा व्यापक न हो। यदि त्वक् न हो तो फिर अन्य इन्द्रियों के होते हुवे भी किसी विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। इस लिये सब इन्द्रियों में व्यापक और विषय ग्रहण में निमित्त त्वचा ही को एक प्रधान इन्द्रिय मानना चाहिये॥

अब इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं:—

नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥ (२५२)

उ०-अन्य इन्द्रियों के अर्थों की (त्वचा से) अनुपलब्धि होने से (उक्त-पक्ष) ठीक नहीं है ॥

स्पर्शग्राहक त्वगिन्द्रिय के होते हुवे अन्य इन्द्रियों के अर्थ रूपादि अन्धादिकों से ग्रहण नहीं किये जाते। यदि प्रतिवादी के कथनानुसार त्वगिन्द्रिय से भिन्न और कोई इन्द्रिय न होता तो अन्धे मनुष्य को स्पर्श के समान रूपका भी ग्रहण होना चाहिये था, जो कि ऐसा नहीं होता, इस लिये त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है ॥

अब पुनः पूर्वपक्षी अपने कथन की पुष्टि करता है:—

त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥५४॥ (२५३)

पू०-त्वचा के अवयवविशेष से धूम की उपलब्धि के समान उस (रूप) की उपलब्धि (भी हो आयगी) ॥

जैसे त्वचा का एक भाग आंख में संयुक्त हुवा धुवें के स्पर्श को ग्रहण कराता है, वैसे ही उसका दूसरा भाग आंखसे मिला हुवा रूपादि को ग्रहण कराता है, उस रूपग्राहक भाग के उपहत होने से अन्धादिकों को रूप की उपलब्धि नहीं होती। तात्पर्य यह कि आंख में जो त्वचा का भाग है उस के विकृत होने से ही दर्शनशक्ति जाती रहती है, अतएव त्वचा ही एक इन्द्रिय है

अब इस का खण्डन करते हैं:—

आहतत्वादहेतुः ॥ ५५ ॥ (२५४)

उ०-व्याघात दोष होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

प्रतिवादी ने पहिले कहा था कि अव्यतिरेक (अपार्थक्य) होने से अर्थात् सब शरीर में व्याप्त होने से त्वचा ही एक इन्द्रिय है और अब उस के विरुद्ध यह कहना कि त्वचा के किसी भागविशेष से धूम की उपलब्धि के समान रूपादि की भी उपलब्धि हो जायगी। ये दोनों कथन पूर्वापर विरुद्ध हैं क्योंकि जब त्वचा अव्यतिरेक भाव से सारे शरीर में व्यापक है तो फिर उस के भाग कैसे ? और यदि उस के भाग हैं तो उस का अनन्यभाव से व्यापक होना कैसा ? यों तो पृथिव्यादि भूत भी इन्द्रियों में व्यापक हैं

क्योंकि उन के अभाव में विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता । बस जैसे विषयों के ग्रहण करने में पृथिव्यादि भूत इन्द्रियों के सहायक हैं, अधिक से अधिक ऐसा ही त्वचा को भी मानलो, परन्तु भिन्न २ विषयों के ग्राहक भिन्न २ इन्द्रिय हैं, न कि एक ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैंः—

न, युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५६ ॥ (२५५)

उ०-एक साथ अनेक अर्थों की उपलब्धि न होने से (एक इन्द्रिय) नहीं है ॥

यदि सर्वविषयक कोई एक ही इन्द्रिय होता तो एक काल में अनेक विषयों की उपलब्धि होनी चाहिये थी परन्तु ऐसा नहीं होता इस लिये नाना समयों में नाना अर्थों के ग्राहक इन्द्रिय अनेक हैं । सूत्र नं० ५३ । ५४ । ५५ अधिक रक्खे गये हैं, इसी लिये वृत्तिकार ने इन पर वृत्ति भी नहीं की। यदि इन को उपेक्षित करदिया जाय तब भी शास्त्र की सङ्गति में कोई बाधा नहीं पड़ती प्रत्युत और भी उत्तमता से सङ्गति मिल जाती है, परन्तु वात्स्यायन ने अपने भाष्य में इन को सूत्र मानकर व्याख्यान किया है, इसलिये हमने भी इन को यथास्थान सुरक्षित रक्खा है ॥

फिर भी उसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:-

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५७ ॥ (२५६)

उ०-विप्रतिषेध होने से भी त्वचा (ही) एक (इन्द्रिय) नहीं है ॥

यदि चक्षुःस्थ त्वचा से अप्राप्त (दूरस्थ=अस्पृष्ट) रूपों का ग्रहण होता है, तो स्पर्शादिकों में भी ऐसा ही मानना पड़ेगा अर्थात् त्वचा के साथ विषय का संयोग न होने पर भी स्पर्श का ज्ञान होगा । जो कहो कि स्पर्शादि प्राप्त हुवे त्वचा से ग्रहण किये जाते हैं और रूपादि विना प्राप्त हुवे भी । ऐसा मानने पर कोई आवरण न रहेगा और आवरण के न रहने पर विषय मात्र का ग्रहण होगा, चाहे उस में रुकावट हो वा न हो । तथा दूर और समीप की भी कुछ व्यवस्था न रहेगी, कोई वस्तु चाहे कितनी ही दूर हो और कितनी ही उस में रुकावट क्यों न हो, त्वचा से उस की उपलब्धि माननी पड़ेगी, परन्तु यह अनुपपन्न है, इसलिये केवल त्वचा ही इन्द्रिय नहीं है ॥

फिर भी इसी की पुष्टि की जाती है:-

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ५८ ॥ (२५७)

उ०—इन्द्रियों के पांच अर्थ होने से (भी त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध; इन्द्रियों के ये पांच विषय प्रसिद्ध हैं, त्वचा से केवल स्पर्श का ज्ञान होता है न कि रूपादि अन्य विषयों का, अतएव रूपादि अन्य विषयों को ग्रहण करने के लिये चक्षुरादि इन्द्रियों को मानना पड़ता है, यदि न माना जाय तो अन्धे को रूप, बधिर को शब्द, घ्राण शक्तिहीन को गन्ध और रसनावर्जित पुरुष को रस का ज्ञान होना चाहिये क्योंकि त्वगिन्द्रिय इन सब के पास है। परन्तु अन्धे आदि को त्वचा के होते हुवे भी रूपादि का ज्ञान नहीं होता, इसी से अनुमान होता है कि पांचों भिन्न २ अर्थों को ग्रहण करने वाले पांच ही इन्द्रिय हैं॥

अब इस पर पुनः शङ्का करते हैं:-

न, तदर्थबहुत्वात्॥ ५९॥ (२५८)

पू०-उन के (इन्द्रियों के) बहुत अर्थ होने से (पांच ही इन्द्रिय नहीं हैं)॥

इन्द्रियों के अनेक अर्थ होने से पांच इन्द्रियों का मानना ठीक नहीं। यथा-शीतोष्णादि भेदों से स्पर्श कई प्रकार का है, ऐसे ही शुक्ल, कृष्ण और हरितादि भेदों से रूप भी कई प्रकार का है। इसीप्रकार मिष्ट कटुकादि भेदों से रस, सुगन्ध और दुर्गन्ध आदि भेदों से गन्ध, वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक भेदों से शब्द कई प्रकार के हैं, अतएव इन्द्रियों के पांच अर्थ होने से पांच ही इन्द्रिय हैं, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ बहुत हैं॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः॥६०॥ (२५९)

उ०-गन्धत्वादि (सामान्य धर्म) से गन्धादिकों के पृथक् न होने के कारण निषेध नहीं हो सकता॥

जैसे स्पर्श तीन प्रकार का है-शीत, उष्ण और साधारण, परन्तु इन तीनों में स्पर्शत्व रूप सामान्य धर्म एक ही है, क्योंकि जो त्वचा शीतस्पर्श को ग्रहण करती है वही उष्ण और साधारण स्पर्श को भी ग्रहण करती है, इस लिये शीतोष्णादि अपने विशेष भेद रखता हुआ भी स्पर्श एक ही है, तो फिर उस के ग्रहण करने वाले इन्द्रिय अनेक कैसे हो सकते हैं? इसी प्रकार गन्धत्व से गन्ध मात्र का, रूपत्व से रूप मात्र का, रसत्व से रस मात्र का और शब्दत्व से शब्द मात्र का ग्रहण होने से पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं रहती इस लिये पांच अर्थ और उन के पांच ही इन्द्रियों का होना सिद्ध है॥

फिर शङ्का करते हैं:-

विषयत्वाऽव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ६१ ॥ (२६०)

पू०-(तो फिर) विषयत्व के व्यतिरेक न होने से (इन्द्रिय का) एकत्व होना चाहिये ॥

यदि गन्धत्व के एक होने से सुगन्ध और दुर्गन्ध दो नहीं हैं तो विषयत्व के एक होने से गन्ध रसादि भी एक ही होने चाहियें। क्योंकि विषय शब्द से पांचों का ग्रहण होता है, जब विषयत्व में इन सब की एकता है तो फिर इन्द्रियत्व में भी एकता होनी चाहिये॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥६२॥ (२६१)

उ०—बुद्धिलक्षण, अधिष्ठान, गति, आकृति और जाति के पञ्चधा होने से इन्द्रियैकत्व नहीं हो सकता ॥

(१) बुद्धि ज्ञान को कहते हैं सो चाक्षुषादि भेदों से पांच प्रकार का है,जब ज्ञान पांच प्रकार का है, तब उस के करण भी पांच ही होने चाहियें नकि एक। (२) इन्द्रियों के अधिष्ठान भी पांच ही हैं, स्पर्श का सब शरीर, रूप का आंख की पुतली, घ्राण का नासाछिद्र, रसना का जिह्वा और श्रोत्र का कर्णविवर। जब प्रत्यक्ष इन्द्रियों के पांच भिन्न२ स्थान हैं तब उन का स्थानी एक कैसे हो सकता है? (३) गतिभेद से भी इन्द्रिय पांच ही सिद्ध होते हैं, पुतली में से आंख की रश्मि निकल कर और रूप में परिणत होकर उस का ज्ञान कराती है, त्वगादि इन्द्रियों से जब विषय मिलते हैं, तब उन का ज्ञान होता है, शब्द जब क्रमपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं तब उन का ज्ञान होता है, इत्यादि। (४) आकृति (बनावट) भी पांचों इन्द्रियों की भिन्न २ प्रकार की होने से इन्द्रिय एक नहीं, क्योंकि एक वस्तु के अनेक आकार नहीं होते। (५) जाति (कारण) भी इन्द्रियों के पांच ही हैं। त्वचा का वायु, चक्षु का तेज, घ्राण का पृथिवी, रसना का जल और श्रोत्र का आकाश। जब कारण पांच हैं तब उन का कार्य एक कैसे हो सकता है? अतएव पांच ही इन्द्रिय हैं ॥

प्र०—यह कैसे जाना गया कि इन्द्रियों के कारण पञ्चभूत हैं? अव्यक्त नहीं, इस विषय में कहते हैं:—

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥६३॥ (२६२)

उ०-(पञ्च) भूतों के गुणविशेष की उपलब्धि होने से (इन्द्रिय) भूतकार्य हैं॥

पञ्चभूतों से गन्धादि गुणविशेषों की उपलब्धि प्रत्यक्ष देखने में आती है। यथा-वायु स्पर्श, आकाश शब्द, अग्नि रूप, जल रस और पृथिवी गन्ध के अभिव्यञ्जक हैं और यही भूतों के पांच गुण इन्द्रियों के पांच विषय हैं, इस से सिद्ध है कि पृथिव्यादि पञ्चभूत ही पांचों इन्द्रियों के कारण हैं, न कि इन का कोई अव्यक्त कारण है॥

अब इन पञ्चभूतों के गुण दिखलाये जाते हैं:-

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः, अप्तेजोवायूनां पूर्वपूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥६४॥ (२६३)

उ०-गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्दों में स्पर्शपर्यन्त पृथिवी के (गुण हैं) जल, तेज और वायु के पहिला २ छोड़ कर और आकाश का पिछला गुण है॥

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श ये ४ गुण पृथिवी के हैं, रस, रूप और स्पर्श ये ३ गुण जल के, रूप और स्पर्श ये २ गुण अग्नि के, स्पर्श वायु का और शब्द आकाश का गुण है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६५ ॥ (२६४)

पू०-सब गुणों की उपलब्धि न होने से (यह नियम) ठीक नहीं।

यह गुणों की व्यवस्था ठीक नहीं है क्योंकि जिस भूत के जितने गुण कहेगये हैं उन सब की उपलब्धि उस में नहीं होती। यथा-पार्थिव इन्द्रिय घ्राण से केवल गन्ध का ही ग्रहण होता है न कि रस रूप और स्पर्श का। एवं आप्य इन्द्रिय रसना से केवल रस का ग्रहण होता है न कि रूप और स्पर्श का। तथा तैजस इन्द्रिय चक्षु से केवल रूप का ग्रहण होता है न कि स्पर्श का। जिस भूत में जिस गुण की उपलब्धि ही नहीं होती वह उस का गुण कैसे हो सकता है? पुनः इसी शङ्का की पुष्टि करते हैं:-

एकैकस्यैवोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥ ६६ ॥ (२६५)

पू०-पिछले २ भूतों में एक २ भूत का एक २ ही पिछला २ गुण होने से उस की अनुपलब्धि है॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश; इन पञ्चभूतों में और गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द; इन पांच गुणों में एक २ भूत का क्रमशः एक २ ही गुण है जैसे पृथिवी का गन्ध, जल का रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का शब्द। इस लिये अपने २ गुण की ही इन में उपलब्धि होती है न कि अन्य के गुण की॥ अब इस का पाक्षिक समाधान करते हैं:-

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ॥ ६७ ॥ (२६६)

उ०-संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है॥

पांचों भूत आपस में मिले हुवे हैं अतएव एक दूसरे के संसर्ग से उन में अन्य भूतों के गुण भी उपलक्षित होते हैं। यथा-जलादि के संसर्ग से पृथिवी में रसादि भी पाये जाते हैं ऐसे ही औरों में भी एक दूसरे के गुण मिश्रित हैं॥ यदि ऐसा है तो फिर संयोग में इस का कुछ नियम न होने से चार गुण पृथिवी में, तीन गुण जल में, दो गुण तेज में और एक गुण वायु में कैसे सिद्ध होंगे? इस का उत्तर अगले सूत्र में देते हैं:-

विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६८ ॥ (२६७)

उ०-पहिला पिछले से मिला हुवा है॥

पृथिव्यादि पांचों भूतों में पहिला २ पिछले २ से मिला हुवा है अर्थात् पहिली पृथिवी में पिछले जल, तेज और वायु के गुणों का संयोग होने से वह चार गुण वाली कहाती है, इसी प्रकार पहिले जल में पिछले तेज और वायु के गुणों का समावेश होने से वह तीन गुण वाला है। शेष भूतों में भी पहिले २ महाभूत पिछले २ के गुणों से संयुक्त हैं, इस लिये संयोग में अनियम नहीं है॥ अब सिद्धान्तसूत्र द्वारा पूर्व तीन सूत्रों का भी निराकरण करते हैं:-

न,पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६९ ॥ (२६८)

उ०-उक्त गुण नियम ठीक नहीं है, पार्थिव और भी आप्य द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से॥

एक भूत का एक ही गुण है यह नियम ठीक नहीं। यदि एक भूत का एक ही अपना गुण होता तो पार्थिव और जलसम्बन्धी द्रव्यों की प्रत्यक्ष उपलब्धि न होती क्योंकि रूप गुण अग्नि का है, इस लिये केवल आग्नेय पदार्थों का ही प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु प्रत्येक चक्षुष्मान् आग्नेय द्रव्यों

के ही समान पार्थिव और आप्य द्रव्यों में भी रूप को ग्रहण करता है, इस लिये यह मन्तव्य कि संसर्ग से अनेक गुणों का ग्रहण होता है, ठीक नहीं। जो कहो कि अग्नि के रूप गुण से ही इन का प्रत्यक्ष होता है तौ वायु का भी होना चाहिये, यदि इस में कोई नियम है तौ उस का कारण बतलाना चाहिये। यद्वा पार्थिव और आप्य रस के भी प्रत्यक्षतया भिन्न २ होने से उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि पार्थिव रस ६ प्रकार का है और जल में केवल एक ही मधुररस है। यह बात भी संसर्ग से नहीं हो सकती। अथवा इन दोनों के रूप में भी प्रत्यक्ष भेद अवगत होने से पूर्वोक्त पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि पृथिवी में हरा पीला लाल आदि अनेक प्रकार का रूप है परन्तु जल में केवल सामान्य श्वेत रूप ही है, यह भी संसर्गकृत नहीं है। सूत्र में पार्थिव और आप्य उपलक्षण मात्र हैं, इसी प्रकार पार्थिव और तैजस द्रव्यों के स्पर्श में भी महान् अन्तर देखा जाता है। इस लिये यह कथन कि भूतों के परस्पर संसर्ग से एक दूसरे के गुण उन में पाये जाते हैं, ठीक नहीं॥

अब जब कि गन्ध के अतिरिक्त रसादि भी पृथिव्यादि के गुण हैं तौ घ्राणादि से उन का ग्रहण क्यों नहीं होता। इस पर कहते हैं:-

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ७० ॥ (२६९)

उ०-पहिले पहिले गुण के उत्कर्ष से वह वह प्रधान है॥

गन्ध, रस, रूप और स्पर्श ये चार गुण पृथिवी के हैं, इन में पहला गन्ध उत्कृष्ट होने से प्रधान है, पिछले तीन अनुत्कृष्ट होने से अप्रधान। ऐसे ही रस, रूप और स्पर्श ये तीन गुण जल के हैं जिन में पहिला रस प्रधान और पिछले दो अप्रधान। एवं रूप और स्पर्श ये दो गुण तेज के हैं जिन में पहिला मुख्य और दूसरा गौण है। बस इन में जो जिस का प्रधान गुण है वही उस के इन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है, अप्रधान नहीं। यही कारण है कि एक इन्द्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं होता॥

पुनः उक्तार्थ की ही पुष्टि करते हैं:-

तद्व्यवस्थानन्तु भूयस्त्वात् ॥ ७१ ॥ (२७०)

उ०-उन गुणों की व्यवस्था प्रकर्ष से है॥

पृथिवी के चार गुण होते हुवे भी जो उसमें गन्ध की व्यवस्था की गई है वह पृथिवी में गन्ध गुण की प्रकर्षता होने से है अर्थात् जलादि से असंयुक्त पृथिवी में भी गन्ध की उपलब्धि होती है॥

अपने २ गुणों को इन्द्रिय बिना उन की सहायता के क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस पर कहते हैं:—

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७२ ॥ (२७१)

उ०-गुणों के सहित इन्द्रियों का इन्द्रियत्व होने से ॥

अपने गुण गन्धादि को घ्राणादि क्यों नहीं ग्रहण करते ? इस का कारण यह है कि अपने गुणों को लेकर ही घ्राणादिकों में इन्द्रियत्व है, क्योंकि घ्राण अपने गुण गन्ध की सहायता से ही बाहर के गन्ध को ग्रहण करता है, यदि उसे अपने सहकारी गन्ध की सहायता न हो तो वह कदापि उसका ग्रहण नहीं कर सकता, ऐसा ही और इन्द्रियों में भी समझना चाहिये ॥

यदि कहो कि जब गन्ध घ्राण का सहायक है, तो वह फिर उस का ग्राह्य कैसे होता है ? इस शङ्का का समाधान करते हैं:—

तेनैव तस्याऽग्रहणाच्च ॥ ७३ ॥ (२७२)

उ०-उस ही से उस का ग्रहण नहीं होता ॥

इन्द्रिय बिना अपने गुणों या उन के कारण भूतों की सहायता के अपने गुणों का ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि केवल उस ही से उसका ग्रहण नहीं होता। जैसे कोई कहे कि आंख जैसे बाहर के पदार्थों को दिखलाती है वैसे ही अपने को क्यों नहीं दिखलाती। इस का भी उत्तर यही है कि बाह्य रूप की सहायता न होने से। तद्वत् कार्य कारण रूप अपने २ गुणों की सहायता न होने से इन्द्रिय भी अर्थों की उपलब्धि में असमर्थ हैं ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न, शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७४ ॥ (२७३)

शब्द गुण की उपलब्धि होने से (उक्तकथन) ठीक नहीं है ॥

इन्द्रिय अपने गुणों को ग्रहण नहीं करते यह कथन ठीक नहीं है क्यों कि श्रोत्र से बिना अपने में स्थित शब्द गुण के भी अपने बाह्य गुण शब्द की साक्षात् उपलब्धि होती है। अब इसका समाधान करते हैं:—

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७५ ॥ (२७४)

परस्पर द्रव्यगुणों के वैधर्म्य से उस (शब्द) की उपलब्धि होती है ॥

शब्द गुणसे आकाश सगुण इन्द्रिय नहीं है और न शब्द, शब्द का व्यञ्जक है। घ्राणादि शेष इन्द्रियों का अपने गुणों को ग्रहण करना न तो प्रत्यक्ष है

और न अनुमान से ही सिद्ध होता है किन्तु श्रोत्र से शब्द का ग्रहण और शब्द गुणवान् आकाश का होना अनुमान किया जाता है। आत्मा तो श्रोता है न कि करण, मनको श्रोत्र माननेसे बहिरेपन का अभाव होगा पृथिव्यादि चार भूतों में भी घ्राणादि इन्द्रियों को बनाने का सामर्थ्य तो है परन्तु श्रोत्र को नहीं, इस लिये केवल एक आकाश ही शेष रहजाता है और वही श्रोत्र इन्द्रियका कारण है॥

इन्द्रियपरीक्षाप्रकरण समाप्त हुवा ॥

इति तृतीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ॥ ३ ॥ १ ॥

अथ तृतीयाऽध्यायस्य द्वितीयमाह्निकमारभ्यते

इन्द्रिय और उन के अर्थों की परीक्षा हो चुकी, अब बुद्धि की परीक्षा का आरम्भ किया जाता है। पहिले इस बात का विचार करते हैं कि बुद्धि नित्य है वा अनित्य ?

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ॥ १ ॥ (२७५)

पू०-कर्म और आकाश के साधर्म्य से संशय होता है॥

कर्म और आकाश के समान बुद्धि में भी अस्पर्शत्व धर्म है, परन्तु इन दोनों में से कर्म अनित्य और आकाश नित्य है। अब यह सन्देह उत्पन्न होता है कि बुद्धि कर्म के समान अनित्य है अथवा आकाश के तुल्य नित्य ? इस सूत्र पर प्रथम बुद्धि के नित्यत्व का पक्ष करते हैं:—

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥ (२७६)

पू०-विषयों की प्रत्यभिज्ञा होने से (बुद्धि नित्य है) ॥

प्रत्यभिज्ञा का लक्षण कह चुके हैं, जिस अर्थ को पहिले जाना था उस को अब पुनः अनुभव करता हूं, यह दो ज्ञानों का एक समय में जो प्रतिसन्धान करना है इसी को प्रत्यभिज्ञान वा प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञा विना बुद्धि की नित्यता के नहीं हो सकती क्योंकि जो बुद्धि उत्पत्ति और विनाश वाली होती तो उस में प्रत्यभिज्ञा कभी नहीं रह सकती, ज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट होजाते फिर उन का प्रतिसन्धान कैसा ? अतः बुद्धि नित्य है ॥

अब इस का खण्डन करते हैं:—

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥ (२७७)

उ०—साध्यसम (हेत्वाभास) होने से (यह हेतु) अहेतु है ॥

जैसे बुद्धि का नित्यत्व साध्य है वैसे ही प्रत्यभिज्ञा की भी सिद्धि अपेक्षित है क्योंकि चेतन (कर्त्ता) के धर्म की उपपत्ति अचेतन (करण) में नहीं हो सकती। ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, बोध, प्रत्यय और अध्यवसाय ये सब चेतन के धर्म हैं, चेतन ही पहिले जाने हुवे अर्थ का पुनः अनुभव करता है इसलिये उस ही का नित्यत्व युक्त है। यदि करण को चेतन मानोगे तो चेतन के स्वरूप का निर्वचन करना पड़ेगा क्योंकि जिसके स्वरूप का निर्देश नहीं हुवा ऐसा आत्मा मानने के योग्य नहीं हो सकता। यदि ज्ञानको बुद्धि (अन्तःकरण) का धर्म मानोगे तो फिर चेतन (कर्त्ता) का क्या स्वरूप, क्या धर्म और क्या तत्व है? ज्ञान के बुद्धि में वर्तमान होने पर यह चेतन क्या करता है? यदि कहो कि चेतना करता है तो चेतना करना और जानना एक ही बात है। जो कहो कि पुरुष अनुभव करता है और बुद्धि जानती है तो यह भी अर्थान्तर नहीं क्योंकि अनुभव करना, जानना, समझना, देखना, प्राप्तहोना ये सब एकार्थवाचक हैं। जो कहो कि बुद्धि जनाती है और पुरुष जानता है, यह सत्य है, पर ऐसा मानने पर ज्ञान पुरुष का गुण है, यही सिद्ध होता है, नकि बुद्धि (अन्तःकरण) का। यदि दोनों को चेतन मानोगे तो एक का अभाव मानना पड़ेगा क्योंकि शरीररूप अधिकरण में दो कर्त्ता नहीं हो सकते। यदि बुद्धि को ज्ञान का साधन मानाजावे तो भी विषय की प्रत्यभिज्ञा से उस का नित्यत्व सिद्ध न होगा, क्योंकि करणभेद रहते हुवे भी ज्ञाता के एक होने से प्रत्यभिज्ञा देखीजाती है, जैसे एक आंख से देखी हुई वस्तु को दूसरी आंख से देखते हैं, इसलिये उक्त हेतु से ज्ञाता का ही नित्यत्व सिद्ध होता है नकि बुद्धि का॥

जो लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धि स्थिर है, उस से विषयानुसार वृत्तियां निकलती हैं जैसे कि अग्नि से चिनगारियां निकलती हैं और वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद नहीं है, अब उनका खण्डन करते हैं:—

न, युगपद्ग्रहणात् ॥ ४ ॥ (२७८)

उ०—एक वार (अनेक विषयों का) ग्रहण न होने से (वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं है)॥

यदि वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद न मानाजावे तो वृत्तिमान् की स्थिति से वृत्तियों की स्थिरता भी माननी पड़ेगी और वृत्तियों के स्थिर होने से

एक समय में अनेक अर्थों का ग्रहण होना चाहिये, परन्तु यह असम्भव है, इसलिये वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं हो सकते॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं॥

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥ (२७९)

उ०-और प्रत्यभिज्ञा के न रहने पर (वृत्तिमान् का) नाश मानना पड़ेगा॥

प्रत्यभिज्ञारूप वृत्ति के निवृत्त होने पर वृत्तिमान् की भी निवृत्ति माननी पड़ेगी क्योंकि प्रतिवादी के मत में वृत्ति और वृत्तिमान् दो नहीं हैं, अतः ज्ञान और ज्ञानवान् इन दोनों में अभेद कदापि नहीं हो सकता॥

अब एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने का कारण कहते हैं:—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम् ॥ ६ ॥ (२८०)

उ०-(इन्द्रियों के) क्रमवृत्ति होने से युगपद्ग्रहण नहीं होता॥

परिच्छिन्न (एकदेशी) मन का संयोग इन्द्रियों के साथ क्रमशः होता है, इसी कारण एकबार अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। एकबार अनेक ज्ञान न होने से भी वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद सिद्ध है:—

अप्रत्यभिज्ञानञ्च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥ (२८१)

उ०-विषयान्तरासक्ति से अनुपलब्धि होती है॥

जब किसी विषय में मन अत्यन्त आसक्त होता है तब दूसरे विषय की उपलब्धि नहीं होती। यह बात भी वृत्ति और वृत्तिमान् के अलग २ होने से ही हो सकती है, अन्यथा एक मानने से व्यासक्ति असंभव है॥

अब मन के विभुत्व का खण्डन करते हैं:—

न, गत्यभावात् ॥ ८ ॥ (२८२)

उ०-गति के अभाव से (विभुपदार्थ में युगपद् अग्रहण) नहीं बनता॥

यदि मन को विभु मानोगे तो उस में गति का अभाव मानना पड़ेगा और जब गति का अभाव हुवा तो फिर उस का इन्द्रियों के साथ क्रम से संयोग कैसा? संयोग के अभाव में एकरस मानना पड़ेगा, फिर एक साथ अनेक ज्ञान होने में क्या रोक रहेगी? कुछ भी नहीं। परन्तु हम प्रत्यक्ष मन का क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग और विषयान्तरव्यासक्ति देखते हैं, इस लिये मन को विभु मानना ठीक नहीं॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥ (२८३)

पू०—स्फटिक में अन्यत्वाभिमान के सदृश उस में अन्यत्व का अभिमान है॥

जैसे लाल पीले हरे आदि रङ्ग वाले पदार्थों के संयोग से स्वच्छ बिल्लौर लाल पीला हरा आदि दीख पड़ता है वस्तुतः बिल्लौर केवल श्वेतवर्ण है वैसे ही भिन्न २ विषयों के सम्बन्ध से वृत्ति भी अनेक प्रकार की सी उपलक्षित होती है, वास्तव में वृत्ति एक ही है॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

न, हेत्वभावात् ॥ १० ॥ (२८४)

उ०—हेतु के अभाव से उक्त कथन ठीक नहीं ॥

स्फटिक का दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि उस में हेतु का अभाव है, वृत्तियों में भिन्नत्व का अभिमान भ्रान्ति से नहीं होता क्योंकि गन्धादि गुणों के समान उन के ज्ञान भी प्रत्यक्षतया भिन्न २ प्रतीत होते हैं, अतएव यही क्यों न मान लिया जाय कि जैसे गन्धादि गुण भिन्न २ हैं ऐसे ही उन के ज्ञान भी भिन्न २ हैं, यदि कहो कि हेतु का अभाव दोनों के दृष्टान्तों में समान है फिर हमारा ही कथन क्यों नहीं मान लेते ? इस का उत्तर यह है कि इन्द्रिय और अर्थों के सम्बन्ध से क्रमशः ज्ञान उत्पन्न और नष्ट होते हैं इसलिये वृत्तियों के अनेकत्व में गन्धादि का दृष्टान्त बहुत ही उपयुक्त है ॥

स्फटिक के दृष्टान्त को न सहता हुवा क्षणिकवादी कहता है:—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनामहेतुः ११

पू०—व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी भिन्न २ व्यक्तियों के उत्पन्न होने के कारण (उक्त हेतु) अहेतु है ॥ (२८५)

यह जो कहा था कि बिल्लौर में वस्तु तथा वर्णभेद से अनेकत्व की भ्रान्ति होती है, वास्तव में स्फटिक अपने स्वरूप से अवस्थित है, इस पर क्षणिकवादी शङ्का करता है कि यह हेतु ठीक नहीं क्योंकि सब व्यक्तियों के क्षणिक होने से स्फटिक में भी कोई व्यक्ति उत्पन्न होती हैं और कोई नष्ट। सब वस्तु क्षणिक हैं, इस का प्रमाण वस्तुओं के घटने बढ़ने, शरीरों के संयोग वियोग और आहार के पाक विरेचन आदि से सिद्ध है, वृद्धि उत्पत्ति का

कारण है और ह्रास नाश का। अतः पदार्थों के क्षणिक होने से उन का परिणाम भ्रान्तिकृत नहीं किन्तु वास्तविक है। अब इस का उत्तर देते हैं:-

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ १२ ॥ (२८६)

उ०-नियामक हेतु के अभाव से जैसा देख पड़े वैसा मानना चाहिये ॥

सब पदार्थों में वृद्धि और नाश का नियम शरीर के ही समान नहीं देखा जाता, न तो यह बात प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है और न इस का साधक अनुमान ही है, इसलिये जहां जैसा देख पड़े वहां वैसा ही मानना चाहिये। शरीरादि में बढ़ना घटना नियम से देखा जाता है इस लिये उन को क्षणिक मानलो, परन्तु स्फटिकादि में नियम पूर्वक ऐसा नहीं देखा जाता, इसलिये उन को भी क्षणिक मानना ठीक नहीं। जैसे कोई नीम की तिक्तता को लेकर सब वृक्षों को कड़ुआ कहने लगे वैसा ही तुम्हारा कथन है ॥

इसी की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:-

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ १३ ॥ (२८७)

उ०-उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि होने से (भी) उक्त कथन ठीक नहीं ॥

जैसे वल्मीक आदि में अवयवों का बढ़ना रूप उत्पत्तिकारण और घटादि में अवयवों का विभाग रूप विनाशकारण देखने में आता है, ऐसे स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश के कारण जानने में नहीं आते। अतः उन को क्षणिक मानना ठीक नहीं ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः१४

पू०-दूध के नाश होने पर जैसे कारण की उपलब्धि नहीं होती तथा दही की उत्पत्ति के समान उस की भी सिद्धि (माननी चाहिये) ॥ (२८८)

यह जो कहा कि जिन की उत्पत्ति और विनाश के कारण जानने में आते हैं वे ही क्षणिक होते हैं, अन्य नहीं तब उत्पत्ति और विनाश के कारण तो दूध और दही के भी नहीं जान पड़ते तो क्या इन को भी नित्य मानोगे बस जैसे दूध और दही में विनाश और उत्पत्ति के अदृश्य कारण माने जाते हैं ऐसे ही स्फटिक में भी मानलो ॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १५ ॥ (२८९)

उ०-लिङ्ग से ग्रहण होने के कारण अनुपलब्धि नहीं है ॥

दूध का नाश और दही की उत्पत्ति लिङ्ग से अनुमान किये जाते हैं, इस लिये उन के कारण की उपलब्धि होती है, परन्तु स्फटिकादि द्रव्यों में तो भिन्न २ व्यक्तियों के उत्पन्न और विनाश होने का कोई लिङ्ग देखने में नहीं आता, इस लिये उन के कारणों का अनुमान नहीं किया जासकता॥

अब पुनः शङ्का करते हैं:-

न, पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १६ ॥ २९० ॥

पू०-दूध के परिणाम (अर्थात्) गुणान्तर प्रादुर्भाव होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

अन्य गुण के प्रादुर्भाव को परिणाम कहते हैं सो दूध में मधुररस की निवृत्ति और अम्लरस की उत्पत्तिरूप परिणाममात्र होता है न कि द्रव्य का विनाश । अतः सब पदार्थ स्वरूप से सत् हैं केवल उन में गुणों का प्रादुर्भाव और तिरोभाव रूप परिणाम होता रहता है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

व्यूहान्तराद्द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृ-
त्तेरनुमानम् ॥ १७ ॥ (२९१)

उ०-रचनान्तर से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति का दीखना पूर्वद्रव्य की निवृत्ति का अनुमान कराता है ॥

दूध की रचना और प्रकार की है जब उस से भिन्न प्रकार की रचना वाला दही बनजाता है तब दूध के अवयवों का विभाग या परिणाम होने से दूध निवृत्त होगया या नष्ट होगया ऐसा अनुमान होता है । जैसे मट्टी के अवयवों से घड़ा बनने पर मट्टी का नाश और घट की उत्पत्ति मानी जाती है, ऐसे ही दूध से दही बनने पर दूध का नाश और दही की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अतः परिणाम उत्पत्ति और विनाश का बाधक नहीं होसकता ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं :-

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥ १८ ॥ (२९२)

उ०–कहीं विनाशकारणों की अनुपलब्धि होने से और कहीं उपलब्धि होने से (तुम्हारा पक्ष) अनेकान्त है ॥

दूध और दही में विनाश और उत्पत्ति के कारण प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, स्फटिकादि में नहीं होते, इस लिये स्फटिकादि में उत्पत्ति और विनाश सिद्ध करने के लिये दूध और दही का दृष्टान्त देना अनेकान्त होने से सर्वथा अनुपपन्न है। अतः स्फटिकादि के समान बुद्धिवृत्ति की अनेकता भ्रान्तिकृत नहीं, किन्तु वास्तविक है, इस से बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है ॥

अब इस बात की मीमांसा की जाती है कि आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ इन में से बुद्धि किस का गुण है ?

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥ १९ ॥ (२९३)

उ०–(बुद्धि) इन्द्रिय और अर्थ का (गुण) नहीं, उन के नाश होने पर भी ज्ञान की अवस्थिति होने से ॥

यदि बुद्धि इन्द्रिय वा अर्थ का गुण होती तो उन के विनाश होने पर उस की अवस्थिति नहीं हो सकती थी, परन्तु जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि चक्षु इन्द्रिय और उस का दृष्ट विषय ये दोनों नहीं रहते तब भी " मैंने देखा था " यह ज्ञान शेष रहता है, इस से सिद्ध है कि बुद्धि (ज्ञान) इन्द्रिय वा अर्थ का गुण नहीं है। तो क्या बुद्धि मन का गुण है ? इस का निषेध अगले सूत्र से करते हैं:–

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥ २० ॥ (२९४)

उ०–और एक साथ अनेक ज्ञेयों की उपलब्धि न होने से मन का (भी गुण बुद्धि) नहीं है ॥

एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना मन का लक्षण है, इस से अनुमान होता है कि बुद्धि (ज्ञान) मन का भी गुण नहीं है क्योंकि यदि मन का गुण होता तो मन में एक ज्ञान के होते दूसरे ज्ञान का अभाव न होता। तो फिर बुद्धि किस का गुण है ? ज्ञाता का। ज्ञाता कौन है ? आत्मा। यद्यपि आत्मा स्वतन्त्र है, तथापि विषयोपलब्धि में वह करणों की अपेक्षा

रखता है, क्योंकि घ्राणादि इन्द्रियों के होने पर ही गन्धादि विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है, इस से अनुमान होता है कि अन्तःकरणादि साधन युक्त आत्मा को ही सुखादि का ज्ञान और स्मृति उत्पन्न होती है। बस इस से सिद्ध है कि ज्ञान गुण वाला आत्मा है और सुखादि की उपलब्धि का साधन मन है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २१ ॥ (२९५)

पू०—उस के आत्मा का गुण होने पर भी (दोष) बराबर है॥

आत्मा सब इन्द्रियों में व्याप्त है फिर एक समय में अनेक ज्ञान क्यों उत्पन्न नहीं होते? अब इस का उत्तर देते हैं:—

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ॥ २२ ॥ (२९६)

उ०—इन्द्रियों के साथ मन का संयोग न होने से उन की उत्पत्ति नहीं होती॥

जैसे गन्धादि विषयों के ज्ञान में इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की अपेक्षा है ऐसे ही इन्द्रिय और मन का योग भी विषयज्ञान में हेतु है। मन अणु होने के कारण एक साथ अनेक विषयों से संयुक्त नहीं होसकता अतएव एकसाथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं होती॥ पुनः शङ्का करते हैं:—

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २३ ॥ (२९६)

पू०—उत्पत्ति का कारण न कहने से (उक्त कथन) ठीक नहीं॥

बुद्धि की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं बतलाया, मन और इन्द्रियों का संयोग ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त हो सकता है, न कि उपादान॥

अब बुद्धि के आत्मगुण होने में दोष दिखलाते हैं:—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः २४ (२९७)

पू०—विनाशकारण की अनुपलब्धि से (बुद्धि की सर्वदा) स्थिति होने पर उस के नित्यत्व की प्रसक्ति होगी॥

आत्मा नित्य है इसलिये उस के सब गुण भी नित्य मानने पड़ेंगे, जब बुद्धि आत्मा का गुण है तो उस के विनाशकारण का अभाव होगा, विनाश के अभाव में आत्मवत् उस की सर्वदा अवस्थिति माननी पड़ेगी॥

अब इस का उत्तर देते हैं:—

अनित्यत्वाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २५ ॥ (२९८)

उ०—बुद्धि के अनित्य होने के कारण ज्ञानान्तर से (उस का) विनाश शब्दवत् (मानाजाता है) ॥

बुद्धि का अनित्य होना प्रत्यात्मवेदनीय है, जैसे शब्दान्तर के उत्पन्न होने पर पहिला शब्द नष्ट होजाता है, ऐसे ही दूसरे ज्ञान के उत्पन्न होने पर पहिला ज्ञान नहीं रहता, इसको प्रत्येक मनुष्य जानता है। जब बुद्धि उत्पन्न होकर विनष्ट होने वाली है तब वह नित्य आत्मा का गुण क्योंकर हो सकती है? इस के अतिरिक्त बुद्धि को आत्मा का गुण मानने से एककाल में अनेक ज्ञान होने चाहियें, क्योंकि ज्ञान के साधन अनेक संस्कार आत्मा में विद्यमान हैं और आत्मा का मन के साथ संयोग भी निरन्तर ही रहता है, फिर क्यों एकसाथ अनेक ज्ञान नहीं होते? इस पर आत्मा और मन के संयोग को निरन्तर न मानने वाला कहता है:—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः॥२६॥ (२९९)

पू०-ज्ञानसंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ मन का संयोग होने से स्मृति की उत्पत्ति होती है, अतः एकसाथ (अनेक ज्ञानों की) उत्पत्ति नहीं होती ॥

ज्ञान से अभिप्राय संस्कार का है अर्थात् शरीर के जिस देश में संस्कार युक्त आत्मा होता है उस में मन का संयोग होने से स्मृति उत्पन्न होती है, यही कारण है कि एक समय में अनेक स्मृतियां नहीं होतीं ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:—

नान्तः शरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २७ ॥ (३००)

उ०-मन के अन्तःशरीरवृत्तिवाला होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

मन इस शरीर में अन्तश्चारी है, शरीर के भीतर रहने वाले मन का शरीर के बाहर फैले हुवे ज्ञानसंस्कृत आत्मप्रदेशों के साथ संयोग हो नहीं सकता ॥ फिर शङ्का करते हैं:—

साध्यत्वादहेतुः ॥ २८ ॥ (३०१)

पू०-साध्य होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

जब तक मन का शरीरान्तश्चारी होना सिद्ध न होजाय, तब तक यह अपने पक्ष की सिद्धि में हेतु कैसे होसकता है॥ अब इस का समाधान करते हैं :—

स्मरत: शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेध: ॥ २९ ॥ (३०२)

उ०-स्मर्त्ता का शरीरधारण सिद्ध होने से निषेध युक्त नहीं ॥

जब यह मन किसी बात को स्मरण करना चाहता है तब एकाग्र हो कर सर्वात्मना उस विषय को स्मरण करता है, उस समय स्मर्ता का शरीर स्तब्ध और स्थित हो जाता है, यदि मन शरीर के भीतर न होता तो शरीर का स्तब्ध और स्थित होना कैसे बन सकता? आत्मा और मन के संयोग से जो प्रयत्न उत्पन्न होता है, वह दो प्रकार का है एक धारक और दूसरा प्रेरक। मन के शरीर से बाहर निकलने पर धारक प्रयत्न के अभाव से गुरुत्व के कारण शरीर को गिरपड़ना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता इस से सिद्ध है कि मन के शरीरान्तर्वर्त्ती होने से धारक प्रयत्न का अभाव कभी नहीं होता ॥

फिर आक्षेप करते हैं:—

न, सदाशुगतित्वान्मनस: ॥ ३० ॥ (३०३)

पू०—मन के शीघ्रगामी होने से (उक्त दोष) नहीं आ सकता ॥

मन शीघ्रगामी है, इस लिये उस का बाहर और भीतर दोनों जगह होना बन सकता है। बाहर आकर वह ज्ञानसंस्कारों से मिल कर स्मृति को उत्पन्न कराता है और फिर भीतर जाकर धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके शरीर का धारण कराता है ॥ पुनः इस का परिहार करते हैं:—

न, स्मरणकालाऽनियमात् ॥ ३१ ॥ (३०४)

उ०—स्मरणकाल के नियत न होने से (उक्त कथन) नहीं बन सकता ॥

कोई बात शीघ्र स्मरण की जाती है और कोई विलम्ब से, इस से सिद्ध है कि स्मरण का कोई काल नियत नहीं है। बहुत से ऐसे भी विषय हैं कि जिन में बारम्बार और लगातार लगाया हुआ भी मन स्मरणहेतुओं के न होने से उन का स्मरण नहीं कर सकता या बहुत देर से करता है, यदि मन बहिर्गामी भी होता तो उस को स्मरण में ऐसी कठिनतायें न होतीं किन्तु उस के लिये क्षिप्रस्मरणीय और चिरस्मरणीय का भेद ही न होता। इस के अतिरिक्त आत्मा के भोगायतन शरीर की अपेक्षा रखता हुआ ही मन और आत्मा का संयोग स्मृति का कारण होसकता है, शरीर से बाहर होकर नहीं॥

पुनः पूर्वपक्षी कहता है:

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥३२॥ (३०५)

पू०-आत्मा की प्रेरणा, वा अकस्मात्, वा ज्ञान से संयोगविशेष नहीं हो सकता ॥

यदि आत्मा किसी अर्थ को जानने के लिये मन को प्रेरणा करे तौ वह अर्थ स्मरणीय न रहेगा किन्तु स्मृत होजायगा क्योंकि आत्माने पहिले स्मरण करके फिर उस की प्रेरणा की, अतः आत्मा की प्रेरणा से संयोगविशेष नहीं होता। इसी प्रकार जब स्मरण करने की इच्छा से युक्त हुवा मन किसी विषय को स्मरण करता है, तब यह संयोगविशेष आकस्मिक भी नहीं हो सकता और ज्ञान तौ मन में है ही नहीं फिर उस से संयोग कैसा?

अब इस का परिहार करते हैं:-

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥३३॥

उ०-जिस का मन किसी विषय में लगा हुवा है उस के पैर में कांटा चुभने से संयोगविशेष के समान मानना पड़ता है ॥ (३०६)

किसी पुरुष का मन चाहे कैसा ही किसी काम में लगा हुवा हो, यदि उस के पैर में कांटा चुभजाय तौ उसे तत्काल दुःख का अनुभव होता है, इस से आत्मा और मन का संयोगविशेष सिद्ध होता है ॥

अब एकसाथ अनेक स्मृति न होने का कारण कहते हैं:-

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावाद् युगपदस्मरणम् ॥ ३४ ॥ (३०७)

उ०-चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि ज्ञानों के एकसाथ न होने से एक समय में अनेक स्मरण नहीं होते ॥

जैसे आत्मा और मन का संयोग तथा संस्कार स्मृति के कारण हैं वैसे ही चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि के ज्ञान भी कारण हैं और वे सब एकसाथ नहीं होते फिर उन से होने वाली स्मृतियां एकसाथ कैसे हो सकती हैं? अब उक्त पक्ष का विशेषदशा में अपवाद कहते हैं:-

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ३५।३०८

उ०-प्रातिभ ज्ञान के समान चित्त की एकाग्रता की अपेक्षा जिस में नहीं है ऐसे स्मार्त ज्ञान में यौगपद्य (एकसाथ अनेक ज्ञान होने की) प्रसक्ति होगी ॥

बुद्धि की स्फूर्ति को प्रतिभा कहते हैं, उस से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस का नाम ' प्रातिभ ' है, जैसे प्रातिभ ज्ञान अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है, ऐसे ही चित्त के समाधान आदि की जिस में अपेक्षा नहीं है ऐसे आकस्मिक स्मरण से उत्पन्न हुवे ज्ञान में तो एक साथ अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ॥

अब जो लोग ज्ञान को पुरुष का और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख को केवल अन्तःकरण का धर्म मानते हैं उन के मत का खण्डन करते हैं:-

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥ ३६ ॥ (३०९)

उ०-ज्ञाता की प्रवृत्ति और निवृत्ति ही इच्छा द्वेष का मूल होने से (इच्छादि आत्मा के लिङ्ग हैं) ॥

आत्मा पहिले इस बात को जानता है कि यह मेरा सुखसाधन है और यह दुःखसाधन । फिर जाने हुवे सुखसाधन के ग्रहण और दुःखसाधन के त्याग करने की इच्छा करता है, इच्छा से युक्त हुवा सुखप्राप्ति और दुःख निवृत्ति के लिये यत्न करता है । इस प्रकार ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख और दुःख; इन सब का एक के साथ सम्बन्ध है और वह आत्मा है । इस लिये, इच्छादि छहों लिङ्ग चेतन आत्मा के हैं, न कि अचेतन अन्तःकरण के ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥३७॥(३१०)

पू०-इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति का लिङ्ग होने से पृथिवी आदि (भूतों के सङ्घात शरीर) में निषेध नहीं हो सकता ॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति के चिन्ह इच्छा और द्वेष हैं अर्थात् इच्छा से प्रवृत्ति और द्वेष से निवृत्ति होती है और ये दोनों इच्छा और द्वेष शरीर के धर्म हैं, क्योंकि इन का सम्बन्ध चेष्टा से है और चेष्टा का आश्रय शरीर है, अतएव इच्छादि शरीर के ही धर्म हैं ॥ अब उक्त पक्ष में दोष देते हैं:-

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३८ ॥ (३११)

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३९ ॥ (३१२)

उ०-कुठारादि में आरम्भ और निवृत्ति तथा कुम्भादि में उन की उपलब्धि न होने से (उक्त हेतु अहेतु है) ॥

यदि आरम्भ और निवृत्ति के होने से इच्छादि शरीर के गुण मानोगे तौ कुठार आदि करणों में भी इस की अतिव्याप्ति होगी क्योंकि कुठार आदि में भी आरम्भ और निवृत्ति रूप क्रिया देखने में आती है। इसी प्रकार कुम्भादि में आरम्भ और बालू आदि में निवृत्ति के होने पर भी इच्छा और द्वेष की उपलब्धि उन में नहीं होती, अतएव इच्छा और द्वेष के प्रवृत्ति और निवृत्ति लिङ्ग हैं, यह हेतु हेत्वाभास है ॥

प्रतिपक्षी के हेतु का खण्डन करके अब सिद्धान्त कहते हैं:-

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ४० ॥ (३१३)

उ०-उन (इच्छा और द्वेष) के भेदक तौ नियम और अनियम हैं ॥

ज्ञाता (प्रयोक्ता) के इच्छा और द्वेष मूलक प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वाश्रय नहीं हैं किन्तु प्रयोज्य (शरीर) के आश्रय हैं। प्रत्युज्यमान भूतों में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती हैं, सब में नहीं, इस लिये अनियम की उपपत्ति है और आत्मा की प्रेरणा से भूतों में इच्छाद्वेष निमित्तक प्रवृत्ति और निवृत्ति उत्पन्न होती हैं, विना प्रेरणा के नहीं, इस लिये नियम की उपपत्ति है, तात्पर्य यह है कि इच्छा और द्वेष प्रयोजक (आत्मा) के आश्रित हैं और प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रयोज्य (शरीर) के आश्रित हैं, अतएव इच्छादि आत्मा के लिङ्ग हैं ॥

अब इच्छादि अन्तःकरणधर्म न होने में दूसरी युक्ति कहते हैं:-

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥ ४१ ॥ (३१४)

उ०-उक्त हेतु से (तथा) मन के परतन्त्र होने से और विना किये हुवे की प्राप्ति होने से भी (इच्छादि) मन के धर्म नहीं हैं ॥

इस सूत्र में मन शब्द से शरीर, इन्द्रिय और मन तीनों का ग्रहण करना चाहिये। आत्मसिद्धि के अब तक जितने हेतु कहेगये हैं, उन से इच्छादि का आत्मलिङ्ग होना सिद्ध ही है, उन के अतिरिक्त मन आदि के परतन्त्र होने से भी इच्छादि उन के धर्म नहीं हो सकते, क्योंकि मन आदि क्रिया में स्वतन्त्रता से नहीं किन्तु आत्मा की प्रेरणा से प्रवृत्त होते हैं, इस के अतिरिक्त यदि मन आदि को स्वतन्त्र कर्त्ता माना जावै तौ अकृताभ्यागम रूप (करै कोई और भरै कोई) दोष आता है क्योंकि शुभाऽशुभ कर्मों को स्वतन्त्रता

से करें तो ये, और उन का फल जन्मान्तर में भोगना पड़े अन्य अन्तःकरण को और यह हो नहीं सकता ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ४२ ॥ (३१५)

उ०-परिशेष और उक्त हेतुओं की उपपत्ति से भी (ज्ञानादि आत्मा के धर्म हैं) ॥

जब यह बात उपपत्तियों से सिद्ध होगई कि ज्ञानादि-इन्द्रिय, मन और शरीर के धर्म नहीं हैं, तब इन से शेष क्या रहता है? आत्मा। बस आत्मा के धर्म ज्ञानादि स्वतः सिद्ध होगये। इस के अतिरिक्त इस शास्त्र में अब तक जो आत्मसिद्धि के हेतु दियेगये हैं, यथा-"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्" इत्यादि; उन से भी ज्ञानादि आत्मा के ही धर्म सिद्ध होते हैं ॥

अब स्मृति का भी आत्मगुण होना प्रतिपादन करते हैं:—

स्मरणन्त्वात्मनोज्ञस्वाभाव्यात् ॥ ४३ ॥ (३१६)

उ०—ज्ञाता का स्वभाव होने से स्मरण भी आत्मा का ही धर्म है ॥

स्मृति ज्ञान के आश्रित है, क्योंकि जाना, जानता हूं, जानूंगा इत्यादि त्रैकालिक स्मृतियां ज्ञान के द्वारा ही उत्पन्न होती हैं। जब ज्ञान आत्मा का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान और चेतनता का तादात्म्य सम्बन्ध है तब स्मृति, जो उस से उत्पन्न होती है, आत्मा के अतिरिक्त दूसरे का धर्म क्योंकर हो सकती है?

अब जिन २ कारणों से स्मृति उत्पन्न होती है, उन को कहते हैं:-

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयाऽर्थित्वक्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ ४४ ॥ (३१७)

उ०-प्रणिधान आदि निमित्तों से (स्मृति उत्पन्न होती है) ॥

१-स्मरण की इच्छा से मन को किसी एक विषय में लगादेना प्रणिधान कहलाता है, इस से स्मृति उत्पन्न होती है। २ एक ग्रन्थ में अनेक अर्थों के परस्पर सम्बन्ध को निबन्ध कहते हैं, जिस से एक अर्थ का ज्ञान दूसरे अर्थ की स्मृति का हेतु होता है। ३ किसी विषय का बार बार बोध होने से जो तद्विषयक संस्कार उत्पन्न होते हैं, उन को अभ्यास कहते हैं, यह भी स्मृति का कारण है। ४ लिङ्ग अर्थात् धूम को देखने से लिङ्गी

अग्नि का स्मरण होता है । ५ लक्षण चिन्ह को कहते हैं, जैसे कपि की ध्वजा देखकर अर्जुन का और काषाय वस्त्र देख कर यति का स्मरण होता है । ६ सादृश्य अर्थात् समता, जैसे चित्र (फ़ोटो) को देख कर चित्रस्थ व्यक्ति का स्मरण होता है । ७ परिग्रह=स्वस्वामिभाव, जैसे सेवक के देखने से स्वामी और स्वामी के देखने से सेवक का स्मरण होता है । ८-९ आश्रय और आश्रित, ये दोनों एक दूसरे के स्मारक होते हैं, जैसे अध्यक्ष अपने अधीन का और और अधीन अपने अध्यक्ष का । १० सम्बन्ध=जैसे गुरु से शिष्य और शिष्य से गुरु का स्मरण होता है । ११ आनन्तर्य=एक काम के पीछे जो दूसरा कियाजाय जैसे ब्रह्मयज्ञ के पश्चात् देवयज्ञ का स्मरण होता है । १२ वियोग-जिस का वियोग होता है, उस का स्मरण होता है। १३ एककार्य-यदि अनेक एक कामके करने वाले हों तो वे परस्पर एक दूसरेके स्मारक होते हैं । १४ विरोध=जिनका आपस में विरोध है वे भी एक दूसरे के स्मारक होते हैं, जैसे सर्प से नकुल का और नकुल से सर्प का। १५ अतिशय=बाहुल्य से, जैसे अतिदर्प से रावण का और अति बल से भीम का स्मरण होता है।१६ प्राप्ति=जिस से जिस को जिस की प्राप्ति होती है वा होने वाली है वह उस प्राप्तिके निमित्त से उस को स्मरण करता है । १७ व्यवधान=आवरण, जैसे भित्ति के देखने से गृह और म्यान के देखने से खड्ग का स्मरण होता है । १८-१९ सुख, दुःख से इनके हेतु का; २० इच्छा और २१ द्वेष से इष्ट और अनिष्ट का; २२ भय से, जिस से डरता है, उस का; २३ अर्थित्व से दाता का; २४ क्रियासे कर्त्ता का; २५ राग से जिस को चाहता है, उस का; २६ धर्म और २७ अधर्म से सुख दुःख तथा उन के अदृष्ट कारणों का स्मरण होता है ॥

बुद्धि का आत्मधर्म होना सिद्ध कर चुके, अब यह संदेह होता है कि बुद्धि शब्दवत् उत्पत्ति और विनाश वाली है अथवा कुम्भवत् कालान्तर तक ठहरने वाली है, इन दोनों पक्षों में से पहला पक्ष सिद्ध करते हैं:—

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥ ४५ ॥ (३१८)

उ०-अनवस्थायी कर्म के ग्रहण करने से (बुद्धि उत्पत्ति और विनाश वाली है) ॥

प्रत्येक अर्थ के लिये बुद्धि नियत है, जब तक जिस अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि के साथ रहता है, तब तक ही तद्विषयिणी बुद्धि भी रहती है, अर्थ के प्रत्यक्ष होने पर बुद्धि की उत्पत्ति और विनाश होने पर बुद्धि का नाश हो

जाता है, जैसे जब तक कोई पदार्थ सामने धरा है, तब तक उस का ज्ञान है और जब वह परोक्ष हो जाता है तब उस का ज्ञान भी नहीं रहता, अतएव अस्थायी कर्म की ग्राहक होने से बुद्धि क्षणिक है॥

फिर इसी की पुष्टि करते हैं:—

बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः ॥ ४६ ॥ (३१९)

उ०-बुद्धि के अवस्थान से प्रत्यक्ष होने पर स्मृति का अभाव होता है ॥

जब तक ज्ञान रहता है, तब तक ज्ञेय पदार्थ प्रत्यक्ष रहता है, प्रत्यक्ष के विद्यमान होने पर स्मृति उत्पन्न हो नहीं सक्ती। जब तक प्रत्यक्ष है तब तक स्मृति नहीं और जब स्मृति है तो प्रत्यक्ष नहीं अतएव बुद्धि अनित्य है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वात् विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ ४७ ॥ (३२०)

पू०-अनवस्थायी होने से जैसे बिजली के गिरने पर उसका अस्पष्ट रूप ग्रहण किया जाता है, ऐसे ही ज्ञेय का अस्पष्ट ग्रहण होगा ॥

यदि बुद्धि उत्पत्ति और विनाश धर्म वाली है तो उस से ज्ञेय का स्पष्ट रूप से ग्रहण न होना चाहिये, जैसे बिजली के गिरते समय उस के प्रकाश के अस्थिर होने से रूप का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, परन्तु बुद्धि से तो द्रव्यों का स्पष्ट ज्ञान होता है, इस लिये यह कथन अयुक्त है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:—

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याऽभ्यनुज्ञा ॥ ४८ ॥ (३२१)

उ०-हेतु के उपादान से प्रतिषेद्धव्य अर्थ का अङ्गीकार है ॥

प्रतिवादी ने जो बिजली का दृष्टान्तरूप हेतु दिया है, उस से ही बुद्धि का अनवस्थित होना सिद्ध है, क्योंकि जैसे विद्युत्प्रकाश के अस्थायी होने से केवल उस का ही अव्यक्त ग्रहण होता है नकि उन पदार्थों का जिन पर बिजली का प्रकाश पड़ता है, ऐसे ही बुद्धि के अस्थायी होने से केवल उस का ही अव्यक्त ग्रहण है, नकि बुद्धिगम्य पदार्थों का, अतएव प्रतिवादी के ही हेतु से बुद्धि का अनित्य होना सिद्ध है ॥ पुनः उसी अर्थ की पुष्टि करते हैं:-

प्रदीपार्चिःसन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥ ४९ ॥ (३२२)

उ०-दीप ज्योति के लगातार स्पष्ट ग्रहण के समान उस का भी ग्रहण होगा ॥

यदि हम बुद्धि को विजली के समान अव्यक्तरूप न मानें किन्तु दीप की ज्योति के समान व्यक्तरूप भी मानलेवें तब भी तो वह स्थायी नहीं हो सकती। जैसे दीप की ज्योति लगातार नई २ उत्पन्न होती और नष्ट होती जाती है. ऐसे ही बुद्धि भी अनेक प्रकार की उत्पन्न हो २ कर नष्ट होती जाती है ॥

बुद्धि की अनित्यता का प्रकरण समाप्त हुवा। अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि शरीर में जो चेतनता जान पड़ती है वह शरीर का धर्म है अथवा किसी अन्य का? प्रथम सन्देह का कारण कहते हैं:-

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥५०॥ (३२३)

पू०-द्रव्य में स्वगुण और परगुण की उपलब्धि से संशय होता है ॥

जल में अपना गुण द्रवत्व और परगुण उष्णत्व पाया जाता है इस से सन्देह होता है कि शरीर में जो चेतनत्व पाया जाता है, यह इस का अपना गुण है वा किसी अन्य द्रव्य का?

चेतनता शरीर का गुण नहीं है, अब यह सिद्ध करते हैं:-

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ ५१ ॥ (३२४)

उ०-रूपादि गुणों के यावच्छरीरभावी (जब तक शरीर है, तब तक वर्त्तमान) होने से चेतनता शरीर का गुण नहीं है ॥

रूपादिगुणरहित शरीर देखने में नहीं आता परन्तु चेतनाशून्य शरीर देखा जाता है, यदि चेतनत्व शरीर का गुण होता तो वह जब तक शरीर रहता, रूपादिवत् उस से पृथक् न होता, परन्तु वह शरीर के रहते हुवे भी उस से पृथक् होजाता है, इस लिये शरीर का गुण नहीं ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ५२ ॥ (३२५)

पू०-पाक से उत्पन्न अन्य गुण की उत्पत्ति होने से, उक्त कथन ठीक नहीं॥

जैसे पकाने पर कोई द्रव्य श्यामवर्ण होता है फिर उस के मिट जाने पर वही रक्तवर्ण होजाता है, ऐसे ही शरीर में भी कभी चेतनता का अभाव और कभी भाव हो जायगा ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥ (३२६)

उ०-विरोधी गुणों की सिद्धि होने से पाकजों में निषेध नहीं होसक्ता ॥

जितने पदार्थों में पूर्व गुण के विरोधी अपर गुण की सिद्धि रहती है, उतनों में पाकज गुण देखने में आते हैं क्योंकि पूर्व गुणों के साथ पाकजन्य गुणों की स्थिति नहीं होती, परन्तु शरीर में चेतना का विरोधी दूसरा कोई गुण देखने में नहीं आता, इस लिये हम उस भावाऽभाव की कल्पना क्यों करें। यदि चेतना शरीर का गुण होता तो वह जब तक शरीर है तब तक उस में रहती, परन्तु ऐसा नहीं है, इस लिये चेतना शरीर का गुण नहीं ॥

अब प्रकृत अर्थ की पुष्टि में दूसरा हेतु देते हैं:—

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५४ ॥ (३२७)

उ०-शरीरव्यापी होने से (चेतना शरीर का गुण नहीं) ॥

शरीर और शरीर के सब अवयव चेतना से व्याप्त हैं, कहीं पर भी चेतना का अभाव नहीं इस दशा में शरीर के समान शरीर के सब अवयव भी चेतन मानने पड़ेंगे, तो अनेक चेतन होजायंगे, तब जैसे प्रतिशरीर में अनेक चेतनों के होने पर सुख दुःख की व्यवस्था भिन्न २ है, ऐसे ही एक शरीर में भी होनी चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता अर्थात् एक शरीर में सुख दुःख की व्यवस्था भिन्न २ प्रकार की नहीं देखी जाती किन्तु एक ही प्रकार की देखी जाती है, इस लिये चेतना शरीर का गुण नहीं है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५५ ॥ (३२८)

पू०-केश और नख आदि में (चेतना की) उपलब्धि न होने से (उक्त कथन ठीक नहीं) ॥

केश और नख आदि में चेतनता का अभाव है इस लिये यह कथन कि शरीर के सब अवयव चेतनता से व्याप्त हैं, ठीक नहीं ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥ ५६ ॥ (३२९)

उ०-शरीर के त्वचा पर्यन्त होने से केश नख आदि में (चेतनता की) प्रसक्ति नहीं होती ॥

चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय तथा जीव के सुख दुःख संवेदन का आयतन जो शरीर है, उस की सीमा त्वचा पर्यन्त है, केश नखादि उस से बाहर हैं, इस लिये उन में चेतनता न होने से उस के शरीरव्यापित्व में कोई दोष नहीं आता ॥ इसी अर्थ की पुष्टि में अब दूसरा हेतु देते हैं:-

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥ ५७ ॥ (३३०)

उ०-शरीर गुणों के साथ वैधर्म्य होने से (चेतनता शरीर का गुण नहीं)

शरीर के गुण दो प्रकार देखने में आते हैं, एक प्रत्यक्ष-जैसे रूपादि दूसरे अप्रत्यक्ष-जैसे गुरुत्वादि, चेतना इन दोनों से विलक्षण है, मन का विषय होने से इन्द्रियग्राह्य नहीं और ज्ञान का विषय होने से अप्रत्यक्ष भी नहीं। इस लिये शरीर के गुणों से विलक्षण होने के कारण चेतना शरीर का गुण नहीं॥ अब पुनः शङ्का करते हैं:-

न, रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥ ५८ ॥ (३३१)

पू०-रूपादिकों के परस्पर वैधर्म्य होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं॥

जैसे शरीर से वैधर्म्य रखते हुवे रूपादि शरीर के गुण माने जाते हैं, ऐसे ही रूपादि से विलक्षण चेतना शरीर का गुण क्यों नहीं? अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:-

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥ ५९ ॥ (३३२)

उ०-इन्द्रियग्राह्य होने से रूपादिकों के शारीरिक गुण होने का निषेध नहीं हो सकता॥

जैसे परस्परविरुद्ध धर्म वाले रूप और इन्द्रिय द्वैविध्य (द्वैतभाव) को नहीं छोड़ते, ऐसे ही चेतनता भी यदि शरीर का गुण होती तो द्वैविध्य को न छोड़ती, परन्तु छोड़ती है, अर्थात् चेतनता किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं की जाती, इस लिये वह शरीर का गुण नहीं। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि जब यह सिद्ध कर चुके कि ज्ञान-भूतों, इन्द्रियों और मन का गुण नहीं है, तब इस प्रसङ्ग की क्या आवश्यकता थी कि चेतनता शरीर का गुण है वा नहीं? क्योंकि यह बात तो स्वयमेव सिद्ध हो गई। इस का उत्तर यह है कि जिस बात की कई प्रकार से परीक्षा की जाती है, वह सुनिश्चत होजाती है और फिर उस में कोई सन्देह नहीं रहता॥

बुद्धि की परीक्षा हो चुकी, अब मन की परीक्षा की जाती है। पहिले यह विचार किया जाता है कि मन प्रति शरीर में एक है वा अनेक?

ज्ञानाऽयौगपद्यादेकं मनः ॥ ६० ॥ (३३३)

उ०-एक काल में अनेक ज्ञान न होने से मन एक है॥

एक इन्द्रिय एक समय में एक ही ज्ञान उत्पन्न करा सकता है, यदि एक शरीर में बहुत से मन होते तो उन का सब इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने

से एक काल में अनेक ज्ञान उत्पन्न होते, परन्तु ऐसा नहीं होता, इस लिये मन एक ही है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं :—

न, युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ६१ ॥ (३३४)

पू०-एक समय में अनेक क्रियाओं की उपलब्धि होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं।

एक पढ़ने वाला पढ़ता, चलता, मार्ग को देखता, वन के शब्दों को सुनता, डरता हुवा सर्प के चिन्हों को जानने की इच्छा करता है और जिस स्थान को जाना चाहता है, उस का स्मरण भी करता है। यहां क्रम के न होने से एक साथ अनेक क्रिया उत्पन्न होती हैं, इस लिये मन अनेक हैं ॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६२ ॥ (३३५)

उ०-अलातचक्र (आतिशबाज़ी की चर्खी) के देखने के समान शीघ्र चलने से उस की उपलब्धि होती है ॥

शीघ्रगामी होने से घूमते हुवे अलातचक्र का विद्यमान क्रम नहीं जाना जाता, केवल एक घूमता हुवा चक्र सा जान पड़ता है। ऐसे ही बुद्धि और क्रियाओं के आशुगामी होने से विद्यमान भी क्रम जाना नहीं जाता, क्रम के न जान पड़ने से एक साथ क्रियायें होती हैं, ऐसा जान पड़ता है। अब यहां पर यह शङ्का होती है कि क्रम के न जानने से एक साथ अनेक क्रियाओं का भान होता है वा वस्तुतः एक साथ अनेक क्रियाओं का ग्रहण होने से ही ऐसा भान होता है ? इस का उत्तर पहले दे चुके हैं कि भिन्न २ इन्द्रियों से क्रमपूर्वक ही भिन्न २ इन्द्रियों का ज्ञान होता है और यह अनुभवसिद्ध होने से अखण्डनीय है ॥

इस विषय में दूसरा दृष्टान्त वर्ण, पद और वाक्य का भी है। पहिले क्रमपूर्वक वर्णों का उच्चारण होता है, जिस से सार्थक पद बनते हैं। फिर क्रमशः पदों के जोड़ने से वाक्य बनता है, जिस से श्रोता को उस के अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। यद्यपि ये सब काम क्रमपूर्वक होते हैं तथापि शीघ्रता के कारण क्रम पर ध्यान नहीं दिया जाता ॥

अब मन का अणु होना सिद्ध करते हैं:—

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६३ ॥ (३३६)

उ०-उक्त हेतु से (मन) अणु भी है ॥

एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने रूप हेतु से ही मन का अणु होना भी सिद्ध होता है क्योंकि यदि मन व्यापक होता तो सब इन्द्रियों के साथ उस का संयोग होने से एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न हो जाते पर ऐसा नहीं होता, इस से मन का अणुत्व भी सिद्ध है ॥

मन की परीक्षा हो चुकी, अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि शरीर की उत्पत्ति जीवों के कर्माधीन है? अथवा स्वतन्त्र पञ्चभूतों से होती है?

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ६४ ॥ (३३७)

उ०-पूर्व (शरीर में) किये (कर्मों के) फलों के अनुबन्ध [लगाव] से उस (शरीर) की उत्पत्ति होती है ॥

पूर्वजन्म में जो कर्म किये हैं, उन के फलरूप जो धर्माधर्म के संस्कार हैं, उन से प्रेरित हुवे पञ्चभूतों से शरीर की उत्पत्ति होती है, न कि स्वतन्त्र भूतों से। जिस अधिष्ठान में यह आत्मा अहङ्कार से युक्त हुआ भोगों की तृष्णा से विषयों को भोगता हुवा धर्माऽधर्म का सम्पादन करता है, वह इस का शरीर है। धर्माऽधर्म के संस्कारों से युक्त इस भौतिक शरीर के नष्ट होने पर दूसरा शरीर बनता है और बने हुवे इस शरीर की पूर्व शरीर के समान पुरुषार्थ, क्रिया और पुरुष की प्रवृत्ति होती हैं, यह बात कर्मापेक्ष भूतों से ही शरीर की उत्पत्ति मानने से सिद्ध हो सकती है, अन्यथा नहीं! अब इस पर नास्तिक शङ्का करता है:—

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम् ॥ ६५ ॥ (३३८)

पू०-भूतों से मूर्त्ति की उत्पत्ति के समान उस की (शरीर की भी) उत्पत्ति (माननी चाहिये) ॥

जैसे कर्मनिरपेक्ष भूतों से रेत, कङ्कर, पत्थर और गेरू आदि पदार्थ बनते हैं, वैसे ही शरीर भी उन से बन सकता है॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

न, साध्यसमत्वात् ॥ ६६ ॥ (३३९)

उ०-साध्यसम होने से (उक्त दृष्टान्त) युक्त नहीं है ॥

जैसे कर्मनिरपेक्ष शरीरोत्पत्ति साध्य है, ऐसे ही कर्मनिरपेक्ष बालू, कङ्कर आदि पदार्थों की भी उत्पत्ति साध्य है, अतएव साध्यसम (हेत्वाभास) होने से उक्त दृष्टान्त अयुक्त है ॥ पुनः शङ्का करते हैं:—

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६७ ॥ (३४०)

तथाहारस्य ॥ ६८ ॥ (३४१)

पू०-माता, पिता तथा आहार के उत्पत्ति निमित्त होने से (कर्मनिमित्त) नहीं है॥

शरीर की उत्पत्ति माता पिता के रज, वीर्य एवं आहार से होती है, जिस को सब जानते और मानते हैं, फिर इन प्रसिद्ध और अनुभवसिद्ध कारणों को छोड़ कर अदृष्ट कर्म को निमित्त मानने में कोई कारण नहीं दीखता ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६९ ॥ (३४२)

उ०-प्राप्ति में नियम न होने से (उक्त कथन ठीक नहीं) ॥

यदि कर्म की उपेक्षापूर्वक माता पिता और आहारादि शरीर का कारण होते तो सर्वदा और सर्वत्र स्त्री पुरुषों का संयोग गर्भाधान का कारण होता, परन्तु ऐसा नहीं होता, इस से सिद्ध है कि प्रारब्ध कर्मानुसार ही रज वीर्य गर्भ में परिणत होते हैं तथा परिपक्व आहार उस की वृद्धि का कारण होता है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म॥७०॥ (३४३)

उ०-जैसे शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है वैसे ही (आत्मा और शरीर के) संयोग की उत्पत्ति का निमित्त (भी) कर्म है ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

एतेनाऽनियमः प्रत्युक्तः ॥ ७१ ॥ (३४४)

उ०-इस से अनियम का खण्डन किया गया ॥

शरीर की रचना में कर्म को निमित्त न मानने से जो अव्यवस्था उत्पन्न हुई थी, उस का पूर्व सूत्र से खण्डन हो गया। वह क्या अव्यवस्था थी? कोई उत्तम कुल में जन्म लेता, कोई नीच कुल में, किसी का देह उत्तम, किसी का निकृष्ट, कोई रोगी, कोई नीरोग, कोई सर्वाङ्गसम्पन्न, कोई विकलाङ्ग [अङ्गहीन], कोई दुःखी, कोई सुखी, कोई स्वस्थेन्द्रिय, कोई निर्बलेन्द्रिय, कोई पुरुष, कोई नपुंसक, और कोई स्त्री इत्यादि और भी अनेक सूक्ष्म भेद हैं जो समझ में नहीं आते। ये सब अवस्थाभेद प्रत्येक आत्मा के नियत कर्मों के भेद से सिद्ध होते हैं, कर्मभेद के अभाव में सब आत्माओं के तुल्य

होने से तथा पञ्चभूतों के नियामक न होने से सब आत्माओं के एक जैसे शरीर होने चाहिये थे, पर नहीं हैं। इसलिये शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं॥

इसी पर और पुष्टि करते हैं:—

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥ ७२ ॥ (३४५)

उ०-कर्मक्षय की उपपत्ति होने से उस का [आत्मा का शरीर से] वियोग सिद्ध है॥

कर्मापेक्ष शरीर की उत्पत्ति मानने से ही कर्म के नाश होने पर शरीर के साथ आत्मा का वियोग भी सिद्ध होता है और जो शरीर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानोगे तो पञ्चभूतों के नाश न होने से शरीर और आत्मा का वियोग कभी न होगा॥ अन्य शङ्का करते हैं:—

तददृष्टकारितमिति चेत्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥ ७३ ॥ (३४६)

पू०-यदि उस को अदृष्ट (प्रारब्ध) कारित (मानोगे) तो फिर मोक्ष में भी उस (शरीर) प्रसङ्ग होगा॥

यदि भूतों से शरीर की उत्पत्ति को अदृष्टकारित मानोगे अर्थात् प्रारब्ध कर्म को ही शरीरोत्पत्ति का निमित्त मानोगे तो मुक्ति में भी इस (शरीर प्राप्ति) की प्रसक्ति होगी॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

न, करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ॥ ७४ ॥ (३४७)

उ०—करण और अकरण के आरम्भ देखने से (उक्त वचन ठीक नहीं॥

करने और न करने के आरम्भ को देखते हैं कि आत्मा कर्म करता और नहीं भी करता। बस ज्ञान होजाने पर कर्म का त्याग मुक्ति में शरीर नहीं होने देगा॥ और—

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ७५ ॥ (३४८)

उ०—मनः कर्म के निमित्त मानने से संयोग का अनुच्छेद होगा॥

यदि अपने कर्म से मन को ही शरीरोत्पत्ति निमित्त मानोगे तो संयोग का नाश न होगा, क्योंकि जो मन शरीर और आत्मा के संयोग में हेतु है, वही वियोग का भी कारण हो, यह सर्वथा अनुपपन्न है॥ तथा—

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७६ ॥ (३४९)

उ०—मरण की अनुपपत्ति होने से नित्यत्व की प्रसक्ति होगी॥

यदि कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानोगे तो फिर किस के नाश से शरीर का पतन होगा ? और उस (मरण) के अभाव में शरीर को नित्यत्व का प्रसङ्ग होगा ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ॥ ७७ ॥ (३५०)

पू०-जैसे परमाणुओं की श्यामता नित्य है वैसे ही यह भी हो जायगा॥

जैसे परमाणुओंकी श्यामता (जो नित्य है) अग्निसंयोग से निवृत्त हुई पुनः उत्पन्न नहीं होती, ऐसे ही स्वतन्त्र पञ्चभूतोत्पन्न शरीर मुक्ति में पुनः उत्पन्न न होगा ॥ अब इन का समाधान करते हैं:-

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७८ ॥ (३५१)

उ०-अकृताभ्यागम के प्रसङ्ग होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

परमाणुओं की श्यामता के दृष्टान्तसे कर्मानपेक्ष शरीरकी उत्पत्ति मानने में अकृताभ्यागम दोष आता है अर्थात् सुख दुःख के हेतु कर्मों के किये विना ही पुरुष को सुख और दुःख भोगने पड़तेहैं, यह बात प्रत्यक्ष,अनुमान और शास्त्र के विरुद्ध है । पहिले प्रत्यक्ष का विरोध दिखलाते हैं-प्रत्यात्म वेदनीय होने से सुख दुःख भिन्न २ हैं अर्थात् प्रत्येक प्राणी के लिये सुख दुःख की व्यवस्था एक जैसी नहीं है, तब कर्म रूप हेतु के अभाव में प्रत्येक आत्मा के लिये नियत सुख और दुःख का कारण क्या है ? कारणभेद न होने पर भी कार्यभेद क्यों दीखता है ? दूसरे अनुमान का विरोध यह है कि जीवों को यहां विना यत्न के जो सुख दुःख होते हैं, उन का कोई कारण अवश्य होना चाहिये और दृष्टकारण कोई देखने में नहीं आता, तब पूर्वजन्मकृत कर्मों के अतिरिक्त और क्या कारण होसकता है ? कर्म को हेतु न मानने से इस अनुमान का विरोध आता है । अब रहा तीसरा आगम का विरोध, वह यह है कि वेद और अनेक महात्मा ऋषियों ने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का उपदेश किया है, जिस के अनुसार मनुष्य वर्णाश्रम के विभाग से अपने कर्त्तव्य में प्रवृत्त और अकर्त्तव्य से निवृत्त होते हैं, यह बात शरीरोत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानने से सिद्ध नहीं होती । इस लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम का विरोध होने से कर्मानपेक्ष सृष्टि की कल्पना मिथ्या है ॥

इति न्यायदर्शनभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

समाप्तश्चायं तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम्

तीसरे अध्याय में कारण रूप आत्मादि ६ प्रमेयों की परीक्षा की गई अब चौथे अध्याय में कार्यरूप प्रवृत्त्यादि शेष ६ प्रमेयों की परीक्षा की जाती है। प्रथम प्रवृत्ति और दोष की परीक्षा करते हैं:—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥ (३५२) तथा दोषाः ॥ २ ॥ (३५३)

जैसे प्रवृत्ति का निरूपण कर चुके हैं वैसे ही दोषों का भी निर्वचन किया जा चुका है॥

पहिले अध्याय के १७ वें और १८ वें सूत्र में प्रवृत्ति और दोषों का वर्णन कर चुके हैं, वहीं पर इन की सामान्य परीक्षा भी हो चुकी है, इस लिये यहां उपेक्षा कीगई ॥ अब दोषों के भेद कहते हैं:-

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥ ३ ॥ (३५४)

उन (दोषों) के अवान्तर भेद वाले होने से राग, द्वेष और मोह ये तीन राशि (समूह) हैं॥

काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा और लोभ ये राग के अन्तर्गत हैं, क्रोध, ईर्ष्या, असूया, द्रोह और अमर्ष ये द्वेष के अन्तर्गत हैं और मिथ्याज्ञान, संशय, मान और प्रमाद ये मोह के अन्तर्गत हैं। इन में से राग प्रवृत्ति मूलक है, द्वेष क्रोधजनक है और मोह मिथ्याज्ञानोत्पादक है॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥ (३५५)

पू०-एक के विरोधी होने से (रागादि भिन्न) नहीं हैं॥

एक तत्त्वज्ञान राग द्वेष और मोह इन सब का विरोधी है अर्थात् तत्त्वज्ञान के होते ही ये सब नष्ट होजाते हैं, इस लिये इन के तीन भेद ठीक नहीं, क्योंकि यदि तीन भेद माने जावें तो फिर इन के प्रतिद्वन्द्वी भी तीन ही होने चाहियें, जो कि प्रतिद्वन्द्वी इन का एक तत्त्वज्ञान है, इस लिये इन में भी एकत्व होना चाहिये॥ अब समाधान करते हैं:-

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥ (३५६)

उ०-व्यभिचार होने से (उक्त हेतु) अहेतु है॥

उक्त हेतु में व्यभिचार आता है, क्योंकि श्याम, हरित और पीत आदि

वर्णों का एक अग्निसंयोग विरोधी है, पर वे सब भिन्न २ हैं, इसी प्रकार राग आदि भी एकविरोधी होने से परस्पर भिन्न रह सकते हैं ॥

अब उन तीनों समूहों में मोह का प्राधान्य दिखलाते हैं:—

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥ (३५७)

उ०- उन में मोह बड़ा पापी है (क्योंकि) जिस को मोह नहीं, उस को इतर (राग द्वेष) नहीं होते ॥

यद्यपि " द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ५ । ३ । ५७ " इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार दो में से एक के निर्धारण में ' तरप् ' और ' ईयसुन् ' प्रत्यय होते हैं, यहां ' तेषाम् ' बहुवचन में ' ईयसुन् ' किया गया है, इस का कारण यह है कि सूत्रकार ने राग और मोह में तथा द्वेष और मोह में, ऐसा विभाग मानकर ईयसुन् प्रत्ययान्त 'पापीयान्' शब्द का प्रयोग किया है । विषयों में रञ्जनीय सङ्कल्प राग के कारण और कोपनीय सङ्कल्प द्वेष के कारण उत्पन्न होते हैं, दोनों प्रकार के सङ्कल्प मिथ्याप्रतिपत्ति रूप होने से मोहजन्य हैं, अतः मोह ही रागद्वेष का भी कारण है, तत्वज्ञान से मोह की निवृत्ति होने पर रागद्वेष उत्पन्न ही नहीं होते, अतएव इन तीनों में मोह ही प्रधान है ॥ अब शङ्का करते हैं:-

प्राप्तस्तर्हि निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ॥ ७ ॥ (३५८)

पू०-तो फिर कार्यकारण भाव होने से दोषों से भिन्नता प्राप्त होगी ॥

कारण से कार्य भिन्न होता है, जब कि मोह-रागादि दोषों का कारण है तो फिर वह आप दोष नहीं हो सकता ॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥ (३५९)

उ०-मोह के दोषलक्षणों में अवरुद्ध होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

" प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः " इस सूत्र के अनुसार दोष का लक्षण प्रवृत्तिजनकत्व है सो इस लक्षण से मोह भी लक्षित है, फिर वह दोष क्यों नहीं ?

अब कार्यकारण भाव का उत्तर देते हैं:—

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥ (३६०)

उ०-तुल्यजातीय द्रव्यों में कार्यकारणभाव की उपपत्ति होने से (कार्य कारणभाव) बाधक नहीं हो सकता ॥

समानजातीय द्रव्य और गुणों का अनेक प्रकार से कार्य कारणभाव देखने में आता है अर्थात् कोई किसी का कारण होता है और कोई किसी का कार्य। जैसे जल पृथिवी का कारण है और तेज का कार्य, परन्तु इस कार्यकारणभाव के होने से इन के द्रव्यरूप समानजातीयत्व धर्म में कोई बाधा नहीं पड़ती। ऐसे ही मोह के रागद्वेष का कारण होने पर भी उस के दोषत्व में कुछ हानि नहीं पड़ सकती ॥

अब नवम प्रमेय प्रेत्यभाव की परीक्षा की जाती है:—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥ (३६१)

आत्मा के नित्य होने पर "प्रेत्यभाव" की सिद्धि होती है ॥

पुनः उत्पत्ति का नाम प्रेत्यभाव है, सो वह आत्मा के नित्य होने पर ही सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि नित्य आत्मा पूर्वशरीर को छोड़कर दूसरे शरीर का ग्रहण करता है, यह विना आत्मा के नित्यत्व के हो नहीं सकता, जो केवल शरीर की उत्पत्ति और उस के नाश ही को प्रेत्यभाव मानते हैं, उन के मत में कृतहान और अकृताभ्यागम दोष आता है और ऋषियों के उपदेश भी निरर्थक होते हैं ॥ अब उत्पत्ति का प्रकार दिखलाते हैं:-

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥ (३६२)

व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है, प्रत्यक्ष प्रमाण होने से ॥

रूपादिगुणयुक्त इन्द्रियग्राह्य पृथिव्यादि कारणों से वैसे ही शरीरादि कार्य उत्पन्न होते हैं, इस में प्रत्यक्ष प्रमाण है, जैसे रूपादि गुणयुक्त मृत्तिकादि द्रव्य से वैसे ही घटादि पदार्थों की उत्पत्ति देखने में आती है, इस से अदृष्ट में भी यही अनुमान होता है कि व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होती है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥ १२ ॥ (३६३)

पू०-घट से घट की उत्पत्ति न होने के कारण (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

घट से घट की उत्पत्ति नहीं होती यह भी प्रत्यक्षसिद्ध है, अतएव व्यक्त का कारण व्यक्त नहीं ॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥ (३६४)

उ०-व्यक्त से घट की उत्पत्ति का निषेध नहीं हो सकता ॥

हम यह नहीं कहते कि सर्वत्र व्यक्त ही व्यक्त का कारण है किन्तु हमारा कथन यह है कि जो व्यक्त कार्य उत्पन्न होता है वह " कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः " इस काणाद सिद्धान्त के अनुसार वैसे ही कारण से उत्पन्न होता है। मृत्तिका, जिस से घट बनता है, व्यक्त है, इस को कोई छिपा नहीं सकता ॥ इस के अनन्तर प्रतिवादियों के विचार दिखलाये जाते हैं:—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥१४॥ (३६५)

पू०-अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है (बीज का) नाश हुवे बिना (अङ्कुर की) उत्पत्ति न होने से ॥

जब तक बीज गल कर नष्ट नहीं हो जाता तब तक उस में से अङ्कुर नहीं निकलता इस से सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥ (३६६)

उ०-व्याघात होने से (उक्त कथन) अयुक्त है ॥

जो उपमर्दन करता है वह स्वयं उपमर्दित होकर प्रकट नहीं होसकता क्योंकि पहिले ही विद्यमान है और जो प्रकट होता है वह उपमर्दक नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकट होने के पूर्व वह विद्यमान ही नहीं ॥

अब इस में पूर्वपक्षी दूषण देता है:—

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥ (३६७)

पू०-अतीत और अनागत में कारकशब्द का प्रयोग होने से (उक्त पक्ष) नहीं ॥

अतीत और अनागत अर्थात् अविद्यमान में भी कारक शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे पुत्र उत्पन्न होगा, उत्पन्न होने वाले पुत्र का हर्ष करता है, घट था, टूटे हुवे घट का शोक करता है। इत्यादि बहुधा प्रयोग देखने में आते हैं। इसी प्रकार प्रकट होने वाला अङ्कुर उपमर्दन करता है, इस लिये हमारे पक्ष में उक्त दोष नहीं आसकता ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

न, विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥ (३६८)

उ०-नष्ट (वीजादि) से (अङ्कुरादि की) उत्पत्ति न होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

नष्ट वीज से अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, इस लिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होसकती, इस लिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

क्रमनिर्द्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥ (३६९)

उ०-क्रम के निर्द्देश से निषेध नहीं हो सकता ॥

उपमर्द्द और प्रादुर्भाव का जो पौर्वापर्य नियम है, वह क्रम कहलाता है, अङ्कुरोत्पत्ति में वही हेतु है अर्थात् पहिले बीज जब गल जाता है तब उस से अङ्कुर उत्पन्न होता है, बीज गलने से नष्ट नहीं होजाता किन्तु उस की रचना विशेष में कुछ परिणाम होकर अङ्कुरोत्पत्ति करने में समर्थ होजाता है। यदि नष्ट बीज अङ्कुरोत्पत्ति करने में समर्थ होता तो जला हुआ या पिसा हुआ बीज भी अङ्कुरोत्पत्ति कर सकता, परन्तु ऐसा नहीं होता, इस से सिद्ध है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती और बीज के अवयवों से भिन्न अङ्कुर की उत्पत्ति में और कोई कारण नहीं इस लिये बीज ही अङ्कुर का उपादान कारण है ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥ (३७०)

पू०-पुरुष के कर्मों का वैफल्य देखने से ईश्वर (ही जगत् का) कारण है ॥

पुरुष इच्छा करता हुवा उद्योग करता है, परन्तु अपनी इच्छानुसार फल नहीं पाता, इस से अनुमान होता है कि पुरुषार्थ का फल पराधीन है, जिस के अधीन है, वह ईश्वर है, इस लिये ईश्वर ही शरीरोत्पत्ति का भी कारण है ॥ दूसरा कहता है:-

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥ (३७१)

पुरुष के कर्म के अभाव में फल की निष्पत्ति न होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

जो फल की निष्पत्ति ईश्वर के ही अधीन होती तो विना पुरुषार्थ के भी कार्यसिद्धि होजाती पर विना उद्योग के कोई कार्य सिद्ध नहीं होता, इस लिये उक्त पक्ष ठीक नहीं ॥ अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं:—

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ २१ ॥ (३७२)

ईश्वरकारित होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

कर्म के द्वारा जो पुरुष को फल मिलता है वह ईश्वरकारित है क्योंकि बिना ईश्वर की प्रेरणा वा योजना के कर्म जड़ होने से स्वयं फलनिष्पत्ति में असमर्थ है, इस से यह सिद्ध होता है कि विना कर्म के न तौ ईश्वर ही किसी को फल देता है क्योंकि वह नियामक और न्यायकारी है और न बिना ईश्वर के कर्म ही किसी को फल देने में समर्थ हो सकता है क्योंकि वह जड़ है, और चेतन के अधीन है। जैसे बीज बिना कृषक के और कृषक बिना बीज के फलोत्पत्ति करने में असमर्थ हैं, ऐसे ही ईश्वर और कर्म ये दोनों फलनिष्पत्ति में सापेक्ष हैं ॥ अब तीसरा कहता है:-

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिःकण्टकतैक्ष्ण्यादि दर्शनात् ॥ २२ ॥ (३७३)

पू०-अनिमित्त से भावों की उत्पत्ति होती है कण्टकादि में तीक्ष्णता आदि के देखने से ॥

कांटे का तीखापन, पहाड़ी धातुओं की विचित्रता और पत्थरों का चिकनापन स्वभाव से ही विना किसी निमित्त के दीख पड़ता है, इस से सिद्ध है कि विना निमित्त के पदार्थों की उत्पत्ति होती है ॥

आगे इस का खण्डन करते हैं:—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नाऽनिमित्ततः ॥ २३ ॥ (३७४)

पू०-अनिमित्त के निमित्त होने से अनिमित्त से (उत्पत्ति)नहीं होती ॥

जिस से जो उत्पन्न होता है वह उस का निमित्त कहलाता है, जब तुम्हारे कथनानुसार अनिमित्त से भाव की उत्पत्ति होती है तौ वही उस का निमित्त हुवा, फिर अनिमित्तक उत्पत्ति कहां रही? अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं:-

निमित्ताऽनिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥२४॥ (३७५)

उ०-निमित्त और अनिमित्त के भिन्न२ पदार्थ होने से निषेध नहीं हो सकता।

निमित्त और वस्तु है और अनिमित्त और। प्रत्याख्येय (खण्डनीय) और प्रत्याख्यान (खण्डन) एक नहीं होते। जैसे " अनुदकः कमण्डलुः "

कहने से जल का निषेध समझा जाता है, न कि " अनुदकोदकः " जल, जल का निषेध हो सकता है, सो यह पक्ष भी अकर्मनिमित्तक शरीरादि की उत्पत्ति से भिन्न नहीं है, अतएव उस के खण्डन से ही इस का खण्डन भी समझलेना चाहिये ॥ कोई ऐसा मानते हैं:-

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ २५ ॥ (३७६)

पू०-उत्पत्ति और नाश धर्म वाला होने से सब अनित्य है ॥

जो सदा न रहे उसे अनित्य कहते हैं। भौतिक शरीरादि और अभौतिक बुद्ध्यादि ये सब पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं, इस लिये अनित्य हैं ॥ इस पर दूषण देते हैं:—

नाऽनित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥ (३७७)

पू०-अनित्यता के नित्य होने से (उक्तपक्ष) ठीक नहीं ॥

यदि सब की अनित्यता नित्य है, तो उस की नित्यता से सब अनित्य नहीं हो सकते और जो अनित्य है तो उस के न होने से सब नित्य हैं ॥ इस पर आक्षेप करते हैं:—

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥ २७ ॥ (३७८)

पू०-जैसे अग्नि दाह्य का नाश करके आप भी विनष्ट हो जाता है वैसे ही उस की भी अनित्यता है ॥

उस अनित्यता की भी अनित्यता है, जैसे अग्नि दाह्य इन्धनादि का नाश करके आप भी नष्ट होजाता है ऐसे ही अनित्यता सब का नाश करके आप भी नष्ट हो जायगी ॥ अब सूत्रकार अपना मत कहते हैं:-

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥२८॥ (३७९)

उ०-नित्य का खण्डन नहीं हो सकता यथोपलब्धि के व्यवस्थान से ॥

जिस के उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध हों, वह अनित्य और जिस के उक्त दोनों प्रमाण से सिद्ध न होसकें वह नित्य है, परम सूक्ष्म भूत आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन और इन के गुण, तथा कई एक सामान्य विशेष और समवाय इनके उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध नहीं होते अतएव ये नित्य हैं ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥ (३८०)

पू०—सब नित्य है, पञ्चभूतों के नित्य होने से ॥

कारण रूप से पञ्चभूत नित्य हैं, इस लिये उन का कार्य भी सब नित्य है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥ (३८१)

उ०—उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

जैसे घट की उत्पत्ति और विनाश के कारण कपालसंयोग और मुद्गर-पात आदि प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं, ऐसे ही सब पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारण प्रत्यक्ष देखने में आते हैं इस लिये सब पदार्थ नित्य नहीं होसकते ॥ पुनः प्रतिवादी कहता है:—

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥ ३१ ॥ (३८२)

पू०—तल्लक्षण के अवरोध होने से निषेध नहीं हो सकता ॥

जिन के उत्पत्ति और विनाश के कारण पाये जाते हैं, उन में परमाणुओं का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि परमाणुओं का नित्य होना सर्वसम्मत है, अतः भूतलक्षण का अवरोध होने से नित्यत्व का निषेध नहीं हो सकता ॥

प्रतिवादी अपने कथन की फिर पुष्टि करता है:—

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥ ३२ ॥ (३८३)

उ०—उत्पत्ति और उस के कारण की उपलब्धि होने से अनित्यत्व नहीं हो सकता ॥

उत्पत्ति और विनाश के जो कारण प्रतीत होते हैं, वे औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ नित्य होने से उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान होता है और निवृत्ति के पश्चात् भी वर्त्तमान रहता है, यदि न रहता तो उत्पत्ति और विनाश भी न रहते, अतः उत्पत्ति और विनाश के कारणों के उपलब्ध होने से नित्यता का खण्डन नहीं होता ॥

अब सूत्रकार अपना मत दिखलाते हैं:—

न, व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥ (३८४)

उ०—व्यवस्था की उपपत्ति न होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न को और निवृत्ति से पश्चात् निवृत्त को मानने

पर "यह उत्पत्ति है और यह निवृत्ति है" यह व्यवस्था सिद्ध नहीं होती और "कब उत्पत्ति हुई और कब निवृत्ति होगी" यह काल की व्यवस्था भी नहीं बनती, इस से भूत और भविष्यत् का लोप हो जायगा, केवल वर्त्तमान ही रहेगा। इस लिये अविद्यमान को रूप विशेष की प्राप्ति उत्पत्ति और स्वरूपहानि निवृत्ति है, ऐसा मानना ही इस व्यवस्था को सुरक्षित रख सकता है, अतः उक्त पक्ष ठीक नहीं ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥ (३८५)

पू०-भावलक्षणों के पृथक् २ होने से सब (पदार्थ) पृथक् २ हैं ॥

संसार में भाव अनेक हैं, उन से लक्षित कोई पदार्थ भी एक नहीं हो सकता अर्थात् सब शब्द समुदाय के वाचक हैं। जैसे "कुम्भ" यह शब्द गन्ध, रस, रूप और स्पर्श इन के समुदाय तथा कपाल, घट, पार्श्व, ग्रीवा आदि अनेक पदार्थों का वाचक है, इस का वाच्य कोई एक अवयवी नहीं, ऐसे ही सब शब्दों को समझना चाहिये। अब इस का उत्तर देते हैं:-

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥ (३८६)

उ०-अनेक लक्षणों से एक भाव की निष्पत्ति होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

गन्धादि गुणों से और ग्रीवादि अवयवों से सम्बद्ध एक भाव उत्पन्न होता है, इस लिये अनेक लक्षणों से एक भाव की उत्पत्ति होती है। इस के अतिरिक्त द्रव्य से गुण और अवयव से अवयवी सदा भिन्न २ होते हैं ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥ (३८७)

उ०-लक्षण की व्यवस्था से ही निषेध नहीं हो सकता ॥

भाव का लक्षण जो संज्ञा है, उस की अवस्थिति एक में देखी जाती है "घट जल से पूर्ण है" यह व्यवहार मिट्टी के परमाणुओं में (जिन से घट बनता है) नहीं बनसकता। अवयवी से जो बात ग्रहण की जाती है वह उस के अवयवों से नहीं हो सकती। इस से सिद्ध है कि अनेक लक्षणों से एक भाव लक्षित होता है, यदि एक न मानोगे तो फिर समुदाय भी न रहेगा क्योंकि एक से ही अनेक होते हैं ॥ एक और प्रतिवादी कहता है:-

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ३७ ॥ (३८८)

पू०-भावों में परस्पर अभाव सिद्ध होने से सब अभाव है ॥

घट पट नहीं है और पट घट नहीं है, अश्व गौ नहीं है और गौ अश्व नहीं है । इत्यादि भावों में परस्पर अभाव देखा जाता है, इससे सब अभाव ही क्यों न मान लिया जाय ? ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

न, स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥ (३८९)

उ०-भावों के स्वभावसिद्ध होने से (उक्त पक्ष) ठीक नहीं ॥

सम्पूर्ण भाव (पदार्थ) अपने २ भाव से वर्त्तमान हैं. यदि घट में पट का अभाव है तो अपना (घट) का तो भाव विद्यमान है, इसी प्रकार यदि अश्व जाति से गो जाति का ग्रहण नहीं होता तो अश्व जाति का तो होता है । बस सब पदार्थों के अपने २ भाव में वर्त्तमान होने से अभाव किसी का नहीं हो सकता ॥ पुनः प्रतिवादी शङ्का करता है:-

न, स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥ (३९०)

पू०-स्वभावसिद्धि के आपेक्षिक होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं ॥

सब पदार्थों के स्वभाव सापेक्ष हैं, ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ और दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व कहाता है । बिना अपेक्षा दूसरे की कोई पदार्थ भी अपने स्वरूप से अवस्थित नहीं है, अतएव आपेक्षिक होने से भावों की स्वभाव सिद्धि नहीं हो सकती ॥

अब इस का समाधान करते हैं:-

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥ (३९१)

उ०-परस्पर व्याघात होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं ॥

यदि ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ है तो दीर्घ किस की अपेक्षा से है ? यदि कहो कि ह्रस्व की अपेक्षा से तो इस में अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, जिस से अनवस्था उत्पन्न होगी इसलिये सारे भाव आपेक्षिक नहीं होसकते ॥

अब संख्यावादियों के मतको दिखलाते हैं, कोई एक ही पदार्थ को 'सत्' रूप से मानते हैं, कोई नित्य और अनित्य भेद से दो पदार्थों को मानते हैं, कोई ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय भेदों से तीन प्रकार का जगत् मानते हैं और

कोई प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति भेदों से चार प्रकार के पदार्थों को मानते हैं इत्यादि। अब इन की परीक्षा की जाती है:-

संख्यैकान्ताऽसिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥४१॥ (३९२)

उ०-कारण की अनुपपत्ति और उपपत्ति होने से संख्यैकान्त (वाद) की असिद्धि है॥

यदि साध्य और साधन भिन्न २ हैं तो भेद रूप कारण की उपपत्ति से उन का एकान्त सिद्ध नहीं होता और यदि इन में अभेद है तो साधन की अनुपपत्ति से साध्य की सिद्धि हो नहीं सकती। दोनों हेतुओं से संख्यावाद असिद्ध है॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न, कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥ (३९३)

पू०-कारण के अवयव के होने से (उक्त कथन) ठीक नहीं॥

कारणों के अनेक अवयव हैं, उन में से कोई साधन होजायगा, जिस से संख्यावाद की सिद्धि हो जायगी॥ अब इस का खण्डन करते हैं:-

निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥ (३९४)

उ०-कारण के निरवयव होने से (उक्त हेतु) अहेतु है:—

अवयव कार्य के होते हैं, कारण निरवयव होता है, इस लिये उक्त हेतु ठीक नहीं। दूसरे जब निरवयवत्व होने से सब एक है, ऐसी प्रतिवादी ने प्रतिज्ञा की थी तो अब उस के विरुद्ध अवयव की कल्पना अपनी प्रतिज्ञाहानि है॥

प्रेत्यभाव की परीक्षा हो चुकी अब फल की परीक्षा की जाती है। पहिले सन्देह करते हैं:-

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥ (३९५)

पू०-तत्काल और कालान्तर में फल की प्राप्ति होने से संशय होता है॥

पकाता है, दुहता है, इन क्रियाओं का फल भात और दूध तत्काल देखने में आता है। जोतता है, बोता है, इन क्रियाओं का फल अन्न कालान्तर में देखा जाता है। स्वर्ग की इच्छा से होम करना यह भी एक प्रकार की क्रिया है, इस के फल में सन्देह है॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

न, सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥ (३९६)

उ०—कालान्तर में भोग्य होने से तत्काल फल नहीं होता ॥

जैसे वपन आदि क्रियाओं का फल तत्काल नहीं होता, किन्तु कालान्तर में होता है, पर उस में किसी को सन्देह नहीं होता। ऐसे ही यजन आदि क्रियाओं का फल भी कालान्तर में भोग्य होने से संशयास्पद नहीं ॥

पुनः शङ्का करते हैं:—

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥ (३९७)

पू०—हेतु के नाश होने से कालान्तर में (फल) सिद्धि नहीं हो सकती॥

क्रिया जब नष्ट हो गई तब कारण के विना उस का फल उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि नष्ट कारण से कुछ उत्पन्न नहीं होता ॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ॥ ४७ ॥ (३९८)

उ०-वृक्षफल के समान उत्पत्ति से पूर्व वह होगा ॥

जैसे फलार्थी वृक्ष की जड़ में सिञ्चन आदि क्रिया करता है, उस क्रिया के नष्ट होने पर मिट्टी जल से मिल कर भीतर की उष्णता से पकाई हुई रस को उत्पन्न करती है, वह रस वृक्षानुगत होकर रूपान्तर को प्राप्त हुआ पत्रादि फलों को उत्पन्न करता है। ऐसे ही प्रत्येक प्रवृत्ति (क्रिया) से धर्माऽधर्मलक्षणरूप संस्कार उत्पन्न होते हैं, फिर वे अन्य निमित्तों से अनुगृहीत हुवे कालान्तर में फल को उत्पन्न करते हैं ॥ पुनः शङ्का करते हैं :—

नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥ (३९९)

पू०-सत् और असत् के वैधर्म्य होने से न असत् है न सत् है और न सदऽसत् है ॥

उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न होने वाले का अभाव नहीं, यदि अभाव होता तो फिर उस से उत्पत्ति कैसी? भाव भी नहीं हो सकता क्योंकि यदि उत्पत्ति से पूर्व उत्पन्न होने वाला विद्यमान होता तो फिर उस की उत्पत्ति कैसी? सदसत् भी नहीं हो सकता क्योंकि सत् और असत् का परस्पर विरोध है अर्थात् भाव कभी अभाव नहीं और अभाव कभी भाव नहीं हो सकता ॥

अब समाधान करते हैं:—

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धोत्पादव्ययदर्शनात् ॥
॥ ४९ ॥ (४००)

उ०–उत्पत्ति के पूर्व उत्पत्तिधर्मक असत् है, यह सिद्धान्त है क्योंकि उत्पत्ति और विनाश देखने में आते हैं ॥

पहिले जो कहा था कि उपादानरूप से उत्पन्न होने के पूर्व कार्य सत् है, अब इस का उत्तर देते हैं :—

बुद्धिसिद्धन्तु तदसत् ॥ ५० ॥ (४०१)

उ०–जो बुद्धिसिद्ध है वह असत् है ॥

अमुक उपादान अमुक कार्य की उत्पत्ति में समर्थ है, यह बुद्धि (अनुमान) से सिद्ध है, तन्तुओं से पट की निष्पत्ति को जानता हुआ तन्तुवाय पट बनाने में प्रवृत्त होता है, बालू से नहीं। इस से सिद्ध है कि उत्पत्ति से पूर्व उपादान कारण तो नियत होता है, परन्तु कार्य को भी यदि सत् मान लिया जाय तो फिर उत्पत्ति ही कैसी ? इस लिये बुद्धि से सिद्ध होने वाला कार्य उत्पत्ति से पूर्व असत् है ॥ अब इस पर शङ्का करते हैं:—

आश्रयव्यतिरेकाद्वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ ५१ ॥ (४०२)

पू०–आश्रय के भेद होने से वृक्षफलोत्पत्ति का दृष्टान्त हेतु नहीं हो सकता ॥

जिस शरीर ने कर्म किया है, उस के नाश हो जाने पर फल की प्राप्ति किस को होगी ? इस में वृक्ष का दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि वृक्ष का सींचना और उस में फल का आना ये दोनों बातें उसी वृक्ष के आश्रित हैं, पर दार्ष्टान्त में जिस शरीर से कर्म किया है, उससे भिन्न शरीर में फल की प्राप्ति बतलाई गई है। इस लिये आश्रयभेद होने से यह दृष्टान्त ठीक नहीं ॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥ (४०३)

उ०—इच्छा के आत्माश्रित होने से निषेध नहीं हो सकता ॥

इच्छा आत्मा का गुण है और उसी से कर्म (जो धर्माधर्मरूप से दो प्रकार का है) सम्बन्ध रखता है, शरीर तो केवल उस का अधिष्ठान मात्र है इस लिये कर्म और उस का फल ये दोनों आत्मा के ही आश्रित हैं और आत्मा (पूर्वाऽपर) दोनों शरीरों में एक ही रहता है, अतः निषेध अयुक्त है ॥

पुनः शङ्का करते हैं:—

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्द्देशात् ॥५३॥ (४०४)

पू०-पुत्र, पशु, स्त्री, परिच्छद, सुवर्ण और अन्नादि का फलों में निर्द्देश होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं ॥

"पुत्रकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में पुत्रादि का फलत्वेन निर्द्देश किया गया है, इच्छा को फल कहना ठीक नहीं ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

तत्सम्बन्धात्फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥५४॥ (४०५)

उ०-इच्छा के सम्बन्ध से फल की निष्पत्ति होने के कारण उन में फल के समान उपचार माना गया है ॥

इच्छा के सम्बन्ध से फल की उत्पत्ति होती है, इस लिये पुत्रादि में फल का उपचार माना गया है। जैसे "अन्नं वै प्राणाः" यहां पर अन्नमें प्राणत्व का आरोप किया गया है, इस लिये कि अन्न से प्राणों की पुष्टि होती है ॥

फल की परीक्षा समाप्त हुई, अब क्रमप्राप्त दुःख की परीक्षा की जाती है:-

विविधबाधनायोगाद्दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥ (४०६)

उ०-अनेक प्रकार के दुःखसम्बन्ध से जन्मोत्पत्ति दुःखरूप ही है ॥

दुःख का लक्षण बाधना कह चुके हैं, बाधना यद्यपि अनेक प्रकार की है तथापि तीन भेदों में उस का समावेश किया गया है। १—हीना, २—मध्यमा, ३-उत्कृष्टा। देवताओं से लेकर नारकी जीवों तक की उत्पत्ति उक्त बाधना से युक्त है। इस प्रकार समस्त संसार को दुःखयुक्त जान कर जो उस से निर्विण्ण होता है, वह दुःखबहुल सुखाभाव में अनुरक्त नहीं होता। राग के अभाव से दुःख की हानि होती है ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:—

न, सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥ ५६ ॥ (४०७)

पू०-(दुःख के) बीच में सुख की निष्पत्ति होने से उक्त कथन ठीक नहीं॥

दुःख में ही सुख भी मिला हुआ है,इस का प्रमाण यह है कि दुःख भोगने के उपरान्त सुख की प्राप्ति होती है। बस संसार में जहां दुःख है, वहां सुख भी है। अतः सब को दुःखरूप बताना ठीक नहीं॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥५७॥ (४०८)

उ०—दुःख की निवृत्ति न होने से तथा प्रार्थी के पर्येषण दोष से निषेध नहीं हो सकता ॥

सुखसाधनों में प्रवृत्त हुआ सुखार्थी मनुष्य जब कोई कामना करता है, यदि वह कामना पूरी न हुई या पूरी होकर फिर बिगड़ गई या कमपूरी हुई या जैसी चाहता है वैसी न हुई, इस पर्येषण दोष से अनेक प्रकार का मानसताप उत्पन्न होता है, जोकि सुखार्थी और सुख के लिये यतमान पुरुष को भी कभी दुःख से मुक्त नहीं होने देता। इस के अतिरिक्त जब एक कामना मनुष्य की पूरी हो जाती है तब दूसरी और उत्पन्न होजाती है, यदि साम्राज्य भी किसी को मिल जाय तो भी उस की तृप्ति नहीं होती अतः विवेकी पुरुषों के लिये संसार दुःखरूप ही है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥ (४०९)

अ०—दुःख के विकल्प में सुख का अभिमान होने से भी (शरीरादि की उत्पत्ति दुःखरूप ही है)

यह जीव सांसारिक सुख को अनुभव करता हुवा उस ही को परम पुरुषार्थ मानता है और उस की प्राप्ति से अपने को कृतार्थ जानता है। मिथ्यासङ्कल्प से सुखाभास को सुख समझ कर उस के साधन विषयादि में अनुरक्त होता है, जिस से जन्म, मरण, जरा, व्याधि, इष्टवियोग और अनिष्ट संयोग आदि अनेक प्रकार का दुःख उत्पन्न होता है, परन्तु यह राग में अनुबद्ध हुवा उस को वार २ अनुभव करता हुवा भी भूल जाता है और उस अल्प सुख से जो इस महादुःख से मिश्रित है, उन्मत्त हो जाता है, इस से सिद्ध है कि अविवेकी पुरुष ही इस दुःखमय संसार को सुखमय जानता है, तत्त्वदर्शी पुरुष तो इस सुखाभास को दुःखमय ही जान कर इस में लिप्त नहीं होता ॥

दुःख की परीक्षा समाप्त हुई, अब क्रमप्राप्त अपवर्ग की परीक्षा की जाती है ॥ प्रथम प्रतिवादी शङ्का करता है:—

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥५९॥ (४१०)

पू०—ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति के अनुबन्ध से अपवर्ग का अभाव है ॥

" जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते " ब्राह्मण उत्पन्न होने के साथ ही तीन ऋणों से ऋणवान् होता है, वे तीन ऋण ये हैं:—

ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण; ब्रह्मचर्य से ऋषिऋण, यज्ञ से देवऋण और प्रजोत्पत्ति से पितृऋण चुकाया जाता है, यह शास्त्र की मर्यादा है। इस के अनुसार ऋणों के चुकाने में ही मनुष्य का सारा जीवन समाप्त होजाता है-फिर मोक्ष के लिये समय कहां रहा ? और विना ऋण चुकाये मोक्षसाधन शास्त्रविरुद्ध है, यथाह मनुः—" ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः " तीनों ऋणों को चुकाकर मोक्ष में मन लगावे, विना ऋण चुकाये मोक्षसाधन में प्रवृत्त होने वाला अधोगति को प्राप्त होता है। क्लेशों के अनुबन्ध से भी मोक्ष का अभाव है क्योंकि प्राणी यावज्जीवन क्लेशों में बन्धा हुवा रहता है और फिर मरणानन्तर भी क्लेशानुबद्ध ही जन्म लेता है, जब किसी समय भी क्लेश के अनुबन्ध का विच्छेद नहीं होता, तब मोक्ष के लिये समय कहां रहा ? प्रवृत्ति के अनुबन्ध से भी मोक्ष का अभाव सिद्ध होता है, क्योंकि प्रत्येक प्राणी यावज्जीवन वाणी बुद्धि और शरीर से कर्मों को करता हुवा धर्माधर्म का उपार्जन करता है, फिर मोक्ष के लिये समय कहां ? अब इस का उत्तर देते हैं:—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः

॥ ६० ॥ (४११)

६०—प्रधान शब्द की उपपत्ति न होने से तथा निन्दा और प्रशंसा की उपपत्ति होने से गुणशब्द से अनुवाद किया गया है ॥

" जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते " इस वाक्य में 'ऋण' शब्द प्रधानपरक नहीं है, क्योंकि जहां पर देय दिया जाता और आदेय लिया जाता है वहीं पर ऋण शब्द की प्रधान वाच्यता है, प्रधान वाच्य की योग्यता न होने से यहां पर केवल गौण शब्द से अनुवाद किया गया है। जैसे माणवक के लिये अग्नि शब्द का प्रयोग किया जाता है, वैसे ही ब्रह्मचर्यादि के लिये यहां ऋण शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् ऋण के तुल्य। यदि कहो कि गौण शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? तो इस का उत्तर यह है कि निन्दा और स्तुति के लिये, जैसे ऋणी ऋण के न देने से निन्दित होता है वैसे ही द्विज कर्म के लोप होने से निन्दनीय होता है और जैसे ऋणी ऋण के देने से मुक्तभार होकर प्रशंसा पाता है वैसे ही द्विज कर्म के अनुष्ठान से कृतकृत्य होकर प्रशंसास्पद होता है तथा उक्त वाक्य में 'जायमान' शब्द भी गौण है क्योंकि उस से प्रसवकाल का ग्रहण नहीं होताकिन्तु गृहस्थ

के आरम्भ का समय लिया जाता है, माता के गर्भ से उत्पन्न होते ही कोई बालक कर्म करने में समर्थ नहीं होजाता, किन्तु जब गृहस्थ में प्रविष्ट होता है तभी अधिकार और सामर्थ्य उस को प्राप्त होता है । जैसे अन्धों को नृत्य दिखाना और बधिरों को गान सुनाना निरर्थक है, ऐसे ही जातमात्र बालक को ब्रह्मचर्य और यज्ञादि का उपदेश करना निष्फल है, अतएव उक्त वाक्य के अर्थवादपरक होने से मोक्ष का विलोप नहीं होता ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत् ॥ ६१ ॥ (४१२)

उ०- अन्य विद्याओं की भान्ति अधिकार से विधान होता है ॥

सब शास्त्र अपने २ विधेय के विधायक हैं, इस लिये उन का तात्पर्य केवल अपने २ प्रतिपाद्य के प्रतिपादन से है, न कि अन्य शास्त्रप्रतिपादित विषय के खण्डन से। गृहस्थशास्त्र अपने कर्त्तव्यों का विधान करता हुवा दूसरे आश्रमों के अधिकार में हस्तक्षेप नहीं कर सकता । ऋचा और ब्राह्मण मोक्ष का विधान करते हैं, यथा ऋचा-" कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः। अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः । न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"इत्यादि अनेक ऋचा हैं, इन का सारांश यह है कि धन और सन्तान आदि की कामना रखने वाले ऋषि तत्तत्कर्म का सेवन करते हुवे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, दूसरे विचारवान् ऋषि इन के त्याग से मोक्ष के भागी होतेहैं । इसी प्रकार ब्राह्मण भी मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं, यथा-अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथा तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।कामयमानो योऽकामो निष्काम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति "। इन सब का सारांश यही है कि कर्त्ता जिस कामना से कर्म करता है उस को प्राप्त होता है और निष्काम कर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है । अतएव ऋणादि मोक्ष के बाधक नहीं हो सकते ।। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६२ ॥ (४१३)

उ०-आत्मा में (अग्नि के) समारोपण करने से निषेध नहीं हो सकता ॥

" प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् " इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों में आहवनीयादि तीनों अग्नियों

का आत्मा में आरोपणपूर्वक संन्यासाश्रम का विधान पाया जाता है और सम्पूर्ण धर्मशास्त्र चारों आश्रमों का विधान करते हैं, इस लिये मोक्ष का प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥ अब क्लेशानुबन्ध का निवारण करते हैं:—

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ॥ ६३ ॥ (४१४)

उ०-सोये हुवे को स्वप्न के न दीखने की दशा में क्लेश का अभाव होने से अपवर्ग की सिद्धि है ॥

जैसे गाढ़निद्रा में सोये हुवे पुरुष को रागानुबन्ध के टूटजाने से सुख दुःख का अनुभव नहीं होता, ऐसे ही ज्ञानी पुरुष को रागादि के अभाव से मोक्ष में भी सुख दुःख का सम्बन्ध नहीं रहता, अतएव क्लेशानुबन्ध भी मोक्ष का बाधक नहीं हो सकता ॥ अब प्रवृत्ति के अनुबन्ध का निवारण करते हैं:—

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥ ६४ ॥ (४१५)

उ०-हीनक्लेश की प्रवृत्ति बन्धन के लिये नहीं होती ॥

क्लेश का कारण रागादि दोष हैं, वे जिस के निवृत्त होगये ऐसे वीतराग पुरुष की प्रवृत्ति बन्धन के लिये नहीं होती क्योंकि जो कर्म सकाम किये जाते हैं वे ही बन्धन का कारण होते हैं, निष्काम नहीं ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं:-

न,क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥ (४१६)

पू०-क्लेशसन्तति के स्वाभाविक होने से क्लेशानुबन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता ॥

रागादि की परम्परा अनादि है, उस का कभी विच्छेद नहीं हो सकता, अतएव क्लेशानुबन्ध अनिवार्य है ॥ अब इस का समाधान करते हैं:-

प्रागुत्पत्तेरभावाऽनित्यत्ववत् स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम्॥६६॥

उत्पत्ति के पूर्व अभाव की अनित्यता के समान स्वाभाविक में भी अनित्यता होती है ॥ (४४७)

जैसे उत्पत्ति के पूर्व अनादि प्रागभाव उत्पन्नभाव से निवृत्त हो जाता है ऐसे ही स्वाभाविक क्लेशसन्तति भी अनित्य है ॥ इस पर दूसरा कहता है:-

अणुश्यामताऽनित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥ (४१८)

अथवा परमाणुओं की श्यामता के समान (क्लेशसन्तति अनित्य है) जैसे परमाणुओं की स्वाभाविक श्यामता अग्निसंयोग से नष्ट हो जाती है, ऐसे ही स्वाभाविक क्लेशसन्तति भी अनित्य हो जायगी। उक्त दोनों हेतुओं को पर्याप्त न मानते हुये सूत्रकार दूसरा समाधान करते हैं:-

न, संकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥६८॥ (४१९)

उ०-रागादि के सङ्कल्पनिमित्तक होने से (उक्त कथन) युक्त नहीं ॥

सङ्कल्प से रागादि की उत्पत्ति होती है, तत्त्वज्ञान के होने पर सारे सङ्कल्प और विकल्प निवृत्त हो जाते हैं, जब संकल्परूप कारण ही न रहा, तब रागादि उस के कार्य क्योंकर रह सकते हैं, बस जब रागादि निवृत्त हो गये, तब क्लेशानुबन्ध के विच्छेद में सन्देह ही क्या रहा ?

इति न्यायदर्शने चतुर्थाध्यायस्य प्रथममान्हिकम्

—*(*)*—

अथ द्वितीयमाह्निकम्

अपवर्ग की परीक्षा समाप्त हुई, अब इस दूसरे आह्निक में तत्त्वज्ञान की परीक्षा प्रारम्भ की जाती है, प्रथम तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का क्रम दिखलाया जाता है:—

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥१॥ (४२०)

उ०-दोष निमित्तों के तत्त्वज्ञान से अहङ्कार की निवृत्ति होती है ॥

रागादि दोषों के निमित्त शरीरादि हैं, उन का तत्त्व जान लेने से अहङ्कार की निवृत्ति होती है। क्योंकि शरीरादि में आत्मबुद्धि रखता हुवा ही प्राणी रञ्जनीय विषयों में अनुराग करता है तथा कोपनीय विषयों में क्रोध करता है, जब वह यह जान लेता है कि शरीरादि से आत्मा पृथक् है तब मोह के अभाव में राग द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते ॥

अब विषयों का निरूपण करते हैं:—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥२॥ (४२१)

दोष के निमित्त रूपादि विषय सङ्कल्पकृत हैं ॥

विषय दो प्रकार के हैं, एक बाह्य और दूसरे अध्यात्म। ये दोनों सङ्कल्प से उत्पन्न होते हैं। मुमुक्षु को चाहिये कि पहिले रूपादि बाह्य विषयों

से (जो रागादि दोषों के निमित्त हैं) उपरत हो, तत्पश्चात् अध्यात्म=शरीरादि के अहङ्कार को दूर करे । इस प्रकार जो बाहर और भीतर दोनों से विरक्त हो कर विचरता है, वह संसार में रहता हुआ और देहादि को रखता हुआ भी मुक्त कहाता है ॥ रागादि की निवृत्ति का उपाय दिखलाते हैं:-

तन्निमित्तन्त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥ (४२२)

उन दोषों का निमित्त तो अवयवी का अभिमान है ॥

अवयवी (स्त्री आदि के शरीर) में जो अभिमान (ममत्व बुद्धि) का होना है यही रागादि दोषों का निमित्त है, अतएव मुमुक्षु को उचित है कि वह इस चर्ममय मांसपिण्ड को विषसम्पृक्त अन्नवत् समझे ॥

अब अवयवी में सन्देह करते हैं:—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्संशयः ॥ ४ ॥ (४२३)

पू०-विद्या और अविद्या के द्वैविध्य से सन्देह होता है ॥

सदसत्(दृष्टाऽदृष्ट) दोनों की उपलब्धि और अनुपलब्धि होने से विद्या और अविद्या दो प्रकार की हैं । विद्या से जहां सत् की उपलब्धि होती है, वहां असत् की भी, ऐसे ही अविद्या से जहां असत् की अनुपलब्धि होती है, वहां सत् की भी । बस इस विद्या और अविद्या के द्वैविध्य से अवयवी में संशय होता है ॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥ (४२४)

उ०-पूर्व हेतु प्रसिद्ध होने से उस में संशय नहीं है ॥

द्वितीयाऽध्याय में हेतुओं से अवयवी की सिद्धि कर चुके हैं, उन का जब तक खण्डन न हो तब तक संशय अनुपपन्न है ॥ द्वितीय पक्ष में भीः-

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ६ ॥ (४२५)

उ०-वृत्ति की अनुपपत्ति से भी संशय नहीं हो सकता ॥

यदि अवयवी का अभाव मान लिया जावे तो भी उस में संशय नहीं हो सकता क्योंकि जो वस्तु है उसी में सन्देह होता है और जो वस्तु ही नहीं उस में सन्देह कैसा ? अब यहां से चार सूत्रों में पूर्वपक्षी अवयवी का अभाव प्रतिपादन करता है:-

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥ (४२६)

पू०-सम्पूर्ण अवयवों के एकदेशवर्त्ती होने से अवयवी का अभाव है ॥

एक २ अवयव सारे अवयवी में नहीं रह सकता क्योंकि उन के परिमाण में भेद है, अतएव अवयवों से भिन्न कोई अवयवी नहीं है ॥

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥ (४२७)

उन (अवयवों) में अवृत्ति होने से अवयवी का अभाव है ॥

परिमाण में भेद होने से अवयवी प्रत्येक अवयव में नहीं रह सकता और यदि एक देश में उस की स्थिति मानी जावे तो वह अन्य अवयवों के अभाव से अवयवी नहीं रह सकता, इस लिये अवयवी के होने में सन्देह है ॥

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥ (४२८)

अवयवों से पृथक् वर्त्तमान न होने से भी (अवयवी कोई नहीं) ॥

अवयवों से पृथक् और कोई अवयवी सिद्ध नहीं होता ॥

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥ (४२९)

और अवयव अवयवी हो नहीं सकते ॥

यदि अवयवों को ही अवयवी माना जावे तो यह हो नहीं सकता क्योंकि तन्तु को वस्त्र और स्तम्भ को गृह कोई नहीं मान सकता ॥

अब सूत्रकार अपना सिद्धान्त कहते हैं:—

एकस्मिन् भेदाभावाद्भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः॥११॥ (४३०)

उ०-एक में भेद का अभाव होने के कारण भेद शब्द के प्रयोग की अनुपपत्ति होने से उक्त प्रश्न नहीं हो सकता ॥

पूर्वपक्षी ने जो यह प्रश्न किया था कि अवयवी सम्पूर्ण अवयवों में रहता है अथवा एक देश में । यह प्रश्न ही अयुक्त है क्योंकि एक में भेद न होने से भेद शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता । अनेकों के सङ्घात को कृत्स्न कहते हैं और अनेकत्व के होते हुवे एक, एकदेश कहलाता है, सो ये दोनों कृत्स्न और एकदेश भेदबोधक हैं, एक अवयवी में इन की उपपत्ति ही नहीं हो सकती ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

अवयवान्तराभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥ (४३१)

उ०-अवयवान्तर के अभाव में भी वृत्ति के न होने से (उक्त हेतु) अहेतु है ॥

"अवयवी अपने अवयवों में एकदेश से नहीं वर्त्तता, अवयवान्तर के

अभाव से"। यह जो प्रतिपक्षी ने हेतु दिया था सो अयुक्त है क्योंकि अवयवान्तर के अभाव में अवयवी की वृत्ति का भी अभाव होगा। अवयव और अवयवी में जो अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, वह तभी रह सकता है जब कि अवयवी अपनी वृत्तियों से सम्पूर्ण अवयवों में वर्त्तमान हो॥

अब इस पर प्रतिपक्षी दूषण देता है:—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥१३॥ (४३२)

पू०-केशसमूह में तैमिरिक (अन्धकाराच्छन्न) की उपलब्धि के समान उस की उपलब्धि हो जावेगी॥

जैसे तिमिरावृत नेत्र से एक बाल नहीं दीख सकता, वैसे ही एक अणु (अवयव) के न दीखने पर भी अणुसमूह घटादि (अवयवी) का ज्ञान होना सम्भव है। अतः अवयवों का समूह ही अवयवी है, उस से भिन्न अवयवी और कोई वस्तु नहीं॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषय-ग्रहणस्य तथाभावो नाऽविषये प्रवृत्तिः॥१४॥(४३३)

उ०-अपने २ विषय के अनतिक्रमण से इन्द्रियों के तीव्र और मन्द होने के कारण तदनुसार विषयग्रहण होता है, अन्य विषय में प्रवृत्ति नहीं होती॥

इन्द्रिय अपने २ विषय का अतिक्रमण नहीं कर सकते। नेत्र चाहे कैसे ही तीव्र क्यों न हों, परन्तु शब्द को ग्रहण नहीं कर सकते, तात्पर्य यह है कि अपने से अन्य विषय में किसी इन्द्रिय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परमाणु अतीन्द्रिय हैं, इस लिये किसी इन्द्रिय से उन का ग्रहण नहीं हो सकता, जब एक परमाणु अतीन्द्रिय है तो उन का समूह भी इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता, अतएव द्रव्यान्तर की सिद्धि होती है, जिस का इन्द्रिय से ग्रहण होता है॥ अब इस पर आक्षेप करते हैं:—

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥ (४३४)

पू०-इस प्रकार प्रलय तक अवयव और अवयवी का प्रसङ्ग (होगा)॥

यदि अवयवों में अवयवी की वृत्ति के निषेध से अवयवी का अभाव सिद्ध हो तो फिर सब का लय प्रसक्त होगा, अथवा निरवयव होने से परमाणुत्व की निवृत्ति हो जायगी, दोनों दशाओं में उपलब्धि का अभाव होगा॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

न, प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥ (४३५)

उ०-परमाणुओं के सद्भाव से नाश न होगा ॥

अवयवों के विभाग का आश्रय लेकर वृत्ति के निषेध से जो अभाव की कल्पना की गई है, वह परमाणु के निरवयव होने से निवृत्त हो जायगी। परमाणु उसी को कहते हैं कि जिस का विभाग न हो सके, बस जिस का विभाग ही नहीं हो सकता उस का नाश कैसा ? क्योंकि विभाग ही को नाश कहते हैं ॥ अब परमाणु का लक्षण कहते हैं:—

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥ (४३६)

त्रुटि से (जो) सूक्ष्म है ॥

त्रुटि (नाश) से जो अतिरिक्त है अथवा त्रुटि में भी जो अवस्थित रहता है, उस को परमाणु कहते हैं, "वा" निपात यहां अवधारण और विकल्प दोनों में है ॥ अब शून्यवादी परमाणु के निरवयवत्व पर आक्षेप करता है:—

आकाशव्यतिभेदात्तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥ (४३७)

पू०—आकाश के व्यतिभेद से उस (निरवयवत्व) की उपपत्ति नहीं है ॥

परमाणु के भीतर और बाहर आकाश व्यापक है, व्याप्य होने से वह सावयव है, अतः अनित्य है ॥ अथवा—

आकाशाऽसर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥ (४३८)

पू०-वा आकाश सर्वगत नहीं है ॥

यदि परमाणु में आकाश का व्यापक होना नहीं मानोगे तो फिर आकाश सर्वदेशी न रहेगा ॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥ २० ॥ (४३९)

उ०—भीतर और बाहर कार्यद्रव्य के कारणान्तर वचन से अकार्य में उस का अभाव है

भीतर और बाहर यह व्यवहार कार्यद्रव्य में (जब कि वह कारण की दशा में नहीं है) हो सकता है, कारण रूप सूक्ष्म परमाणुओं में यह व्यवहार नहीं बन सकता क्योंकि जिस का विभाग न होसके वा जिस से कोई अणु न हो, वह परमाणु है ॥ पुनः उसी की पुष्टि करते हैं:—

सर्वसंयोगशब्दविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥ (४४०)

सर्वत्र संयोग और शब्द के होने से (आकाश) सर्वगत है ॥

संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिस में आकाश न हो, अत्यन्त घन पाषाण और धातुओं में भी आकाश विद्यमान है, यदि आकाश न होता तो उन में छिद्र रूप अवकाश न हो सकता, अतएव आकाश सर्वदेशी है ॥

अब आकाश के लक्षण कहते हैं:-

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥२२॥ ॥ (४४१)

अव्यूह, अविष्टम्भ और विभुत्व ये आकाश के धर्म हैं ॥

मिलेहुवे पदार्थों का आघात से अलग २ होना व्यूह और अन्य देश में गति का निरोध विष्टम्भ कहलाता है। सो आकाश में ये दोनों बातें नहीं हैं, न तो कोई आघात से मृत्पिण्ड के समान उस का व्यूहन कर सकता है और न कोई बन्ध बान्धकर जल के समान कहीं उस की गति का निरोध कर सकता है, स्पर्शरहित होने से केवल विभुत्व ही आकाश का धर्म है। अतः आकाश के व्यापक होने से परमाणुओं के निरवयवत्व और नित्यत्व में कोई बाधा नहीं हो सकती ॥

अब पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है:—

मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥ २३ ॥ (४४२)

पू० मूर्त्तिमान् द्रव्यों में परिमाण की उपपत्ति होने से (परमाणुओं में) अवयव का सद्भाव होता है ॥

परिच्छिन्न और स्पर्शवान् द्रव्यों के त्रिकोण, चतुष्कोण, सम, विषम और मण्डलादि अनेक प्रकार के आकार देखे जाते हैं, परमाणु भी परिच्छिन्न और स्पर्शवान् होने से आकारयुक्त हैं, निरवयव नहीं हो सकते ॥

पुनः पूर्वपक्षी अपने कथन की पुष्टि करता है:—

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥ (४४३)

पू०-संयोग की उपपत्ति से भी (परमाणुओं का सावयव होना सिद्ध होता है)॥

संयोग परमाणुओं का धर्म है, मध्यस्थपरमाणु इधर उधर के परमाणुओं से संयुक्त होकर उन में व्यवधान (भेद) कराता है, जिस से उस के पूर्व और पर भाग बनते हैं और यही उस के अवयव हैं। अतएव संयोग के होने से परमाणु निरवयव नहीं हो सकते ॥ अब इस का समाधान करते हैं:—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥२५॥ (४४४)

उ०-अनवस्थाकारी होने से और अनवस्था की उपपत्ति न होने से (निरवयवत्व का) निषेध ठीक नहीं ॥

जितने मूर्त्तिमान् पदार्थ हैं और जो संयुक्त होते हैं, वे सब सावयव हैं यह हेतु अनवस्थाकारी है क्योंकि जब सब पदार्थ सावयव हैं और उन की कोई व्यवस्था है नहीं तो इस दशा में पदार्थों के परिमाण भेद और गुरुत्वादि का ग्रहण न होसकेगा अर्थात् मेरु और सर्षप में तुल्य परिमाणत्व की अनवस्था होगी, अतः अनवस्था के होने से उक्त हेतु अपर्याप्त है ॥

निरवयवत्व का प्रकरण समाप्त हुआ । अब इस बात का विवेचन किया जाता है कि सब भाव बुद्धि के आश्रित हैं वा नहीं? प्रथम पूर्वपक्षी भावों के बुद्धिगम्य होने में शङ्का करता है:-

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥२६॥ (४४५)

पू०-बुद्धि से विचारने पर तो भावों की यथार्थ उपलब्धि नहीं होती जैसे तन्तु के अनुभव करने पर पटके सद्भाव की उपलब्धि नहीं होती वैसे ही (प्रत्येक पदार्थ के बुद्धि से अनुभव करने मात्र से) उस की उपलब्धि नहीं होती ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥ (४४६)

उ०-व्याहत होने से (यह हेतु) अहेतु है ॥

जहां बुद्धि से विवेचन किया जाता है वहां भावों की अनुपलब्धि नहीं रह सकती और जहां भावों की अनुपलब्धि है, वहां बुद्धि से विवेचन नहीं किया जाता । इस व्याघात दोष के होने से उक्त हेतु ठीक नहीं । वास्तव में बुद्धि से विवेचन करने पर तन्तु से पट होता है यह प्रतीति होती है, न कि तन्तु ही पट है, यह । और न कोई बुद्धिमान् तन्तु से पट का और पट से तन्तु का काम लेता है, अतः सारे भाव बुद्धि के आश्रित हैं ॥

पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:—

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥ (४४७)

उ०-उस के आश्रित होने से पृथक् ग्रहण नहीं होता ॥

कार्य सदा अपने कारण के आश्रित रहता है, इस लिये उस का पृथक् ग्रहण नहीं किया जाता अर्थात् कार्यकारण के समवायसम्बन्ध होने से दोनों

का साथ २ ग्रहण किया जाता है, परन्तु बुद्धि से विवेचन करने पर उन का भेद स्पष्ट प्रतीत होने लगता है ॥ पुनः उसी की पुष्टि की जाती है:-

प्रमाणतश्चाऽर्थप्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥ (४४८)

उ०—प्रमाण से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है इस लिये भी (उक्त कथन ठीक नहीं)

जो है और जैसा है, प्रमाण से उस की उपलब्धि होती है और वह विना बुद्धि से विवेचन किये हो नहीं सकती अतः बुद्धि से विचार करने पर ही सम्पूर्ण भावों की उपलब्धि होती है ॥ पुनः उक्तार्थ की ही पुष्टि की जाती है:-

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥ (४४९)

उ०-प्रमाण की अनुपपत्ति और उपपत्ति से (भी पूर्वपक्ष ठीक नहीं) ॥

" बुद्धि से विचार करने पर कुछ नहीं है " यह जो प्रतिवादी का पक्ष था, यदि इस में प्रमाण है तो " कुछ नहीं " यह कहना ही नहीं बन सकता क्योंकि प्रमाण तो हुआ और वह भी कुछ के अन्तर्गत है और यदि इस में प्रमाण नहीं है तो प्रमाण के विना " कुछ नहीं है " इस की सिद्धि क्योंकर होगी ? यदि प्रमाण के विना भी सिद्धि मानोगे तो " सब कुछ है " यही क्यों न मानलो ॥ अब आगे दो सूत्रों से प्रतिवादी शङ्का करता है:-

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाऽभिमानः ॥३१॥ (४५०)

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥ ३२ ॥ (४५१)

पू०-स्वप्नविषयक अभिमान के समान यह प्रमाण और प्रमेय का अभिमान है ॥ अथवा माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा के समान है ॥

जैसे स्वप्न में विषयों की वास्तविक उपलब्धि नहीं होती किन्तु मिथ्या अभिमान होता है और जैसे माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा वास्तव में ये कुछ भी पदार्थ नहीं हैं, केवल संज्ञामात्र हैं, ऐसे ही आप का अभिमत प्रमाण और प्रमेय भाव भी कल्पित और वस्तुशून्य है ॥

अब इस का समाधान करते हैं:—

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥ (४५२)

उ०-हेतु के अभाव से (उक्त पक्ष की) असिद्धि है ॥

स्वप्न में असत् विषयों की उपलब्धि होती है, इस कथन में भी कोई हेतु नहीं है । यदि कहो कि जागने पर उन की उपलब्धि न होना ही इस में प्रमाण है, तो हम कहेंगे कि यदि जागने पर उपलब्धि न होने से स्वप्न में

विषयों का अभाव है तो जागे हुवे मनुष्य को उन की उपलब्धि होने से उन का भाव है। तात्पर्य इस का यह है कि यदि तुम जाग्रत् अवस्था के अनुपलम्भ से स्वप्न में विषयों का अभाव सिद्ध करोगे तो हम जाग्रत् के उपलम्भ से उन का भाव सिद्ध करेंगे। पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥३४॥ (४५३)

उ०-स्मृति और सङ्कल्प के समान स्वप्न विषय का अभिमान है ॥

जैसे पूर्वोपलब्ध विषयों के स्मृति और सङ्कल्प उन का खण्डन नहीं करते, प्रत्युत उन की पुष्टि करते हैं, ऐसे ही स्वप्न में विषयों का ज्ञान पूर्वोपलब्ध विषयों का खण्डन नहीं कर सकता। जो सोयाहुवा स्वप्न देखता है, वही जग कर स्वप्न में जो देखा है, उस का प्रतिसन्धान करता है कि मैंने यह देखा, तब बुद्धि वृत्ति के जाग्रत् अवस्था में होने से स्वप्न विषयों के मिथ्या होने का निश्चय करता है। यदि स्वप्न और जागरण में कुछ भेद न होता तो " स्वप्नविषय के अभिमानवत् " यह कहना निरर्थक होता। तात्पर्य यह है कि जो धर्म जिस वस्तु में नहीं है, उस धर्म का उस वस्तु में बोध होना प्रधान (उपलभ्यमान) के अधीन है। पुरुषहीन स्थाणु में पुरुष बुद्धि होना सच्चे पुरुष के ही आश्रित है, क्योंकि जिस को कभी पुरुष की उपलब्धि नहीं हुई है, उस को स्थाणु में भी पुरुष का भान नहीं होसकता, इसी प्रकार स्वप्न में भी हस्ती, पर्वत आदि का देखना तद्विषयकस्मृति और सङ्कल्प के अधीन है ॥

अब भ्रान्ति का निरोध क्योंकर हो सकता है ? यह दिखलाते हैं:-

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥ (४५४)

उ०-जागने पर जैसे स्वप्नविषयक अभिमान का नाश होजाता है वैसे ही तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है ॥

जिस वस्तु में जो धर्म नहीं है उस में उस का मानना मिथ्याज्ञान कहलाता है। जैसे स्थाणु को पुरुष समझना और जो पदार्थ जैसा है, उस को वैसा ही मानना तत्त्वज्ञान कहलाता है, जैसे स्थाणु को स्थाणु और पुरुष को पुरुष मानना। सो यह मिथ्याज्ञान(कुछ का कुछ समझना)तत्त्वज्ञान होने पर ऐसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे जागने पर स्वप्नविषयक अभिमान जाता रहता है ॥

अब मिथ्या बुद्धि का भी सद्भाव सिद्ध करते हैं-

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥ (४५५)

कारण और सत्ता की उपलब्धि होने से मिथ्या बुद्धि का भी (अस्तित्व है) ॥

मिथ्या बुद्धि का कारण और उससे उत्पन्न हुई उस की सत्ता इन दोनों की उपलब्धि होती है, इस लिये मिथ्या बुद्धि भी अवश्य है ॥

अब मिथ्याबुद्धि के भेद दिखलाते हैं।—

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥३७॥ (४५६)

तत्त्व और प्रधान इन दो भेदों से मिथ्या बुद्धि दो प्रकार की है ॥

स्थाणु तत्त्व है और पुरुष प्रधान है, इन दोनों में भेद होने से ही स्थाणु में पुरुष की भ्रान्ति होती है और इसी को मिथ्या बुद्धि कहते हैं जो कि संशयास्पद होने से ही दो प्रकार की मानी गई है। यद्यपि तत्त्वबुद्धि के होने पर मिथ्या बुद्धि नहीं रहती तथापि जब तक तत्त्वबुद्धि उत्पन्न नहीं होती तब तक तो उस की सत्ता माननी पड़ती है ॥

अब तत्त्वज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, यह दिखलाते हैं:-

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥ (४५७)

समाधिविशेष के अभ्यास से (तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है) ॥

इन्द्रियों के अर्थों से हटाये हुवे मन को धारक प्रयत्न के द्वारा आत्मा में लगाने का नाम समाधि है, उस समाधि के अभ्यास से तत्त्वबुद्धि उत्पन्न होती है, जिस से चित्त के मल विक्षेप और आवरण दूर होकर आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान होता है ॥

अब आगे के दो सूत्रों से पूर्वपक्ष लेकर शङ्का करते हैं:-

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥ (४५८)

क्षुदादिभिःप्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥ (४५९)

पू०—अर्थविशेषों की प्रबलता से तथा भूख आदि की प्रवृत्ति से (समाधि) नहीं होसकती ॥

इन्द्रियों के अर्थ ऐसे प्रबल हैं कि जो उन को ग्रहण करना नहीं चाहता वह भी उन से बच नहीं सकता। यदि किसी प्रकार कोई कृत्रिम उपायों से अपने मन को हटा भी लेवे (यद्यपि यह भी दुष्कर है) तथापि स्वाभा-

विक दूषयों से तो वह किसी प्रकार नहीं बच सकता। भूख, प्यास, शीत, आतप और रोग आदि ही उसके मन को चलायमान करने के लिये पर्याप्त हैं, इस दशा में समाधि की सिद्धि किस प्रकार होसकती है?

अब इस का समाधान करते हैं:-

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१॥ (४६०)

उ०-पूर्वकृत फल के लगाव से उस (समाधि) की उत्पत्ति होती है ॥

समाधि की सिद्धि कुछ एक ही जन्म के अभ्यास से नहीं होती किन्तु अनेक जन्मों के शुभसंस्कार और अभ्यास इस में कारण हैं। यदि अभ्यास निष्फल होता तो लोक में उस का इतना आदर न किया जाता। जब लौकिक कार्यों के भी विघ्नों को दूर करने की शक्ति अभ्यास में है, तब पारमार्थिक कार्यों में इस की शक्ति क्योंकर कुण्ठित हो सकती है?

अब योगाभ्यास का स्थान बतलाते हैं:-

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः॥ ४२॥ (४६१)

वन, गुफा और नदीतीर आदि स्थानों में योगाभ्यास का उपदेश (किया जाता है) ॥

विविक्त स्थानों में ही योग का अभ्यास हो सकता है, जब पूर्व संस्कार और वर्त्तमान के अभ्यास से तत्त्वज्ञान की उत्कट जिज्ञासा होती है तब समाधि भावना के बढने से योग की सिद्धि होती है ॥ अब शङ्का करते हैं:-

अपवर्गेऽप्येवंप्रसङ्गः ॥ ४३ ॥ (४६२)

मोक्ष में भी ऐसा ही प्रसङ्ग होगा ॥

जैसे लोक में कोई अपने को बाह्य अर्थों से नहीं बचासकता, ऐसे ही मोक्ष में भी इन्द्रिय अर्थों से संयुक्त होकर बुद्धि को विचलित करेंगे ॥

अब दो सूत्रों से इस का समाधान करते हैं:-

न, निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥ (४६३)

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥ (४६४)

शरीरादि में (तो) बाह्यज्ञान के अवश्यम्भावी होने से ऐसा नहीं हो सकता, परन्तु अपवर्ग में तो उस (शरीर) का अभाव हो जाता है ॥

इन दोनों सूत्रों का तात्पर्य यह है कि शरीरादि के होते हुवे तो कोई अपने को सर्वथा बाह्य ज्ञान की उपलब्धि से नहीं बचा सकता। परन्तु मोक्ष में तो इस स्थूल शरीर का, जो चेष्टा और इन्द्रियार्थों का आयतन है, अभाव हो जाता है, अतएव मोक्ष में इन का प्रसङ्ग नहीं होसकता क्योंकि जब आधार ही नहीं तो आधेय कहां रह सकता है ॥

अब मोक्ष प्राप्ति के साधन दिखलाते हैं:-

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारोयोगाच्चा-
ध्यात्मविध्युपायैः ॥ ४६ ॥ (४६५)

उ०-उस (मोक्ष) के लिये यम और नियमों से तथा अध्यात्मविधि के उपायों द्वारा योग से आत्मा का संस्कार करना चाहिये ॥

योग के आठ अङ्ग हैं, जिन का निरूपण योग शास्त्र के साधन पाद में किया गया है, उन में से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम पहिला अङ्ग हैं। और शौच, सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ये पांच नियम दूसरा अङ्ग कहलाते हैं। मुमुक्षु को प्रथम इन के सेवन से आत्मा का संस्कार करना चाहिये अर्थात् योग के प्रतिबन्ध मल, विक्षेप और आवरण को दूर करना चाहिये। तत्पश्चात् योग अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि से अध्यात्मतत्त्व को प्राप्त होना चाहिये ॥ मुमुक्षु को फिर क्या करना चाहिये:-

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥ (४६६)

उ०-ज्ञान के ग्रहण का अभ्यास और उस के जानने वालों के साथ संवाद ॥

उक्त साधनों के अतिरिक्त मोक्ष की प्राप्ति के लिये मुमुक्षु को अध्ययन, श्रवण और मनन के द्वारा तत्त्वज्ञान का निरन्तर अभ्यास और बुद्धि के परिपाक के लिये तत्त्वज्ञानियों के साथ संवाद भी करना चाहिये क्योंकि बिना अभ्यास के ज्ञान की वृद्धि और बिना संवाद के बुद्धि की परिपक्वता और सन्देहों की निवृत्ति नहीं हो सकती ॥ अब संवाद का प्रकार दिखलाते हैं:-

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोऽर्थिभि
रनसूयिभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥ (४६७)

उस (आत्मज्ञ) को विशिष्ट ज्ञानी, श्रेयोऽर्थी और निन्दारहित शिष्य, गुरु और सहाध्यायी के द्वारा प्राप्त करे ॥

बिना आत्मतत्त्ववित् आचार्य की दीक्षा के कोई आत्मज्ञान का लाभ नहीं कर सकता अतएव अनिन्दित गुरु, शिष्य और सहाध्यायियों के साथ ऐसे आचार्य की सेवा में विनीत भाव से जाना चाहिये, उपनिषद् भी कहती है—सगुरुमेवाभिगच्छेत्""श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् । इत्यादि ॥

पुनः इसी का प्रतिपादन करते हैं:—

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥४९॥ (४६८)

तत्त्व की जिज्ञासा होने पर अपने प्रयोजन के लिये प्रतिपक्षहीन होकर प्राप्त होवे ॥

जिज्ञासु को किसी पक्ष का आग्रह न होना चाहिये । किन्तु निर्मत्सर होकर किसी पक्ष का स्थापन न करता हुवा तत्त्व का निर्णय करे क्योंकि अपने पक्ष का आग्रह होने से मनुष्य न्याय का उल्लङ्घन कर जाता है ॥

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥५०॥ (४६९)

जैसे बीजाङ्कुर की रक्षा के लिये कण्टक शाखाओं का आवरण किया जाता है, वैसे ही तत्त्वनिर्णय की रक्षा के लिये जल्प और वितण्डा हैं ॥

जल्प और वितण्डा का लक्षण प्रथमाऽध्याय में कह चुके हैं । जिज्ञासु को मत्सरता और हठ से कभी इन का आश्रय न लेना चाहिये, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर तत्त्व की रक्षा के लिये (जैसे खेत की रक्षा के लियेकांटों की बाड़ लगा देते हैं।) इन का प्रयोग करना चाहिये ॥

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

समाप्तश्चायमध्यायः ॥ ४ ॥

प्रथम अध्याय में साधर्म्य और वैधर्म्य के प्रत्यवस्थान के विकल्प से जाति और निग्रह स्थान का बहुत्व प्रतिपादन कर चुके हैं, अब इस पांचवें अध्याय में इन दोनों का विस्तार से विभाग करते हैं। पहिले आह्निक में जाति का विभाग किया जाता है। जाति के निम्नलिखित चौबीस भेद हैं:-

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्य-प्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्य-विशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ ॥ १ ॥ (४७०)

१-साधर्म्यसम, २-वैधर्म्यसम, ३-उत्कर्षसम, ४-अपकर्षसम, ५ वर्ण्यसम, ६-अवर्ण्यसम, ७-विकल्पसम, ८-साध्यसम, ९ प्राप्तिसम, १०-अप्राप्तिसम, ११-प्रसङ्गसम, १२-प्रतिदृष्टान्तसम, १३-अनुत्पत्तिसम, १४-संशयसम, १५-प्रकरणसम, १६-हेतुसम, १७-अर्थापत्तिसम, १८-अविशेषसम, १९-उपपत्तिसम, २०-उपलब्धिसम, २१-अनुपलब्धिसम, २२-नित्यसम, २३-अनित्यसम, और २४—कार्यसम ॥

ये चौबीस जाति के भेद हैं, इन के पृथक् २ लक्षण और उदाहरण आगे आवेंगे। इन जातिभेदों के द्वारा प्रतिपक्षी के स्थापनाहेतुओं का प्रतिषेध किया जाता है ॥ अब साधर्म्यसम और और वैधर्म्यसम का लक्षण कहते हैं:-

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययो-पपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥ (४७१)

साधर्म्य तथा वैधर्म्य से साध्य के उपसंहार करने पर तद्धर्मव्यतिक्रम की उपपत्ति होने से साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम (जातिभेद उत्पन्न होते हैं)

साधर्म्यसम का निदर्शन यह है कि आत्मा क्रियावान् है, यह किसी की प्रतिज्ञा है, क्रिया और गुण के योग होने से, यह हेतु है, जैसे मृत्पिण्ड, यह उदाहरण है, जैसे लोष्ट द्रव्य होने से क्रियावान् है, ऐसे ही आत्मा भी द्रव्य होने से क्रियावान् है, ऐसा उपसंहार करने पर दूसरा साधर्म्य से ही इस का प्रत्यवस्थान करता है, जो इस प्रकार है:-आत्मा निष्क्रिय है, यह प्रतिज्ञा हुई, विभु होने से, यह हेतु है, जैसे आकाश, यह उदाहरण है, जैसे आकाश विभु होने से क्रियारहित है, ऐसे ही आत्मा भी विभु होने से निष्क्रिय है।

पहिले निदर्शन में क्रियावान् मृत्पिण्ड के साधर्म्य से आत्मा को भी क्रियावान् होना चाहिये, दूसरे में क्रियाशून्य आकाश के साधर्म्य से आत्मा को भी निष्क्रिय होना चाहिये, इन दोनों में विशेष हेतु के अभाव से साधर्म्यसम प्रतिषेध होता है। अब वैधर्म्यसम का दृष्टान्त देते हैं-क्रियागुणयुक्त मृत्पिण्ड परिच्छिन्न देखा जाता है, पर आत्मा वैसा नहीं है, इस लिये मृत्पिण्ड के समान आत्मा क्रियावान् नहीं है, ऐसा उपसंहार करने पर दूसरा वैधर्म्य से इस का प्रत्यवस्थान करता है-विभु आकाश क्रिया (चेष्टा) रहित देखा जाता है, पर आत्मा ऐसा नहीं है, इस लिये आकाश के समान आत्मा निष्क्रिय नहीं है, यहां दोनों में विशेष हेतु के न होने से वैधर्म्यसम प्रतिषेध हुवा। इन दोनों का उत्तरः-

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥ (४७२)

उ०—गोत्व से गोसिद्धिवत् उस की सिद्धि होगी ॥

केवल साधर्म्य अथवा केवल वैधर्म्य से साध्य के सिद्ध करने में अव्यवस्था उत्पन्न होती है। गोत्वरूप जातिविशेष से गौ की सिद्धि होती है, न कि पुच्छ और विषाण आदि के सम्बन्ध से, अतः प्रत्येक व्यक्ति की सिद्धि में उस की जाति (सत्ता) ही मुख्यकारण है, न कि बाह्य चिह्न ॥

अब ३-उत्कर्षसम, ४-अपकर्षसम, ५-वर्ण्यसम, ६-अवर्ण्यसम, ७-विकल्पसम, और ८-साध्यसम का लक्षण कहते हैं:—

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥ (४७३)

साध्य और दृष्टान्त के धर्मविकल्प से दोनों प्रकार से सिद्ध होने वाले उक्त छहों प्रतिषेध होते हैं ॥

दृष्टान्तधर्म को साध्य के साथ जो मिलाता है, उसे उत्कर्षसम कहते हैं। जैसे-यदि मृत्पिण्ड के समान आत्मा भी क्रियावान् हो तो उस ही के समान स्पर्शवान् भी क्यों नहीं? यदि स्पर्शवान् नहीं तो क्रियावान् भी नहीं हो सकता। साध्य में दृष्टान्त से धर्म के अभाव को जो कहता है, उसे अपकर्षसम कहते हैं। जैसे-क्रियावान् लोष्ट अविभु देखा गया है, यदि आत्मा भी क्रियावान् है तो वह भी अविभु होना चाहिये। ख्यापनीय वर्ण्यसम और अख्यापनीय अवर्ण्यसम कहलाता है। ये दोनों साध्य और दृष्टान्त के धर्म हैं। साधनधर्मयुक्त दृष्टान्त में धर्मान्तर के विकल्प से साध्यधर्म के विकल्प

का प्रसङ्ग कराने वाले को विकल्पसम कहते हैं। जैसे-क्रियावान् वस्तु कोई भारी होता है, जैसा लोष्ट और कोई हलका होता है, जैसा वायु, ऐसे ही क्रियावान् कोई परिछिन्न हो सकता है जैसे-लोष्ट और कोई विभु हो सकता है जैसे-आत्मा। साध्य का दृष्टान्त में प्रसङ्ग कराने वाले को साध्यसम कहते हैं। जैसे-यदि लोष्ट के समान आत्मा है तो आत्मा के समान लोष्ट भी होना चाहिये। यदि आत्मा का क्रियावान् होना साध्य है तो लोष्ट का भी साध्य है, अन्यथा जैसा लोष्ट वैसा आत्मा, यह हो नहीं सकता॥

अब इन का समाधान करते हैं:—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥५॥ (४७४)

साध्य की सिद्धि में कुछ साधर्म्य के होने से वैधर्म्य के कारण प्रतिषेध युक्त नहीं॥

सिद्ध वस्तु का छिपाना नहीं हो सकता, कुछ साधर्म्य के होने से उपमान की सिद्धि होती है। दृष्टान्त में दार्ष्टान्त के सारे धर्म नहीं मिल सकते, यदि सब मिल जांय तो फिर वह दृष्टान्त ही नहीं कहला सकता, अतएव वैधर्म्य से साध्य की सिद्धि में दूषण देना ठीक नहीं॥

दूसरा समाधान करते हैं:-

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥ (४७५)

साध्य के अतिदेश से भी दृष्टान्त की उपपत्ति होती है॥

उ०-दृष्टान्त में साध्य के एकदेश का अतिदेश किया जाता है, नकि सब अङ्गों का और इसी लिये वह दृष्टान्त कहलाता है, अन्यथा सब अङ्गों के मिलने से तो फिर उस में और साध्य में कुछ भेद नहीं रहता, इस लिये साध्यसम प्रतिषेध अयुक्त है॥

अब प्राप्यसम और अप्राप्यसम का लक्षण कहते हैं:-

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या अविशिष्टत्वादप्राप्त्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥ (४७६)

पू०-प्राप्ति में विशेषता न होने से हेतु के साध्य को पाकर सिद्ध करने का नाम प्राप्यसम और अप्राप्ति में साधक न होने से साध्य को न पाकर सिद्ध करने वाला प्रतिषेध अप्राप्यसम कहलाता है॥

हेतु साध्य को पाकर सिद्ध करता है वा न पाकर?। यह प्रश्न है। यदि कहो कि पाकर, तो दोनों की विद्यमानता में कौन किस का साधक और

कौन किस का साध्य है, यह अव्यवस्था होगी। यदि कहो न पाकर, तो बिना प्राप्ति के साध्य साधक भाव हो नहीं सकता, जैसे दीपक जहां नहीं है, वहां अपना प्रकाश नहीं कर सकता। इस का तात्पर्य यह है कि प्राप्ति से खण्डन करना प्राप्यसम और अप्राप्ति से खण्डन करना अप्राप्यसम कहाता है॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ८ (४७७)

उ०-घटादि की निष्पत्ति देखने से और अभिचार से पीड़ा होने पर निषेध अयुक्त है॥

दोनों प्रकार के प्रतिषेध अयुक्त हैं क्योंकि कहीं हेत्वादि की प्राप्ति से साध्य की सिद्धि होती है और कहीं अप्राप्ति से। प्राप्ति से-जैसे कर्त्ता, करण और अधिकरण ये तीनों मिलकर घटादि कार्य को सिद्ध करते हैं। अप्राप्ति से-जैसे अभिचार (गुप्तरीति से) किसी को पीड़ा पहुंचाने पर वह हेतु को न देखता हुवा वा न जानता हुवा भी पीड़ा का अनुभव करता है। यह अप्राप्त हेतु से साध्य की सिद्धि है, अतः प्राप्यसम और अप्राप्यसम प्रतिषेध अयुक्त है॥ अब प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम का लक्षण कहते हैं:-

दृष्टान्तस्य कारणाऽनपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टा-न्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ॥ ९॥ (४७८)

पू०-दृष्टान्त के कारण के अनपदेश से और प्रतिदृष्टान्त से खण्डन होने के कारण प्रसङ्गसम और प्रतिदृष्टान्तसम (प्रतिषेध होते हैं)॥

प्रसङ्ग में खण्डन करना प्रसङ्गसम प्रतिषेध कहलाता है। जैसे-" क्रियावान् लोष्ट है " इस प्रतिज्ञा की सिद्धि में जो यह हेतु दिया था कि "क्रिया गुणयुक्त होने से" यह हेतु पर्याप्त नहीं क्योंकि क्रियागुणयुक्त होना लोष्ट का साध्य है, फिर उसी को हेतु कैसे मान सकते हैं? प्रतिदृष्टान्त से खण्डन करना प्रतिदृष्टान्तसम कहलाता है। जैसे-"आत्मा क्रियावान् है" इस प्रतिज्ञा की सिद्धि में " क्रियागुणयुक्त होने से, लोष्ट के समान" इन हेतु और दृष्टान्त के देने पर प्रतिवादी प्रतिदृष्टान्त से इस का खण्डन करता है कि आकाश क्रियागुणयुक्त है, परन्तु निष्क्रिय है॥ अब प्रसङ्गसम का उत्तर देते हैं:-

प्रदीपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः॥ १०॥ (४७९)

उ०–प्रदीप के ग्रहण करने में जैसे प्रसङ्ग की निवृत्ति होती है, वैसे ही इस की निवृत्ति (भी हो जायगी) ॥

अज्ञात के ज्ञापनार्थ दृष्टान्त का प्रयोग किया जाता है, इस में कारण का अपदेश निरर्थक है । जैसे दृश्य के देखने के लिये दीपक का प्रयोग किया जाता है, इस पर यदि कोई कहने लगे कि जब तक दीपक का कारण सिद्ध न हो जायगा, तब तक दीपक से दृश्य रूप साध्य की सिद्धि अथवा अर्थलाभ को मैं नहीं मानूंगा । जैसा यह कथन असङ्गत है वैसे ही दृष्टान्त में कारण का अपदेश चाहना निरर्थक है, क्योंकि जब लौकिक और परीक्षक दोनों को समझाने के लिये दृष्टान्त काम में लाया जाता है, तब वह स्वयं सिद्ध है, उस को साध्य मान कर उस के कारण के अनपदेश का उपालम्भ देना व्यर्थ है ॥ अब प्रतिदृष्टान्तसम का उत्तर देते हैं:–

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ११ ॥ (४८०)

उ०–प्रतिदृष्टान्त के हेतुत्व में दृष्टान्त अहेतु नहीं है ॥

दृष्टान्त के खण्डन में प्रतिदृष्टान्त दिया जाता है, जब दृष्टान्त साध्य का साधक नहीं तो प्रतिदृष्टान्त उस का बाधक कैसे हो सकता है और न प्रतिवादी ने प्रतिदृष्टान्त के साधक होने में कोई विशेष हेतु दिया, अतएव यही प्रश्न जो दृष्टान्त पर किया गया है, हम प्रतिदृष्टान्त पर भी कर सकते हैं ॥

अब अनुत्पत्तिसम का लक्षण कहते हैं:–

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥ (४८१)

पू०–उत्पत्ति के पूर्व कारण के अभाव से अनुत्पत्तिसम प्रतिषेध होता है ॥

अनुत्पत्ति से खण्डन करना अनुत्पत्तिसम प्रतिषेध कहलाता है । जैसे–वादी ने प्रतिज्ञा की कि "शब्द अनित्य है" इस पर हेतु यह दिया कि "प्रयत्न की आवश्यकता होने से" दृष्टान्त यह दिया कि "घट के समान" अब इस पर प्रतिवादी कहता है कि उत्पत्ति से पूर्व अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्न की आवश्यकता जो अनित्यता का हेतु है, नहीं है, उस के अभाव से नित्यत्व प्राप्त हुआ और नित्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती, इस प्रकार अनुत्पत्ति से खण्डन करना अनुत्पत्तिसम कहलाता है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:–

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥ १३ ॥ (४८२)

पू०-उत्पन्न से वैसा होने से तथा उस में कारण की उत्पत्ति होने से कारण का निषेध नहीं हो सकता ॥

उत्पन्न होकर ही शब्द कहलाता है, उत्पत्ति से पूर्व जब शब्द ही नहीं है, तब अनुत्पत्ति को कारण मान कर उस का खण्डन करना अयुक्त है। तात्पर्य यह है कि प्रयत्न की आवश्यकता (जो अनित्यता का हेतु है) शब्द से तभी सम्बद्ध हो सकती है जब कि वह उत्पन्न होकर शब्द बन जावे और जब शब्द उत्पन्न ही नहीं हुवा है तब उत्पत्ति के पूर्व कारण का अभाव मान कर दूषण देना ठीक नहीं ॥ अब संशयसम का लक्षण कहते हैं:-

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्या-नित्यसाधर्म्यात् संशयसमः ॥ १४ ॥ (४८३)

पू०-सामान्य और दृष्टान्त में ऐन्द्रियकत्व धर्म समान है अतः नित्य और अनित्य के साधर्म्य से संशयसम प्रतिषेध (होता है) ॥

संशय से जिस का खण्डन किया जाय वह संशयसम कहाता है। जैसे-"शब्द अनित्य है, प्रयत्न की आवश्यकता होने से, घट के समान" इस प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त के देने पर प्रतिवादी हेतु में यह संशय करता है कि प्रयत्न की आवश्यकता रहते हुवे भी उस का नित्य सामान्य के साथ और अनित्य घट के साथ ऐन्द्रियकत्वरूप साधर्म्य है, इस लिये नित्य और अनित्य के साधर्म्य से संशय होता है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

साधर्म्यात्संशये न संशयोवैधर्म्यादुभयथा वा संशयोऽत्यन्त-संशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥ ॥ १५ ॥ (४८४)

उ०-साधर्म्य से संशय होने पर (भी) वैधर्म्य से संशय नहीं रहता, यदि दोनों प्रकार से संशय (माना जावे तो) अत्यन्त संशय का प्रसङ्ग (होता है) नित्यत्व के अनभ्युपगम से भी सामान्य का निषेध नहीं होता॥

जैसे विशेष वैधर्म्य से पुरुष का निश्चय हो जाने पर स्थाणु और पुरुष के साधर्म्य से संशय को अवकाश नहीं रहता। ऐसे ही विशेष वैधर्म्य से शब्द के अनित्य सिद्ध हो जाने पर नित्य और अनित्य के सामान्य साधर्म्य से भी संशय की उपपत्ति नहीं होती, यदि हो तो साधर्म्य के अभाव न होने

से उत्पन्न संशय की प्राप्ति होती है। विशेष का ज्ञान होने पर नित्य और अनित्य साधर्म्य संशय का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष का ज्ञान हुवे पश्चात् स्थाणु और पुरुष का साधर्म्य सन्देह का हेतु नहीं होता॥

अब प्रकरणसम का लक्षण कहते हैं:-

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥ (४८५)

पू०-दोनों के साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि (होने पर) प्रकरणसम (होता है) ॥

पक्ष और प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति को प्रक्रिया कहते हैं और वह नित्य और अनित्य के साधर्म्य से सिद्ध होती है, जिस से कि प्रकरणसम की उत्पत्ति होती है अर्थात् एक पक्ष घट के साधर्म्य से शब्द को अनित्य सिद्ध करता है, दूसरा नित्य के साधर्म्य से उसी को नित्य सिद्ध करता है, इसी प्रकार नित्य और अनित्य के वैधर्म्य से भी प्रकरणसम की उत्पत्ति होती है, तात्पर्य यह है कि प्रकरण का आश्रय लेकर खण्डन करना प्रकरणसम कहाता है ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७ ॥ (४८६)

उ०-प्रतिपक्ष से प्रकरणसिद्धि होने पर प्रतिपक्ष की उपपत्ति होने से प्रतिषेध नहीं हो सकता ॥

यदि दोनों के साधर्म्य से प्रकरण की सिद्धि होती है तो प्रकरणसिद्धि में प्रतिपक्ष कारण हुआ और जब प्रतिपक्ष कारण है तो फिर प्रतिषेध हो नहीं सकता क्योंकि प्रतिपक्ष और प्रतिषेध इन दोनों की एक साथ उपपत्ति हो नहीं सकती, अतः तत्त्व के अनवधारण से प्रकरणसिद्धि होती है तत्त्व के निश्चय होने पर प्रकरण समाप्त हो जाता है॥ अब अहेतुसम का लक्षण कहते हैं:-

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥ (४८७)

पू०-हेतु के तीनों कालों में असिद्ध होने से अहेतुसम होता है॥

हेतु नाम साधन का है वह साध्य के पहिले होता है वा पीछे वा साथ ? यदि कहो कि पहिले होता है तो साध्य के अभाव में वह साधन किस का था ? और यदि पीछे होना मानो तो साधन के अभाव में वह साध्य किस का होगा ? यदि दोनों का साथ २ होना मानोगे तो दोनों के विद्यमान

होने पर कौन किस का साधन और कौन किस का साध्य कहावेगा ? इस प्रकार हेतु की तीनों काल में असिद्धि होने से अहेतुसम प्रत्यवस्थान उत्पन्न होगा ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:—

न, हेतुतःसाध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥ (४८८)

उ०-हेतु से साध्य की सिद्धि होने से तीनों काल में (उस की) असिद्धि नहीं हो सकती ॥

जब कोई भी कार्य विना कारण के और कोई भी साध्य विना साधन के सिद्ध नहीं होता तब हेतु की त्रैकाल्यासिद्धि कैसे हो सकती है ? और जो प्रतिवादी ने यह कहा था कि साध्य के अभाव में किस का साधन होगा ? इस का उत्तर यह है कि जो बनता है और जो जाना जाता है वही साध्य है और उसी का बनाने वाला और जनाने वाला हेतु (साधन) हुवा करता है ॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥२०॥ (४८९)

उ०—निषेध की उपपत्ति न होने से निषेद्धव्य का निषेध नहीं होसकता ॥

हेतु से साध्य की सिद्धि होना यह प्रतिवादी का निषेद्धव्य विषय है और इस के खण्डन में वह " हेतोस्त्रैकाल्यासिद्धेः " यह हेतु देता है । भाई ! तुम्हारा तो पक्ष यह था कि हेतु साध्य की सिद्धि में अपर्याप्त है, फिर अपने कथन की पुष्टि में तुम उसी अपर्याप्त हेतु का आश्रय लेते हो, यह वदतोव्याघात नहीं तो और क्या है ? जब दूसरे का हेतु तुम्हारी दृष्टि में उस के पक्ष को सिद्ध नहीं करता तो तुम्हारा हेतु तुम्हारे कथन को कैसे सिद्ध करेगा ? अतः निषेध अनुपपन्न है ॥ अब अर्थापत्तिसम का लक्षण कहते हैं:-

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥२१॥ (४९०)

पू०-अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि होने पर अर्थापत्तिसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

एक बात के कहने से दूसरी बात की प्रतिपत्ति होना अर्थापत्ति कहलाती है, उस अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि होने पर अर्थापत्तिसम की उत्पत्ति होती है। जैसे किसी ने कहा कि "उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है, " दूसरा अर्थापत्ति से इस का निषेध करता है-" अस्पृष्ट होने से शब्द नित्य है " ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वा-
दनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥ २२ ॥ (४९१)

उ०–अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अनुक्त की अर्थापत्ति से पक्षहानि की प्राप्ति होती है ॥

सामर्थ्य का प्रतिपादन न करके यह कहना कि " अनुक्त की अर्थ से उपपत्ति होती है " स्वपक्ष हानि को सूचित करता है " उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है" इस का अर्थापत्ति से यह तात्पर्य निकालना कि "अस्पर्श होने से शब्द नित्य है" ऐसा ही है जैसा कि " कठिन पत्थर पतनशील है " इस का कोई यह तात्पर्य निकाले कि द्रवीभूत जल में पतन का अभाव है, इस अर्थापत्ति के अनुक्त और अनैकान्तिक होने से अर्थापत्तिसम प्रत्यवस्थान ठीक नहीं ॥ अब अविशेषसम का लक्षण कहते हैं:–

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्
सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ २३ ॥ (४९२)

पू०–अविशेष में एक धर्म की उपपत्ति होने से सब में समता का प्रसङ्ग होने पर सामान्य भाव की उपपत्ति से अविशेषसम होता है ॥

शब्द और घट में उत्पन्न होना रूप एक धर्म पाया जाता है तब इन दोनों के अनित्यत्व में अविशेषता हुई, जिस से अविशेषसम प्रत्यवस्थान की उत्पत्ति होती है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:–

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥२४॥ (४९३)

उ०–कहीं धर्म की अनुपपत्ति और कहीं उपपत्ति होने से निषेध का अभाव है ॥

उस एक धर्म की कहीं उपपत्ति होती है, जैसे कि घट उत्पत्तिमान् है तो शब्द भी उत्पन्न होता है। कहीं नहीं होती, जैसे कि घट स्पर्शवान् है पर शब्द नहीं, अतः अविशेषता के अनैकान्तिक होने से अविशेषसम प्रतिषेध का अभाव है ॥ अब उपपत्तिसम का लक्षण कहते हैं:–

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥ (४९४)

पू०–दोनों कारणों की उपपत्ति होने से उपपत्तिसम होता है ॥

यदि उत्पन्न होना रूप शब्द के अनित्यत्व का कारण मिलता है तो अस्पर्शत्व रूप उस के नित्यत्व का भी कारण उपलब्ध होता है, अब इन दोनों

कारणों की उपपत्ति से उपपत्तिसम प्रत्यवस्थान प्रसक्त होता है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥ (४९५)

उ०—उपपत्तिकारण के स्वीकार से निषेध नहीं हो सकता ॥

दोनों कारणों की उपपत्ति को स्वीकार करते हुवे प्रतिवादी ने अनित्यत्व के कारण की उपपत्ति को भी मान लिया, फिर उस का निषेध क्योंकर हो सकता है ? यदि व्याघात से निषेध माना जावे तो व्याघात दोनों में तुल्य है, फिर दो में से एक की सिद्धि वह कैसे कर सकेगा ? अब उपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं:—

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥ (४९६)

पू०-निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि से उपलब्धिसम होता है ॥

प्रयत्नजन्यत्व रूप निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी वायुप्रेरणाकृत वृक्षशाखाभङ्ग से जो शब्द उत्पन्न होता है, उस में भी अनित्यत्वधर्म उपलब्ध होता है और यही उपलब्धिसम प्रत्यवस्थान है ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥२८॥ (४९७)

उ०-कारणान्तर से भी उस धर्म की उपपत्ति होने से निषेध नहीं हो सका॥

जब तुम्हारे ही कथनानुसार कारणान्तर से भी उत्पन्न शब्द में अनित्यता की उपपत्ति होती है फिर उस को मानकर निषेध कैसा ? उच्चारण के पूर्व अविद्यमान शब्द की उपलब्धि नहीं, जैसे जलादि वस्तुओं की अनुपलब्धि आवरण आदि के कारण होती है, वैसी शब्द की नहीं, अतः जलादि के विपरीत शब्द अनुपलभ्यमान है ॥

अब अनुपलब्धिसम का लक्षण कहते हैं:—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥ २९ ॥ (४९८)

पू०-उस की अनुपलब्धि के ग्रहण न होने से अभाव की सिद्धि होने पर उस के विपरीत उपपत्ति से अनुपलब्धिसम होता है ॥

नैयायिक शब्द को अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि यदि शब्द नित्य होता तो उच्चारण के पूर्व उस की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? जैसे घटादि की उपलब्धि भित्यादि आवरण से नहीं होती, ऐसे शब्द का कोई आवरण नहीं है। इस पर प्रतिवादी कहता है कि यदि आवरण की अनुपलब्धि से आवरण का अभाव मानोगे तो आवरण की अनुपलब्धि के भी अनुपलम्भ से आवरण की अनुपलब्धि का भी अभाव मानना पड़ेगा, जिस से तद्विपरीत आवरण की उपपत्ति सिद्ध होजायगी। यह अनुपलब्धिसम प्रत्यवस्थान है॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥ (४९९)

उ०-अनुपलब्धि के अनुपलम्भात्मक होने से (उक्त हेतु) अहेतु है॥

" अनुपलब्धि के अनुपलम्भ से " यह हेतु निर्मूल है क्योंकि अनुपलब्धि स्वयं अनुपलम्भात्मक है। जो है उस की उपलब्धि होती है और जो नहीं है उस की सर्वथा अनुपलब्धि है, फिर उस अनुपलब्धि की अनुपलब्धि क्या होगी ? भला कहीं भाव का भाव और अभाव का अभाव भी हो सकता है ? कदापि नहीं। यदि आवरणादि विद्यमान हैं तो उन की उपलब्धि होनी चाहिये और यदि उन की उपलब्धि नहीं होती तो उन की अविद्यमानता सिद्ध है॥ पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥३१॥ (५००)

उ०-आत्मा में ज्ञानविकल्पों के होने और न होने का अनुभव करने से (भी उक्त हेतु) अहेतु है॥

प्रत्येक मनुष्य के आत्मा में ज्ञानविकल्पों के होने और न होने का अनुभव होता रहता है। यथा-मैं घट को देखता हूं, अग्नि का अनुमान करता हूं, इत्यादि। इस प्रकार किसी को यह अनुभव नहीं होता कि मुझे शब्द के आवरण की अनुपलब्धि है अतः आत्मसंवेदनीय अर्थों से बाह्य होने के कारण शब्द के आवरण की कल्पना ठीक नहीं॥

अब अनित्यसम का लक्षण कहते हैं:-

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः॥

सू०-साधर्म्य से तुल्य धर्म की उपपत्ति होने पर सब में अनित्यत्व के प्रसङ्ग होने से अनित्यसम प्रत्यवस्थान होता है॥ ३२॥ (५०१)

अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने में सब की अनित्यता सिद्ध होगी, क्योंकि सद्रूप घट के साथ सब भावों का साधर्म्य है अर्थात् घट सत् है तो आत्मा भी सत् है अतएव आत्मा में भी अनित्यता की आपत्ति होगी ॥ अब इस का उत्तर देते हैं:-

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥

उ०-साधर्म्य से असिद्धि होने पर प्रतिषेध्य के साधर्म्य से भी निषेध की असिद्धि होगी ॥ ३३ ॥ (५०२)

जब तुम थोड़े से साधर्म्य से सब का साध्य होना सिद्ध करते हो तो तुम्हारा साधर्म्य असाधक हुवा, फिर उस से किया हुवा प्रतिषेध क्योंकर सिद्ध हो सकता है क्योंकि वह भी तो प्रतिषेध्य के साधर्म्य से प्रवृत्त होता है अर्थात् जब तुम्हारी दृष्टि में कृतकत्व रूप साधर्म्य शब्द की अनित्यता का साधक नहीं है तो फिर सद्भाव रूप साधर्म्य जिसको लेकर तुम हमारा खण्डन करने में प्रवृत्त हुवे हो, कैसे तुम्हारे पक्ष का साधक होगा ? पुनः इसी की पुष्टि करते हैं:-

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथाभावान्नाविशेषः ॥३४॥ (५०३)

उ०-दृष्टान्त में जो धर्म साध्य साधन भाव से ज्ञात होता है, उस के हेतु तथा दोनों प्रकार से होने के कारण अविशेष नहीं ॥

दृष्टान्त में जो धर्म साध्य साधन भाव से जाना जाता है, वह हेतु कहलाता है और वह दो प्रकार का होता है। किसी से समान और किसी से विशेष। समान से साधर्म्य और विशेष से वैधर्म्य होता है, अतः केवल साधर्म्य या केवल वैधर्म्य का आश्रय लेना ठीक नहीं क्योंकि ये दोनों सापेक्ष हैं ॥

अब नित्यसम का लक्षण कहते हैं:-

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः॥३५॥(५०४)

पू०-नित्य में अनित्य की और अनित्य में नित्य की भावना होने से नित्यसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

"शब्द अनित्य है" यह जो प्रतिज्ञा कीगई है, इस में यह प्रष्टव्य है कि अनित्यत्व शब्द में नित्य है वा अनित्य ? यदि कहो कि नित्य है तो धर्म के नित्य होने से धर्मी शब्द भी नित्य होगा। और यदि अनित्य कहोगे तोभी अनित्यत्व के अभाव से शब्द नित्य सिद्ध होगा ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥ (५०५)

उ०- प्रतिषेध्य (शब्द) में अनित्यत्व के नित्य होने से तथा अनित्य में नित्य की उपपत्ति होने से प्रतिषेध का अभाव है ॥

" शब्द में अनित्यता नित्य है " इस कथन से प्रतिवादी ने शब्द का अनित्य होना स्वीकार करलिया, फिर नित्यत्व की उपपत्ति से "शब्द अनित्य नहीं" यह निषेध युक्त नहीं है, क्योंकि जब शब्द में अनित्यता नित्य है तौ फिर उस में नित्यत्व की उपपत्ति कैसी ? और यदि शब्द में नित्य अनित्यता का स्वीकार न किया जावे तौ भी हेतु के न होने से निषेध ठीक नहीं, अतः यह प्रश्न कि शब्द में अनित्यता नित्य है वा अनित्य ? अनुपपन्न है ॥

अब कार्यसम का लक्षण कहते हैं:-

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ॥ ३७ ॥ (५०६)

पू०—प्रयत्नकार्य के अनेक प्रकार का होने से कार्यसम प्रत्यवस्थान होता है ॥

"प्रयत्न के आनन्तरीयकत्व से शब्द अनित्य है" इस प्रतिज्ञा में जिस के प्रयत्न के अनन्तर जो कार्य होता है, वह न होकर होता है और विध्वंस होने के पश्चात् होकर नहीं रहता, तथा प्रयत्न के अनन्तर किन्हीं पदार्थों का स्वरूप लाभ होता और किन्हीं की अभिव्यक्ति होती है तौ क्या प्रयत्न के अनन्तर शब्द के स्वरूप का लाभ होता है अथवा अभिव्यक्ति ? इस प्रकार प्रयत्नकार्य के अनेक प्रकार का होने से जो दूषण दिया जाता है उस को कार्यसम कहते हैं ॥

अब इस का उत्तर देते हैं:-

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥३८॥ (५०७)

उ० -(शब्द के) कार्यभिन्न होने पर अनुपलब्धि कारण की उपपत्ति से प्रयत्न को हेतुत्व नहीं ॥

यदि शब्द को कार्य न माना जावे तौ अनुपलब्धिकारण की उपपत्ति से उस की अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्न कारण नहीं होसकता । जहां प्रयत्न के अनन्तर अभिव्यक्ति होती है, वहां अनुपलब्धि का कारण व्यवधान होता है, व्यवधान के हटाने से प्रयत्न के पश्चात् होने वाले अर्थ की उपलब्धि रूप अभि-

व्यक्ति होती है। शब्द की अनुपलब्धि का कोई व्यवधान नहीं दीखता जिस के हटाने से शब्द की अभिव्यक्ति हो, इस लिये शब्द उत्पन्न होता है, न कि अभिव्यक्त, इस से सिद्ध है कि कार्यसम प्रत्यवस्थान अनैकान्तिक होने से असाधक है ॥ जातिभेद समाप्त हुवे, अब इन की समालोचना की जाती है:-

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥ (५०८)

प्रतिषेध में भी समान दोष है ॥

यदि अनैकान्तिक होने से कार्यसम असाधक है तो उस का खण्डन भी अनैकान्तिक होने से साधक नहीं होसकता. क्योंकि वह किसी का निषेध करता है और किसी का नहीं करता। जैसे-शब्द के अनित्यत्व पक्ष में प्रयत्न के अनन्तर उत्पत्ति मानी गई है, अभिव्यक्ति नहीं, ऐसे ही नित्यत्व पक्ष में प्रयत्न के पश्चात् अभिव्यक्ति मानी गई है, उत्पत्ति नहीं। दोनों में विशेष हेतु का अभाव है ॥ अनैकान्तिकत्व की सब में अतिव्याप्ति दिखलाते हैं:-

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥ (५०९)

सर्वत्र ऐसा ही है ॥

केवल कार्यसम में ही यह अनैकान्तिकत्व दोष प्राप्त नहीं है किन्तु साधर्म्यसम आदि जो २४ जातिभेद कहेगये हैं, उन सब में इस की प्रसक्ति होती है ॥ प्रतिषेधों के खण्डन में भी इस की प्रवृत्ति होती है। यथा-

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥ (५१०)

प्रतिषेध के विप्रतिषेध में भी प्रतिषेध के दोष के तुल्य दोष है ॥

खण्डन का खण्डन करने में भी अनैकान्तिकत्व दोष का प्रसङ्ग होता है। जैसे-"शब्द अनित्य है कार्य होने से" यह पहिला पक्ष हुवा। "कार्य के अनेकधा होने से इस में कार्यसम प्रत्यवस्थान उपस्थित होता है" यह दूसरा पक्ष है। "प्रतिषेध में भी समान दोष है" यह तीसरा पक्ष है। "प्रतिषेध के प्रतिषेध में भी वही दोष है" यह चौथा पक्ष है ॥ अब पांचवां पक्ष कहते हैं:-

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ ४२ ॥ (५११)

प्रतिषेध को दोषसहित मान कर खण्डन के खण्डन में समान दोष के प्रसङ्ग को "मतानुज्ञा" दोष आता है ॥

प्रतिषेध (दूसरे पक्ष) को सदोष मान कर और उस का उद्धार न करके खण्डन के खण्डन में (तीसरे पक्ष में) दोष देने में मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थान प्राप्त होता है, यह पांचवां पक्ष है ॥ अब छठा पक्ष कहते हैंः–

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोष इति ॥४३॥ (५१२)

अपने पक्ष में दोष की उपपत्ति को देखता हुवा हेतु के निर्देश में (परपक्ष का) उपसंहार करने पर परपक्ष दोष के स्वीकार से समान दोष होता है॥

स्थापनारूप पहिला पक्ष अपना पक्ष है, उस में जब प्रतिषेधवादी ने द्वितीयपक्षरूप दोष दिया, उस का उद्धार न करके तृतीयपक्ष का आश्रय लेना अर्थात् प्रतिषेध में दूषण देना, यह भी अपना उद्धार न करके पराये दोष को ढूंढने से मतानुज्ञा ही रही ॥

इन दोनों सूत्रों से सूत्रकार का आशय यह है कि वादी, प्रतिवादी दोनों को जहां तक हो सके अपने पक्ष का ही समाधान करना चाहिये, ऐसा न करके जो केवल परपक्ष के खण्डन में ही प्रवृत्त होते हैं वे उन दोषों को जो उन के पक्ष में लगाये गये हैं, स्वीकार कर लेने से मतानुज्ञा नाम निग्रह स्थान में जा पड़ते हैं। जैसे किसी को किसी ने चोरी का अपराध लगाया, वह उस का निवारण न करके उस को भी चोर सिद्ध करने लगे तो इस से उस के दोष का परिहार क्या हुवा ? किन्तु रूपान्तर से उस ने अपने दोष का स्वीकार कर लिया ॥

इति पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयमाह्निकम्

विप्रतिपत्ति (विरुद्ध समझना) और अप्रतिपत्ति (न समझना) इन दोनों के विकल्प से अनेक पराजयसूचक निग्रहस्थान उत्पन्न होते हैं, यह प्रथमाऽध्याय में कह चुके हैं। अब इस अन्तिम आह्निक में उन का विभाग, लक्षण और निरूपण किया जाता है। पहिले सूत्र में विभाग करते हैंः–

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थ-

क्रमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्य्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥ (५१३)

१-प्रतिज्ञाहानि। २-प्रतिज्ञान्तर। ३-प्रतिज्ञाविरोध। ४-प्रतिज्ञासंन्यास। ५-हेत्वन्तर। ६-अर्थान्तर। ७-निरर्थक। ८-अविज्ञातार्थ। ९-अपार्थक। १०-अप्राप्तकाल। ११-न्यून। १२-अधिक। १३-पुनरुक्त। १४-अननुभाषण। १५-अज्ञान। १६-अप्रतिभा। १७-विक्षेप। १८-मतानुज्ञा। १९-पर्य्यनुयोज्योपेक्षण। २०-निरनुयोज्यानुयोग। २१-अपसिद्धान्त, ये २१ और ५ हेत्वाभास ये सब २६ निग्रहस्थान कहलाते हैं॥ अब प्रतिज्ञाहानि का लक्षण कहते हैं:-

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः॥२॥ (५१४)

स्वपक्ष में परपक्ष के धर्म का स्वीकार करना प्रतिज्ञाहानि कहलाती है॥

अपना पक्ष जो स्थापन किया था, उस को छोड़कर परपक्ष को स्वीकार करलेना प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान कहलाता है-

जैसे किसी ने प्रतिज्ञा की कि "इन्द्रिय का विषय होने से घट के समान शब्द अनित्य है" इस पर प्रतिपक्षी कहता है कि "सामान्य (जाति) भी इन्द्रिय का विषय है और वह नित्य है, ऐसे ही शब्द भी नित्य रहेगा।" इस पर वादी कहने लगे कि "जो जाति नित्य है तो घट भी नित्य हो" यहां प्रतिपक्षी के पक्ष का स्वीकार और अपने पक्ष का त्याग करने से प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रहस्थान होता है॥ अब प्रतिज्ञान्तर का लक्षण कहते हैं:-

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्द्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥ (५१५)

प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध होने पर धर्म के विकल्प से उस के अर्थ के निर्द्देश को प्रतिज्ञान्तर कहते हैं॥

"शब्द अनित्य है, घट के समान, इन्द्रिय का विषय होने से" यह प्रतिज्ञात अर्थ है, इस का जब प्रतिवादी ने निषेध किया कि जाति भी इन्द्रिय का विषय है पर वह नित्य है" इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का निषेध होने पर

धर्म के विकल्प से उस के अर्थ का निर्देश करना अर्थात् इन्द्रिय विषय जाति सर्वगत है, पर इन्द्रिय विषय घट सर्वगत नहीं, ऐसे ही शब्द भी सर्वगत न होने से घट की भांति अनित्य है। यहां पर "शब्द अनित्य है" यह पहिली प्रतिज्ञा थी, अब "शब्द सर्वगत नहीं" यह दूसरी प्रतिज्ञा होगई, बस इसी को प्रतिज्ञान्तर कहते हैं। प्रतिज्ञा के साधक हेतु और दृष्टान्त होते हैं, न कि दूसरी प्रतिज्ञा, अतः अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को हेतु और दृष्टान्त से सिद्ध न करके दूसरी प्रतिज्ञा करने वाला प्रतिज्ञान्तर रूप निग्रहस्थान में जापड़ता है॥

अब प्रतिज्ञाविरोध का लक्षण कहते हैं:-

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥ (५१६)

प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध को प्रतिज्ञाविरोध कहते हैं॥

"द्रव्य गुण से भिन्न है" यह प्रतिज्ञा है "रूपादिकों से अर्थान्तर की अनुपलब्धि होने से" यह हेतु है। यहां यह दोनों परस्परविरोधी हैं, क्योंकि जो द्रव्य गुण से भिन्न है तो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि होना ठीक नहीं और जो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि हो तो गुण से भिन्न द्रव्य है यह कहना नहीं बन सकता। यहां प्रतिज्ञा और हेतु इन दोनों में विरोध होने से प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान होता है॥

अब प्रतिज्ञासंन्यास का लक्षण कहते हैं:—

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥५॥ (५१७)

पक्ष के खण्डित होने पर प्रतिज्ञात अर्थ का छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास कहलाता है॥

"शब्द अनित्य है इन्द्रियविषय होने से" ऐसी प्रतिज्ञा करने पर दूसरा कहे कि "जाति भी इन्द्रिय का विषय है, पर अनित्य नहीं, इसी प्रकार शब्द भी इन्द्रिय का विषय होने से अनित्य नहीं हो सकता"। इस प्रकार अपने पक्ष के खण्डित होने पर वादी कहने लगे कि "शब्द को अनित्य कौन कहता है?" यह अपने प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ देना प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान कहलाता है॥ अब हेत्वन्तर का लक्षण कहते हैं:—

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्

॥ ६ ॥ (५१८)

जिस में अविशेष रूप से कहे हेतु के निषेध करने पर विशेष की इच्छा की जाय उस को हेत्वन्तर कहते हैं ॥

"शब्द अनित्य है, बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से" इस सामान्य हेतु का पूर्वोक्त रीति से खण्डन करने पर विशेष हेतु को चाहना अर्थात् उस हेतु में और कोई विशेषण लगाना हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥

अब अर्थान्तर का लक्षण कहते हैं:-

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥ (५१९)

प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ को अर्थान्तर कहते हैं ॥

" शब्द अनित्य है, उत्पन्न होने से " यह कह कर कोई कहने लगे कि "शब्द गुण है और वह आकाश का है" यह प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाला अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अब निरर्थक का लक्षण कहते हैं:-

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥ (५२०)

वर्णों के क्रमनिर्देश के समान जो है वह निरर्थक है ॥

" कचटतप शब्द नित्य है, जबगडदशत्व से झभघढधष के समान " यहां अभिधान और अभिधेय भाव के न होने से केवल निरर्थक वर्णों का निर्देश किया गया है, इस लिये यह निरर्थक नामक निग्रहस्थान है ॥

अब अविज्ञातार्थ का लक्षण कहते हैं:-

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥ (५२१)

सभा और प्रतिवादी से तीन वार कहा गया भी जो नहीं जाना जाय वह अविज्ञातार्थ है ॥

जो अर्थ वाद के समय सभा और प्रतिवादी से तीन वार समझाया हुवा भी वादी की समझ में न आवे अर्थात शीघ्र या अस्पष्ट उच्चारण किया जावे उस को अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान कहते हैं ॥ अब अपार्थक का लक्षण कहते हैं:-

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥१०॥ (५२२)

पूर्वापर की सङ्गति न होने से जो असम्बद्ध अर्थ वाला है उस को अपार्थक कहते हैं ॥

जिस कथन में अनेक पद और वाक्यों का पूर्वापर अन्वय नहीं है, वह अर्थ के अपाय से अपार्थक कहलाता है । जैसे-दश दाड़िम, छः अपूप,

कुण्ड, अजा, अजिन, मांसपिण्ड इत्यादि असम्बद्ध प्रलाप है ॥

अब अप्राप्तकाल का लक्षण कहते हैं:-

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥११॥ (५२३)

अवयव के विपरीत वचन को अप्राप्तकाल कहते हैं ॥

प्रतिज्ञा आदि जो वाक्य के पांच अवयव कहे जा चुके हैं, वे क्रमपूर्वक ही प्रयोग किये गये पक्ष के साधक होते हैं। उन के क्रम का अनादर करके लौट पौट कर उन का प्रयोग करना अर्थात् पहिले प्रतिज्ञा के स्थान में निगमन करना और फिर उपनय, दृष्टान्त, हेतु और प्रतिज्ञा को कहना या इन को लौट फेर कर कहना अप्राप्तकाल नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥

अब न्यून का लक्षण कहते हैं:-

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥ (५२४)

किसी एक अवयव से हीन को न्यून कहते हैं ॥

प्रतिज्ञा आदि पक्ष के साधक पांच अवयव हैं, उन में से किसी अवयव को छोड़ कर स्वपक्षसाधन करने लगना हीन नामक निग्रहस्थान कहलाता है

अब अधिक का लक्षण कहते हैं:-

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥१३॥ (५२५)

जिस में हेतु और उदाहरण अधिक हों वह अधिक कहलाता है ॥

जब एक ही हेतु और उदाहरण से कार्यसिद्ध होसक्ता हो तब अनावश्यक अनेक हेतु और उदाहरणों का प्रयोग करना अधिक नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अब पुनरुक्त का लक्षण कहते हैं:-

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥१४॥ (५२६)

अनुवाद को छोड़ कर शब्द और अर्थ के पुनर्वचन को पुनरुक्त कहते हैं ॥

अनुवाद से अन्यत्र एक शब्द वा अर्थ को बार बार कहना पुनरुक्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है ॥ अनुवाद में पुनरुक्त नहीं कहलाता यथाः-

अनुवादेत्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः ॥१५॥ (५२७)

शब्द के अभ्यास से अर्थविशेष की उपपत्ति होने से अनुवाद में तो पुनरुक्त नहीं कहाता ॥

अनुवाद में तो अर्थविशेष की प्रतिपत्ति के लिये शब्दों का पुनर्वचन करना ही पड़ता है क्योंकि बिना ऐसा किये अनुवाद की सार्थकता हो ही

नहीं सकती। जैसे-हेतु के अपदेश से प्रतिज्ञा का पुनर्वचन निगमन कहलाता है, अतः अनुवाद में शब्दों की पुनरुक्ति पुनरुक्त दोष नहीं कहलाती ॥

पुनः पुनरुक्त का ही विशेष लक्षण कहते हैं:-

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १६ ॥ (५२८)

अर्थापत्ति से सिद्ध का स्ववाचक शब्द से पुनर्वचन पुनरुक्त कहाता है ॥

" उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है " ऐसा कहने से अर्थापत्ति से यह सिद्ध हो गया कि " अनुत्पत्तिधर्मक नित्य है " तब पूर्व वाक्य को कह कर उत्तर वाक्य को कहना भी पुनरुक्त है क्योंकि अर्थबोध के लिये शब्द का प्रयोग किया जाता है, जब अर्थापत्ति से वह अर्थ सिद्ध हो गया, तब उस के प्रयोग की क्या आवश्यकता है ? अब अननुभाषण का लक्षण कहते हैं:-

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम्
॥ १७ ॥ (५२९)

प्रतिवादी से तीन वार जनाये हुये का भी उच्चारण न करना अननुभाषण कहलाता है ॥

प्रतिवादी के तीन वार जतलाने पर भी जो विज्ञात अर्थ का प्रत्युच्चारण नहीं करता, वह अननुभाषण नामक निग्रहस्थान में पड़ता है, जब उच्चारण ही न करेगा तो किस के आश्रय से दूसरे के पक्ष का खण्डन करेगा ॥

अब अज्ञान का लक्षण कहते हैं:-

अविज्ञातञ्चाज्ञानम् ॥ १८ ॥ (५३०)

(प्रतिवादी से तीन वार कहे गये अर्थ को) भी न समझना अज्ञानरूप निग्रहस्थान कहलाता है ॥

प्रतिवादी के तीन वार जतलाने पर भी जो किसी बात को नहीं समझता, वह अज्ञानरूप निग्रहस्थान में पड़ता है, विना जाने कोई किसी का क्या खण्डन कर सकता है ॥ अब अप्रतिभा का लक्षण कहते हैं:-

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १९ ॥ (५३१)

उत्तर की प्रतिपत्ति न होना अप्रतिभा कहलाती है ॥

परपक्ष के निषेध को उत्तर कहते हैं, उस की प्रतिपत्ति न होना अर्थात् समय पर परपक्ष खण्डन के लिये उत्तर का न फुरना अप्रतिभा नामक निग्रह स्थान कहलाता है ॥ अब विक्षेप का लक्षण कहते हैं:-

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ २० ॥ (५३२)

कार्य के व्यासङ्ग (फैलावट) से कथा का विच्छेद विक्षेप कहलाता है॥

जहां कार्य को फैला कर कथा का विच्छेद किया जाता है अर्थात् प्रसङ्ग तोड़ दिया जाता है, उसे विक्षेप नामक निग्रहस्थान कहते हैं। जैसे- यह कार्य मुझे अवश्य करना है, इसे पूरा करके फिर प्रकृत विषय पर कहूंगा, तात्पर्य यह कि प्रस्तुत विषय के पूर्ण हुवे विना दूसरे विषय को छेड़ना विक्षेप कहलाता है ॥ अब मतानुज्ञा का लक्षण कहते हैं:-

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा॥२१॥(५३३)

अपने पक्ष में दोष स्वीकार करने से परपक्ष में दोष का प्रसङ्ग मतानुज्ञा कहलाती है ॥

जो दूसरे के दिये हुवे दोष को अपने पक्ष में मान कर अर्थात् उसका उद्धार किये विना परपक्ष में दोष लगाता है, वह मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान में पड़ता है, दूसरे पर दोष लगाने से अपने दोष का निवारण नहीं हो सक्ता॥

अब पर्यनुयोज्योपेक्षण का लक्षण कहते हैं:-

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्य्यनुयोज्योपेक्षणम्॥२२॥ (५३४)

निग्रहस्थानमें प्राप्त हुवे का निग्रह न करना पर्यनुयोज्योपेक्षण कहलाताहै॥

जो उक्त निग्रहस्थानों में से किसी निग्रहस्थान में पड़ गया है उस को यह कह कर निगृहीत न करना कि तू अमुक निग्रहस्थान में आगया है, पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान कहलाता है क्योंकि निगृहीत स्वयं अपना पराजय स्वीकार नहीं करता। यद्यपि जय पराजय की व्यवस्था देना सभा या मध्यस्थ का काम है, तथापि यह जतला देना कि अमुक पुरुष अमुक निग्रहस्थान में पड़ा है, वादी प्रतिवादी का ही काम है ॥

अब निरनुयोज्यानुयोग का लक्षण कहते हैं:-

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥ ॥ २३ ॥ (५३५)

जो निग्रहस्थान नहीं है, उस में निग्रहस्थान के अभियोगको निरनुयोज्यानुयोग कहते हैं ॥

निग्रहस्थान लक्षण के मिथ्याज्ञान होने से जहां निग्रहस्थान नहीं है वहां भी प्रतिपक्षी को निगृहीत करना निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान कहलाता है॥

अब अपसिद्धान्त का लक्षण कहते हैं:-

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥२४॥ (५३६)

सिद्धान्त को मान कर अनियम से कथा का प्रसङ्ग करना अपसिद्धान्त कहलाता है॥

किसी शास्त्र के सिद्धान्त को मान कर उस के नियमविरुद्ध कथा का प्रसङ्ग चलाना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है। जैसे "सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता" इस सिद्धान्त को मान कर कोई पुनः यह कहने लगे कि जो पहिले नहीं था वह उत्पन्न हुवा और जो अब है वह विनष्ट होगा इत्यादि अपने सिद्धान्त के विरुद्ध प्रसङ्ग छेड़ना अपसिद्धान्त कहलाता है॥ अब हेत्वाभासों का निर्देश करते हैं:-

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २५ ॥ (५३७)

यथोक्त हेत्वाभास भी निग्रहस्थान हैं॥

प्रथमाध्याय के दूसरे आह्निक में सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत ये पांच हेत्वाभास वर्णित हो चुके हैं, इस अन्तिम सूत्र से आचार्य ने इन का भी निग्रहस्थानों में समावेश किया है। इन के लक्षण वहीं पर दिखलाये जा चुके हैं, इस लिये यहां नहीं लिखे गये॥

इति पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

जगन्मोहनिराश -)
स्वर्ग में महासभा ।)
आर्यसमाज क्या है ।=)
महर्षिजीवनचरित्र–आल्हाध्वनि -)॥
मोहनीमन्त्र)॥
समीक्षाकर ≡)
शास्त्रार्थ कलकत्ता =)
शास्त्रार्थ हैदराबाद ।)
पतिव्रतधर्मप्रकाश ।।)
अबलासन्ताप ≡)
पतिव्रताधर्ममाला)॥
शिशुशिक्षा २ भाग -)॥
३ भाग =) ४ भाग ।)
सीताचरित्र १ भाग ।-) २ भाग ।-)
३ भाग ।-) ४ भाग ।-) चारों भाग १।)
नारायणीशिक्षा गृहस्थाश्रम उर्दू १।)
दमयन्तीस्वयंवरनाटक ≡)
वर्णव्यवस्था =)
शिक्षाध्याय)॥।
वल्लभकुलचरित्रदर्पण।) वल्लभकुलइति-
हास नाटक ।) हिन्दब्रिटानियां -)
स्वर्गप्राप्ति ≡)
पत्रप्रबन्धमञ्जरी ।-)
कण्ठीजनेऊ का विवाह -)
नीतिशतक ≡)
गणरत्नमहोदधि १)
इतिहासपुराण स्मृति नहीं)॥
स्त्रीअधिकार मीमांसा -)जीवात्मा)॥
पौराणिकदर्पण)॥

पुरुषसूक्त)।।
स्वामीजी का जीवनचरित्र प्रथम भाग
बढ़िया काग़ज़ ।-) घटिया ।)
हकीकतराय का जीवनचरित्र)॥
आर्योजागृतहो)।।।
गृह्यचिकित्सा ।) वैदिकधर्मप्रचार ॥।)
एकादशीमहातम)॥
हेविस की राय)। के २
ऐतिहासिकनिरीक्षण प्र० =) द्वि०भाग≡)
यथार्थसुखाभिवर्णन -)॥
यथार्थशान्तिनिरूपण ।)
वीरता पर व्याख्यान -)॥
क़वायदपटवारियान ।)
मार्शमैंसहिस्टरी संक्षिप्तअंग्रेज़ी ।=)

भजनपुस्तकें–

नगरकीर्तन ≡) वनिताविनोद =)
आर्यसंगीतपुष्पावली ।=)
भजन पुस्तक)॥
भजनेन्दु-नयेखड़तालीभजनोंसहित-)
रामायण का आल्हा द्वि० भाग)॥
भजनविलास -)
श्वेताश्वतरोपनिषद्भाष्य ।-) बढ़िया ।≡)
ईशोपनिषद्भाष्य -) केनोपनिषद्भाष्य -)॥
कठोपनिषद्भाष्य ।) प्रश्नोपनिषद्भा०।)
मुण्डकोपनिषद्भाष्य ≡) संस्कृतप्रबोध ≡)

सामवेदभाष्य का पूर्वार्द्ध ५।)

☞ मनुस्मृतिभाषानुवाद

बढ़िया काग़ज़ १।) तीसरी बार छपा है

दयानन्दतिमिरभास्कर का उत्तर

"भास्करप्रकाश" १) मात्र बढ़िया १॥)

हितोपदेश भाषानुवाद तथा श्लोक १)

मूर्त्तिप्रकाशसमीक्षा।=) दिवाकरप्रकाश।)

श्लोकयुक्त वैदिक निघण्टु ≡)

वेदप्रकाश मासिकपत्र के प्रथम भाग

१ वर्ष का ॥=) द्वितीय ॥=) तृतीय ॥=)

७ भाग ॥=) ८ भाग ॥=)

संस्कृत स्वयंसिखाने वाली संस्कृतभाषा

प्रथम पुस्तक)॥ द्वितीय पुस्तक -)

तृतीय पुस्तक =)॥ चतुर्थ।=) चारों

की कच्ची जिल्द।≡)पक्की जिल्द ।॥)

संस्कृतप्रवेश)॥

ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दुपरागे

द्वितीयोंऽशः -)॥ शङ्काकोष ।)

अज्ञाननिवारण चतुर्थ भाग मूल्य =)

आल्हा मनु ॥=) चाणक्यनीतिसार -)।

धर्मरत्नाकर ≡)

पोस्टकार्ड बड़े ≡) व ।) व ।-) सौ

यजुर्वेदभाष्य १६) सत्यार्थप्रकाश १॥)

भूमिका १।) संस्कारविधि ॥)

उणादिकोश ॥) निरुक्त ॥=)

आर्याभिविनय ≡) पञ्चमहायज्ञविधि -)॥

चारोंवेदमूल ५) चारोंवेदों की सूची १॥)

शतपथमूल ४) दशोपनिषद् मूल ॥=)

शंकराचार्य का जीवनचरित्र ॥)

बंगाली सत्यार्थप्रकाश १॥)

पञ्चकन्याचरित्र)॥ द्रौपदी चरित्र -)॥

विवाह के मन्त्र)।

भागवतविचार -)

नालिकाविष्कार--जिस में प्राचीन

बन्दूक आदि के प्रमाण हैं)॥।

विवाहमर्यादर्पण -)

बालविवाहनाटक)॥ अन्त्येष्टिकर्म)॥

आर्यसमाज के नियम नागरी ≡)। १००

सैकड़ा, अंग्रेज़ी में ।) १०० सैकड़ा

व्याख्यानका विज्ञापन--जो चार जगह

ख़ानापुरी करके सब उपदेशकों के काम

में आता है =) १०० सैकड़ा अंग्रेजी भी

पौराणिकधर्म और थियासोफी)॥।

नागरीरीडर नं० १ मूल्य)। नं० २ मूल्य -)

सन्ध्योपासन)। १०० का १।) ५०० का ५)

टके सेर लक्ष्मी)॥

भागवतपरीक्षा)॥

१४ विद्या ६४ कला)।

३ व्याहृतिव्याख्या)॥ अष्टाध्यायी ≡)

आर्यमतमार्त्तण्ड।) धातुपाठ ।)

सन्ध्योपासनमीमांसा -)

ईसाईमतपरीक्षा)॥

ईश्वरसिद्धि =)॥

अपने पुस्तकों पर ३) में ।।) और १०) में २) कमीशन छोड़े जायंगे । सर्वसाधारण को सामवेद मनुभाषानुवादादि पारमार्थिक और लौकिक सुधार के पुस्तक लेने का अच्छा अवसर है पता--तुलसीराम स्वामी--मेरठ

ओ३म्

श्रीमतिधर्मदेवीकाउपदेश

स्त्रीशिक्षा का एक उत्तम उपदेश

संग्रह कर प्रसिद्धकर्त्ता

स्त्री शिक्षा का एक प्रेमी

सन् १९०१ ई० । सम्वत् १९५७ वि०

पञ्जाब एकानोमीकल प्रेस लाहौर में प्रिंटर लाला लालमन
के अधिकार से छपा।

प्रथम वार १०००] [मूल्य /)

पुस्तक मिलने का पता:-पण्डित तुलसीराम स्वामी प्रेस मेरठ। लाइब्रेरी आर्यसमाज अजमेर। लाहौर। प्रबन्धकर्त्ता वैदिक पुस्तक प्रचारक फण्ड लाहौर। स्त्री सहायक सभा लाहौर। मैनेजर भारतभगिनी लाहौर। सरस्वतीप्रेसइटावा।

स्त्री शिक्षा,धर्म और नीति सम्बन्धी पुस्तकें ।

(१) स्त्री शिक्षाकी पुस्तकें—स्त्री धर्मनीति १) मधुमालती ॥।) स्वर्णलता ॥।) चितौड़कीचातक की ॥।) दीप निर्वाण ॥।)हंसा ॥≠) प्रमीला ॥≠) विरेन्द्रवीर और कटोराभर खून ।≠) बुद्धिमती ॥) जया ॥)आनन्दकुमारीनाटक ॥) पञ्चकौमुदी ॥) पद्मावती नाटक ।≠) नारी भूषण ।≠) दलित कुसुम ।≠)पतिव्रता महात्म्य ≠)। वीरनारी ।/) स्त्री कथा /) चन्द्रकला ।) भामिनी भूषण ।) महारानी चरित्र ।) घरकादरजी ।) व्यञ्जन दीपिका ≠) स्त्री भजन ≠)। नारी प्रार्थना ≠) सुबोध कन्या /)॥ रुक्मदेवी /)॥ बाला विनय /)॥सुशीलादेवी)।कामिनी कल्पद्रुम ॥) ।)पतिव्रता धर्ममाला)॥

अन्य पुस्तकें —व्यापार भाण्डागार ३) भास्कर प्रकाश अर्थात् दयानन्द तिमिर भास्कर का उत्तर २) चिकित्सासिंधु २) मनुस्मृति भाषा टीका १॥) पांचसौ व्यापार १) चित्रविद्या अर्थात् फोटोग्राफि १) वैशेषिकदर्शन भाषाटीका १) सांख्यदर्शन भाषा टीका ॥।) वैदिकधर्मप्रचार ॥।) विदुरनीति भाषा टीका ।≠) गृह्यचिकित्सा ।≠) लंडन यात्रा ।≠) हरमोनियम गाईड १भाग ।≠) दूसरा भाग ।≠) बहारे नयरङ्ग दोनों भाग ।≠) आर्यसमाज परिचय ।) धर्माधर्म विचार ।) जीवन यात्रा ≠) शंकानिवारण ≠) समी आकर ≠) भक्त मनरञ्जन भजन /) होम यज्ञ ≠)॥ धर्म बलीदान पथिक वियोग ≠) गीता भाषा टीका १॥) ईश, केन,कठ, प्रश्न मुण्डक माण्डूक्य, प्रश्न, एतरिय, तैतरीय, श्वेताश्वतर ३॥) भर्तृहरि नीतिशतक ≠) वैराग्यशतक ।) स्वर्ग में सबजेक्ट कमेटी /)॥ दश उपनिषद मूल ।) हुक्का दोष दर्पण ।≠) ॥वीर्यरक्षा ≠)भूतनिर्णय/)॥ पुराण लीला /)॥ हितशिक्षा /)॥ एक विधवा की प्रार्थना /)॥ श्राद्धविवेक /)॥सञ्जीवन बूटी बड़ी /)॥ मनु मांसनिषेध /) फलित ज्योतिष परीक्षा /) संस्कृत प्रथम श्रेणी /) महात्माशुक्रात की मृत्यु /) बाईबल की पोल /) रत्नसंहार /) संगीत सुधाकर /) वैदिक देव पूजा /) ईश्वर और उस की प्राप्ति /) ईश्वर प्राप्ति के उपाय /) शास्त्रार्थ किराना /) शास्त्रार्थ निमच /) ऐतिहासिक निरीक्षण २ भाग ≠) प्रथम भाग ≠) संस्कृत प्रथम पुस्तक)॥ द्वितीय /) तृतीय ≠)॥ चतुर्थ ≠) सन्ध्याविधि)॥ शिक्षावली)॥ अमृत)॥

पति की स्त्री—यह पुस्तक प्रसिद्ध भारत मित्र पत्र कलकत्ते पर से उद्धृत किया है इस में सुखदेई नाम की ब्राह्मणी कन्या का पतिव्रत धर्म,गृह कार्य चलाने की विधि पति भक्ति बड़ी उत्तम प्रकार से दर्शाई गई है। यथा नाम तथा गुण है। ऐसा स्त्री शिक्षा का उपन्यास आज तक नहीं छापा सर्व गृहस्थीयों को अपनी पत्नि भगिनी आदि को एक बार इस पवित्र कथा को अवश्य श्रवण करवाना चाहिये ॥

स्वामी ब्रह्मानन्द प्रबन्धकर्त्ता वैदिक पुस्तक प्रचारक फण्ड,शाहआलमी गेट, लाहौर ॥

॥ ओ३म् ॥

श्रीमती धर्मदेवी का उपदेश ॥

धर्मदेवी यह एक कुलीन सारस्वत ब्राह्मण की कन्या थी। पिता ने उस को बाल्यावस्था में देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करवाने के पश्चात् स्त्रीधर्म की पुस्तकें भी पढ़ाई थीं, और मनुस्मृति, बालमीकि रामायण, उपनिषद् आदि के उत्तम २ प्रसंग उसे सुनाया करते थे ऐसी उत्तम शिक्षा दी कि वह यथा नाम तथा गुणरूपा हुई। धर्मदेवी के पिता ने एक उत्तम कुलीन पण्डित के साथ उस का विवाह कर दिया था। विवाह के पश्चात् धर्मदेवी अपने पति के गृह में गई और जो कुछ शिक्षा पिता से पाई थी उसका उपयोग कर सुख भोगने लगी। किसी दिवस भी पति और पत्नि में विरोध न था। और सुख आनन्द से वे दामपत्य संसार यात्रा का सुख उठा रहे थे। नित्य प्रति धर्मदेवी अपने गृहस्थ के कार्यों से निवृत्त हो कर उत्तम २ नीतिधर्म की पुस्तकों का अवलोकन करती थी, और जब कभी उसे पड़ोसियों के गृह में जाने आने का समय मिलता, तो वह वहां जाके भी स्त्रियों को धर्म उपदेश किया करती थी॥

संसार में धर्म के कार्य करते हुए धर्मदेवी को ईश्वर की कृपा से एक कन्या उत्पन्न हुई। जिस को देख के धर्मदेवी बड़ी प्रसन्न हुई और पुत्रवत् उसका लालन पालन करने लगी। कन्या के पिता जिस समय विद्यार्थियों को पढ़ा के अपने गृह पर आते और अपने नित्यकर्मों को यथा विधि पूर्णकरने के पश्चात् कन्या से प्यार करते थे। कन्या बड़ी ही स्वरूपा थी, परन्तु यह सुख कब तक स्थिर रह सकता है। थोड़े काल के पश्चात् वह कन्या रोग पीड़ित हो कर स्वर्गवास हुई। इस का दुःख पति और पत्नी को आधुनिक रीति के अनुसार जितना होना चाहिये था उतना नहीं हुआ क्योंकि वे दोनों यह समझते थे कि इस असार रूपी संसार को एक दिन सबों ने छोड़ना है, जितना कुछ उसका सम्बन्ध था उतना वह भोग गई। इस अचानचक घटना से धर्म्मदेवी को बड़ा वैराग उत्पन्न हुआ, अपने गृह कार्यों से निवृत्त हो कर वह अब धर्म्म के पुस्तक उपनिषद् आदि को अधिक देखने लगी तथा संस्कृत भी पढ़ने का आरम्भ कर दिया जिससे उसकी वृत्ति धर्म पर अधिक आकर्षित हुई॥

इस रीति से धर्मदेवी अपने समय को धर्म के पुस्तकों का अवलोकन करने में लगाया करती थी। संसार की विचित्र लीला है, एक ओर धूप है, दूसरी ओर छाया है इस रीति से परिवर्त्तन हुआ ही करता है इसलिये महात्माओं ने संसार को असार कहा है। अब धर्मदेवी की आयु लगभग २५ वर्ष की होगी कि उस का पति एका एक विशूचिका के रोग से पीड़ित हुआ। इस रोग में जीवात्मा को शरीर से पृथक् होते

विलम्ब ही क्या लगता है ? अनेक वैद्य हकीम और डाक्टरों का उपाय करने पर भी कुछ आराम न हुआ और रोग से पीड़ित होनेके दूसरे दिवस ही पण्डित जी ने संसार को छोड़ा और स्वर्गवास किया। धर्मदेवी को यह अति महान् घाव लगा। चारों ओर संसार अन्धकारमय दृष्टिगोचर होने लगा, अब इस संसार में उस का कोई साथी न रहा। पति बिना स्त्रियों का संसार शून्य है, पति ही उसका जीवन है। धर्मदेवी के सुसराल में कोई सम्बन्धी न था इस लिये जो कुछ उस के पति ने अपने जीवन में द्रव्य एकत्रित किया था, उसे ले कर अपने पिता के गृह में रहने लगी। वह अपने पिता की एक ही पुत्री थी। पुत्री का वैधव का दुःख पिता को असह्य था। ईश्वर इच्छा करके दोनों काल व्यतीत करने लगे॥

धर्मदेवी ने देखा कि स्त्रियों की दशा बड़ी ही दुःखदाई हो रही है, अविद्या में इस रीति से ग्रसित है कि गृहस्थाश्रम जो स्वर्ग प्राप्ति का एक मार्ग है, जिस को सबों ने पार करना है, वह मार्ग आज नर्कधाम हो गया है, इस को सुधारने के लिये स्त्रियों को धर्म शिक्षा ही एक मार्ग है, जिस से वह सुखी हो सकती हैं, ऐसा विचार कर धर्मदेवी ने प्रण किया कि जब तक मैं इस संसार में रहूंगी तब तक जो कुछ मैंने अपने पिता जी से, धर्म पुस्तकों से ज्ञान प्राप्त किया है, उस का उपदेश करते २ जीवन व्यतीत करूंगी॥

ऐसे तो धर्मदेवी जब २ उसे अवसर प्राप्त होता था तब तब पड़ोसियों को तथा जहां २ उसका जाना आना होता था वहां उपदेश करती थी। परन्तु अब उसने नियमानुसार कार्य करने का प्रारम्भ किया। वह सदा प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठ कर शौच स्नानादि के पश्चात् ईश्वर की प्रार्थना, उपासना तथा स्वाध्याय आदि नित्य के धर्म कार्यों से लगभग ६ बजे निवृत्त होती थी, उसके पश्चात् उसने अपने गृह में एक पुत्री-पाठशाला खोलीथी जिस में महल्ले तथा नगर निवासियों की कन्यायें तथा महल्ले की विवाहित स्त्रियां भी आके उसके पास शिक्षा पाती थीं। इस पाठशाला का समय प्रातः ७ से १० बजे तक का था, उसके पश्चात् धर्मदेवी अपने पिता जी के और अपने लिये भोजन बना खा के लगभग दो बजे निवृत्त होती थी। उस ने सोचा कि दो बजे से पांच बजे तक स्त्रियां गृहस्थ के कार्यों से निवृत्त हो कर महल्ले में किसी वृद्धा के गृह द्वार पर एकत्रित हो के मन मानी निन्दा और परस्पर कलह करती हैं, यदि इस समय में उन को कथा की रीति से उपदेश दिया जावे तो बड़ा लाभ हो सकता है। ऐसा विचार कर एक दिवस महल्ले की सर्व स्त्रियों को धर्मदेवी ने कहा कि बहिनों मेरा विचार है, कि कलसे में नित्य यहां पर कथा करूंगी उस समय तुम सबोंने

अवश्य आना। सब स्त्रियों ने स्वीकार किया क्योंकि सारी महल्ले की स्त्रियां धर्मदेवी की विद्या बुद्धि तथा सदाचारों की प्रशंसा एक ध्वनि से करती थीं। अब धर्मदेवी को इतना बोध होगया था कि वह संस्कृत के श्लोकों का अर्थ अच्छी रीति से कर सकी थी।

सुशीलादेवी उसी महल्ले में दयालदास नामी गृहस्थ की स्त्री थी। दयालदास एक धर्मात्मा कर्मकाण्डी धनाढ्य पुरुष था ईश्वर की कृपा से उसे स्त्री भी उत्तम स्वभाव वाली तथा कुछ पढ़ी लिखी मिली थी। सुशीला की आयु लगभग ३० वर्ष की थी उस को धर्मदेवी से अधिक प्रेम था और बड़ी प्रसन्नता में उस के उपदेशों को सुनती थी और उसके ऊपर आचरण करती थी। सुशीला के गृह के आगे का आंगन बड़ा था इस लिये उसने अपने द्वार पर ही दूसरे दिवस चौकी बिछौना आदि बिछा के कथा का प्रबन्ध किया। सुशीला मुहल्ले की अन्य कई स्त्रियों को साथ ले कर धर्मदेवी को बुलाने गई। धर्मदेवी भी कथा में जाने को तैयार बैठी ही थी, कि सुशीला आदि वहां पर आ पहुंची और अपने साथ २ ही पधारने की धर्मदेवी को प्रार्थना की। धर्मदेवी सुशीला का प्रबन्ध देख कर बड़ी प्रसन्न हुई और उसके साथ नियत स्थान पर गई। जब धर्मदेवी कथा की चौकी पर बैठी उस समय सुशीला ने उसके गले में फूलों की माला डाली। और निम्न लिखित भजन सब स्त्रियें ढोलकी पर गाने लगीं॥

॥ भजन ॥

रागनी सारंग ताल तीन ॥

मैं उन के दरश की प्यासी।
जिन का ऋषि मुनि ध्यान धरत हैं, योगी योगाभ्यासी ॥ १ ॥
जिन को कहत हैं अजर अशोकी, आश्रय जिन के है त्रैलोकी।
न वह जन्मे न यह मरे है, काल पुरुष अविनाशी ॥ २ ॥
अभेद अछेद अनन्त अव्रण है, अक्षर और अनादि।
अचल अमूर्त्त और अनूपम, परिभू सर्वनिवासी ॥ ३ ॥
अतुल्य बल जाका अटल राज्य है, सृष्टि सकल है दासी।
अमीचन्द जिन से होत प्रकाशक, रवि शशि अग्नि प्रकाशी ॥ ४ ॥

भजन के पश्चात् धर्मदेवी ने सर्व श्रोताओं से कहा कि माताओ, भगिनियो, और पुत्रियो ! जो कुछ मैं तुम्हारे सन्मुख कथन करूंगी इस में जो कुछ तुम्हें शंका उत्पन्न होवे वह मुझे उसी समय कहना मैं साथ २ अपनी बुद्धि के अनुसार उस का समाधान करती रहूंगी। मैं आज सब के सन्मुख ईश्वर के नाम और उस की महिमा

का वर्णन करूंगी। क्योंकि संसार में जितनी दृश्य और अदृश्य वस्तु हैं वह सब उसके गुण से जानी जाती हैं, इसलिये प्रथम हम उस महान् सृष्टिकर्त्ता परमेश्वर के नामों की महिमा का विचार करें। इतना कहके ईश्वर की प्रार्थना आरम्भ करी॥

ओ३म् शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि॥
सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु अवतु माम्।
अवतु वक्तारम्। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

यह ओंकार शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इस में अ, उ, और म् तीन अक्षर मिल कर एक ओ३म् समुदाय हुआ है, इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आ जाते हैं जैसा पिता पुत्र का प्रेम सम्बन्ध है वैसे ही ओंकारके साथ परमात्मा का सम्बन्ध है। जैसे अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि। उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तैजसादि। मकार से ईश्वर, आदित्य, प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक है। विराट् जो विविध जगत् का प्रकाश करने वाला। अग्नि जो ज्ञान स्वरूप और सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। विश्वः जिस में सब जगत् प्रवेश कर रहा है और जो सर्वत्र प्रविष्ट है। इत्यादि नामार्थ अकार से जानना चाहिये। उकार से हिरण्यगर्भः जिस के गर्भ में प्रकाश करने वाले सूर्यादि लोक हैं और जो प्रकाश करने हारे सूर्यादि लोकों का उत्पन्न करने वाला है इस से ईश्वर को हिरण्य-गर्भ कहते हैं। ज्योतिः के नाम हिरण्य, अमृत और कीर्ति है। वायुः जो अनन्त बल वाला और सब जगत का धारण करने हारा है। तैजसः जो प्रकाश स्वरूप और सब जगत् का प्रकाशक है इत्यादि अर्थ उकार से जानना चाहिये। मकार से ईश्वरः जो सब जगत् का उत्पादक, सर्वशक्तिमान् स्वामी और न्यायकारी है। आदित्यः जो नाश रहित है। प्राज्ञः जो ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ है इत्यादि अर्थ मकार से समझ लेना। यह संक्षेप से ओंकार का अर्थ किया है। ऐसा ही वेदादि सत्य शास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है, प्रकरणानुकूल ये सब नाम परमेश्वर ही के हैं। परमेश्वर से भिन्न अर्थों के वाचक विराट् आदि नाम, ब्रह्मांड पृथ्वी आदि देवतों और वैद्यक शास्त्र में शुंठ्यादि औषधियों के भी ये नाम हैं परन्तु यह नाम वेदों में परमात्मा के भी हैं।

जहां जिस का प्रकरण है वहां पर उसी का ग्रहण करना योग्य है,जैसे किसी ने किसी से कहा कि " हे भृत्य त्वं सैंधवमानय " अर्थात् हे नौकर तू सैंधव को ले आ। तब उस को समय अर्थात् प्रकरण का विचार करना अवश्य है क्योंकि सैंधव नाम दो पदार्थों का है एक घोड़े और दूसरे लवण का। जो स्वामी का गमन समय हो तो घोड़े और भोजन काल हो तो लवण को ले आना उचित है। और जो गमन के समय में लवण और भोजन के समय में घोडे को लावे तो उसका स्वामी उस पर क्रुद्ध होकर कहेगा कि तू निर्बुद्धि पुरुष है गमन समय में लवण और भोजन काल में घोड़े के लाने का क्या प्रयोजन था? तू प्रकरणवित् नहीं है नहीं तो जिस समय में जिसको लाना चाहिये था उसको लाता जो तुझको प्रकरण का विचार करना आवश्यक था वह तूने नहीं किया इस से तू मूर्ख है मेरे पास से चला जा। इस से क्या सिद्ध हुआ कि जहां जिस का ग्रहण करना उचित हो वहां उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिये ऐसा ही हम और आप सब भगिनियों को मानना और करना भी चाहिये॥

अब मैं आप लोगों को वेदों के ऐसे २ प्रकरणों में"ओ३म्"आदि परमेश्वर के नाम आते हैं उसे सुनाती हूं। इस मेरे कथन का तात्पर्य यही है कि जो ऐसे २ प्रमाणों में ओङ्कारादि नामों से परमात्मा का ग्रहण होता है, यह मैं पूर्व कथन कर चुकी हूं कि परमेश्वर का कोई भी नाम अनर्थक नहीं। जैसे लोकमें दरिद्री आदि के धनपति क्रोड़ीमल, लखीशाह आदि नाम होते हैं। इस से यह सिद्ध हुआ कि कहीं गौणिक कहीं कार्मिक और स्वाभाविक अर्थों के वाचक हैं॥

ओ३म् खम्ब्रह्म॥ १ ॥ यजुः अ० ४० । मन्त्र १७ ॥

ओ३म् आदि नाम सार्थक हैं जैसे "ओ३म् खं"—"अवतीत्योम् आकाशमिव व्यापकत्वात् खम्, सर्वेभ्यो बृहत्वाद् ब्रह्म" रक्षा करने से ओ३म् आकाशवत् व्यापक होने से खं और सब से बड़ा होने से ब्रह्म ईश्वर का नाम है ॥ १ ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत ॥ २ ॥ छांदोग्य उपनिषद् ॥

ओ३म् जिस का नाम है और जो कभी नष्ट नहीं होता उसी की उपासना करनी योग्य है अन्य की नहीं ॥ २ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वंतस्योपव्याख्यानम् ॥ ३ ॥ मांडूक्य ॥

सब वेदादि शास्त्रों में परमेश्वर का प्रधान और निज नाम ओ३म् को कहा है अन्य सब गौणिक नाम हैं ॥ ३ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ ४ ॥ कठोपनिषत् । वल्ली २ । मन्त्र १५ ॥

क्योंकि सब वेद सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिस का कथन और मान्य करते, और जिस की प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उस का नाम ओ३म् है ॥ ४ ॥

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि ।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम् ॥ ५ ॥
एतमेकेवदन्त्यग्निं मनु मन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ ६ ॥

मनु अध्याय १२ । श्लोक १२२-१२३ ॥

जो सब को शिक्षा देने हारा सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वप्रकाशस्वरूप समाधिस्थ बुद्धि से जानने योग्य है, उसको परम पुरुष जानना चाहिये ॥ ५ ॥ और स्वप्रकाश होने से "अग्नि" विज्ञानस्वरूप होने से "मनु" सब का पालन करने और परमैश्वर्यवान् होने से "इन्द्र" सब का जीवनमूल होने से "प्राण" और निरन्तरव्यापक होने से परमेश्वर का नाम "ब्रह्म" है ॥ ६ ॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट् । स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः ॥ ७ ॥ कैवल्य उपनिषत् ॥

सब जगत् के बनाने से "ब्रह्मा" सर्वत्रव्यापक होने से "विष्णु" दुष्टों को दण्ड देके रुलाने से "रुद्र" मङ्गलमय और सब का कल्याणकर्त्ता होने से "शिव" जो सर्वत्रव्याप्त अविनाशी होने से "अक्षर" स्वयंप्रकाश स्वरूप होने से "स्वराट्" और प्रलय में सब का काल और काल का भी काल है । इस लिये परमेश्वर का नाम कालाग्नि है ॥ ७ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ ८ ॥ ऋ० मंडल १ । सूक्त १६४ । मन्त्र ४६ ॥

जो एक अद्वितीय सत्यब्रह्म वस्तु है उसी के इन्द्रादि सब नाम हैं । "दिव्य"

जो प्रकाश्यादि दिव्य पदार्थों में व्याप्त है। "सुपर्ण" जिस के उत्तम पालन और पूर्ण कर्म हैं। "गरुत्मान्" जिस का आत्मा अर्थात् स्वरूप महान् है और जो वायु के समान अनन्त बलवान् है, इसलिये परमात्मा के दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् और मातरिश्वा यह नाम हैं शेष नामों का अर्थ आगे कहूंगी ॥

भूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री। पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं माहिꣳसीः ॥ ९ ॥ यजुर्वेद । अध्याय १३ । मंत्र १८ ॥

"भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः" जिस में सब भूत प्राणि होते हैं इस लिये ईश्वर का नाम "भूमि" है। शेष नामों का अर्थ आगे कहूंगी ॥ ९ ॥

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्य्यमरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे स्वानास इन्द्रः ॥ १० ॥

सामवेद० प्र० ३ अ० ८ सू० १६ अ० २ खं० ३ सू० २ मं० ७ ॥

इस मन्त्र में इन्द्र परमेश्वर ही का नाम है इस लिये इस मन्त्र का उच्चारण किया है ॥ १० ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ११ ॥ अथर्ववेद काण्ड ११। अ० २। सू० २ मंत्र १ ॥

जैसे प्राण के वश सब शरीर इन्द्रियां होती हैं वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् रहता है ॥ ११ ॥ इत्यादि प्रमाणों के ठीक२ अर्थों के जानने से इन नामों करके परमेश्वर ही का ग्रहण होता है, क्योंकि "ओश्म्" और अग्न्यादि नामों के मुख्य अर्थ से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है जैसा कि व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण, सूत्रादि ऋषि मुनियों के व्याख्यानों से परमेश्वर का ग्रहण देखने में आता है वैसा ग्रहण करना सब को योग्य है परन्तु "ओश्म्" यह तो केवल परमात्मा ही का नाम है और अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में प्रकरण और विशेषण नियमकारक हैं, इस से सिद्ध हुआ कि जहां २ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वज्ञ, व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्त्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं २ इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है और जहां २ ऐसे प्रकरण हैं कि :—

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत। तेन देवा अयजन्त। पश्चाद्भूमिमथो पुरः। यजुर्वेद अध्याय ३१ ॥

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधिभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली प्रथमानुवाक का वचन है कि ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहां २ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों वहां २ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं इसी से यहां विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न हो के संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। किन्तु जहां जहां सर्वज्ञादि विशेषण हों वहां २ परमात्मा और जहां २ इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहां२ जीव का ग्रहण होता है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये, क्योंकि परमेश्वर का जन्म मरण कभी नहीं होता इस से विराट् आदि नाम और जन्मादि विशेषणों से जगत् के जड़ और जीवादि पदार्थों का ग्रहण करना उचित है परमेश्वर का नहीं। अब जिस प्रकार विराट् आदि नामों से परमेश्वरकाग्रहण होता है उसे मैं पुनः संस्कृत के धातु और पदार्थों से सिद्ध करती हूं। अथ ओंकारार्थः। (वि) उपसर्ग पूर्वक (राजृ दीप्तौ) इस धातु से "क्विप्" प्रत्यय करने से "विराट्" शब्द सिद्ध होता है॥ "यो विविधं नाम चराऽचरं जगद्राजयति प्रकाशयति स विराट्" विविध अर्थात् जो बहु प्रकार के जगत् को प्रकाशित करे इस से विराट् नाम से परमेश्वर का ग्रहण होता है। (अञ्चु गतिपूजनयोः) अग, अगि, इण् गत्यर्थक धातु हैं इन से "अग्नि" शब्द सिद्ध होता है "गतेस्त्रयोऽर्थाः"। ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चेति पूजनं नाम सत्कारः। "योऽञ्चति अच्यतेऽगत्यङ्गत्येति सोयमग्निः" जो ज्ञानस्वरूप, सर्वज्ञ, जानने, प्राप्त होने और पूजा करने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम "अग्नि" है। (विश प्रवेशने) इस धातु से "विश्व" शब्द सिद्ध होता है "विशन्ति प्रविष्टानि सर्वाण्याकाशादीनि भूतानि यस्मिन् यो वाऽऽकाशादिषु सर्वेषु भूतेषु प्रविष्टः स विश्व ईश्वरः" जिस में आकाशादि सब भूत प्रवेश कर रहे हैं अथवा जो इन में व्याप्त होके प्रविष्ट होरहा है इसलिये उस

[illegible]

[illegible] शतपथे च ब्राह्मणे [illegible]

[illegible] उत्पत्तिनिमित्तमधिकरणं स हिरण्यगर्भः [illegible] जिस में [illegible] उत्पन्न होके जिस के आधार रहते हैं अथवा जो सूर्यादि [illegible] पदार्थों का गर्भ नाम उत्पत्ति और निवासस्थान है इस से उस परमेश्वर का नाम "हिरण्यगर्भ" है। इस में यजुर्वेद के मंत्र का प्रमाण है :—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम। यजु॰ अ॰ १३। मं॰ ४॥

इत्यादि स्थलों में "हिरण्यगर्भ" से परमेश्वर ही का ग्रहण होता है। (वा गतिगन्धनयोः) इस धातु से "वायु" शब्द सिद्ध होता है (गन्धनं हिंसनम्) "यो वाति चराऽचरञ्जगद्धरति बलिनां बलिष्ठः स वायुः" जो चराऽचर जगत् का धारण, जीवन और प्रलय करता और सब बलवानों से बलवान् है इस से उस ईश्वर का नाम "वायु" है (तिज निशाने) इस धातु से "तेजः" और इस से तद्धित करने से "तैजस" शब्द सिद्ध होता है। जो आप स्वयं प्रकाश और सूर्यादि तेजस्वी लोकों का प्रकाश करने वाला है इस से ईश्वर का नाम "तैजस" है। इत्यादि नामार्थ उकार मात्र से ग्रहण होते हैं। (ईश ऐश्वर्ये) इस धातु से "ईश्वर" शब्द सिद्ध होता है "य ईष्टे सर्वैश्वर्यवान् वर्त्तते स ईश्वरः"। जिस का सत्य विचारशील ज्ञान और अनन्त ऐश्वर्य है, इस से उस परमात्मा का नाम "ईश्वर" है। (दो अवखण्डने) इस धातु से "अदिति" और इस से तद्धित करने से "आदित्य" शब्द सिद्ध होता है "न विद्यते विनाशो यस्य सोऽयमदितिः + अदितिरेव आदित्यः" जिस का विनाश कभी न हो उसी ईश्वर की "आदित्य" संज्ञा है। (ज्ञा अवबोधने) "प्र" पूर्वक इस धातु से "प्रज्ञ" और इस से [illegible] करने से "प्राज्ञ" शब्द सिद्ध होता है। "यः प्रकृष्टतया चराऽचरस्य [illegible] जानाति स प्रज्ञः + प्रज्ञ एवप्राज्ञः" जो निर्भ्रान्त ज्ञानयुक्त सब चराचर [illegible] जानता है इस से ईश्वर का नाम "प्राज्ञ" है। [illegible]

[illegible]

में सब से अधिक हो। उन सब श्रेष्ठों में भी जो अत्यन्त श्रेष्ठ उस को परमेश्वर कहते हैं। जिस के तुल्य कोई न हुआ न है और न होगा। जब तुल्य नहीं तो उस से अधिक क्यों कर हो सकता है? जैसे परमेश्वर के सत्य, न्याय, दया, सर्वसामर्थ्य और सर्वज्ञत्वादि अनन्त गुण हैं वैसे अन्य किसी जड़ पदार्थ वा जीव के नहीं हैं। जो पदार्थ सत्य है उस के गुण कर्म्म स्वभाव भी सत्य होते हैं इसलिये मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर ही की स्तुति प्रार्थना और उपासना करें, उस से भिन्न की कभी न करें क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु, महादेव नामक पूर्वज महाशय विद्वान् दैत्य दानवादि निकृष्ट मनुष्य और अन्य साधारण मनुष्यों ने भी परमेश्वर ही में विश्वास करके उसी की स्तुति, प्रार्थना और उपासना की उस से भिन्न की नहीं की। वैसे हम सब को करना योग्य है। इस का विशेष विचार मुक्ति और उपासना विषय में किया जायगा॥

मित्रादि नामों से सखा और इन्द्रादि देवोंके प्रसिद्ध व्यवहार देखने से उन्हीं का ग्रहण करना न चाहिये क्योंकि जो मनुष्य किसी का मित्र है वही अन्य का शत्रु और किसी से उदासीन भी देखने में आता है इस से मुख्यार्थ में सखा आदि का ग्रहण नहीं हो सकता किन्तु जैसा परमेश्वर सब जगत् का निश्चित मित्र न किसी का शत्रु और न किसी से उदासीन है इस से भिन्न कोई भी जीव इस प्रकार का कभी नहीं हो सकता इस लिये परमात्मा ही का ग्रहण यहां होता है। हां गौण अर्थ में मित्रादि शब्द से सुहृदादि मनुष्यों का ग्रहण होता है। (ञिमिदा स्नेहने) इस धातु से औणादिक "क्त" प्रत्यय के होने से "मित्र" शब्द सिद्ध होता है। "मेद्यति स्निह्यति स्निह्यते वा स मित्रः" जो सब से स्नेह करके और सब प्रीति को करने योग्य है इस से उस परमेश्वर का नाम मित्र है (वृञ् वरणे, वर ईप्सायाम्) इन धातुओं से उणादि "उनन्" प्रत्यय होने से "वरुण" शब्द सिद्ध होता है "यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभिर्व्रियते वर्य्यते वा स वरुणः परमेश्वरः" जो आत्मयोगी विद्वान् शिष्ट मुमुक्षु मुक्त और धर्मात्माओं से ग्रहण किया जाता है वह ईश्वर "वरुण" संज्ञक है। अथवा "वरुणो" नाम "वरः श्रेष्ठः" जिस लिये परमेश्वर सब से श्रेष्ठ है इसी लिये उस का नाम "वरुण" है। (ऋ गतिप्रापणयोः) इस धातु से "यत्" प्रत्यय करने से "अर्य्य" शब्द सिद्ध होता है और "अर्य्य" पूर्वक (माङ् माने) इस धातु से कनिन् प्रत्यय होने से "अर्यमा" शब्द सिद्ध होता है "योऽर्यान् स्वामिनो न्यायाधीशान् मिमीते मान्यान् करोति सोऽर्यमा" जो सत्यन्याय के करने हारे मनुष्यों का मान्य और पाप तथा पुण्य करने वालों को पाप और पुण्य के फलों का यथावत् सत्य २ नियम कर्त्ता है इसी से उस परमेश्वर का नाम "अर्यमा" है (इदि पर-

[illegible] "इन्द्र" शब्द सिद्ध होता [illegible] "इन्द्र" [illegible] वाची [illegible] "बृहस्पति" [illegible] "बृहत्" शब्द पूर्वक (पा रक्षणे) इस धातु से [illegible] बृहत् के तकार का लोप और सुडागम होने से "बृहस्पति" शब्द सिद्ध होता है "यो बृहतामाकाशादीनां पतिः स्वामी पालयिता स बृहस्पतिः" जो बड़ों से भी बड़ा और बड़े आकाशादि ब्रह्माण्डों का स्वामी है इस से उस परमेश्वर का नाम "बृहस्पति" है (विष्लृ व्याप्तौ) इस धातु से "नु" प्रत्यय हो कर "विष्णु" शब्द सिद्ध हुआ है। वेवेष्टि व्याप्नोति चराऽचरं जगत् स "विष्णु" चर और अचर रूप जगत् में व्यापक होने से परमात्मा का नाम "विष्णु" है "उरुर्महान् क्रमः पराक्रमो यस्य स उरुक्रमः" अनन्त पराक्रम युक्त होने से परमात्मा का नाम "उरुक्रम" है। जो परमात्मा (उरुक्रमः) महा पराक्रम युक्त (मित्रः) सब का सुहृत् अविरोधी है (शं) सुखकारक वह (वरुणः) सर्वोत्तम वह (अर्यमा) न्याय कर्त्ता वह (अर्यमा) सुख प्रचारक वह (इन्द्रः) जो सकल ऐश्वर्यवान् और (शम्) सकल ऐश्वर्यदायक वह (बृहस्पतिः) सर्व का अधिष्ठाता वह (शम्) [illegible] और (विष्णुः) जो सब में व्यापक परमेश्वर है वह (नः) हमारा कल्याणकारक (भवतु) हो। (नमो ब्रह्मणे नमस्ते वायो) (बृह बृहि वृद्धौ) इन धातुओं से "ब्रह्म" शब्द सिद्ध होता है। जो सब के ऊपर विराजमान सब से बड़ा अनन्त बल युक्त परमात्मा है उस ब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं। हे परमेश्वर! (त्वमेव प्रत्यक्षम्ब्रह्मासि) आपही अन्तर्यामि रूप से प्रत्यक्ष ब्रह्म हो (त्वमेव प्रत्यक्षम् ब्रह्म वदिष्यामि) मैं आप ही को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूंगा क्योंकि आप सब जगह में व्याप्त हो के सबको नित्य ही प्राप्त हैं (ऋतं वदिष्यामि) जो आप की वेदस्थ यथार्थ आज्ञा है उसी का मैं सब के लिये उपदेश और आचरण भी करूंगा (सत्यं वदिष्यामि) सत्य बोलूं सत्य मानूं और सत्य ही करूंगा (तन्मामवतु) सो आप मेरी रक्षा कीजिये (तद्वक्तारमवतु) स आप मुझ आप्त सत्यवक्ता की रक्षा कीजिये कि जिस से आप की आज्ञा में मेरी बुद्धि स्थिर होकर विरुद्ध कभी न हो क्योंकि जो आप की आज्ञा है वही धर्म और जो उसके विरुद्ध वही अधर्म है "अवतु मामवतु वक्तारम्" यह दूसरी बार पाठ अधिकार्थ के लिये है जैसे "कश्चित् कञ्चित् प्रति वदति त्वं ग्रामं गच्छ गच्छ" इस में दो बार क्रिया के उच्चारण से तू शीघ्र ही ग्राम को जा [illegible] ऐसे ही यहां कि आप मेरी अवश्य रक्षा करो [illegible] [illegible] कृपा मुझ पर कीजिये [illegible]

[illegible]

[illegible]

त्मिक" जो आत्मा शरीर में अविद्या, राग, द्वेष, मूर्खता और ज्वर पीडादि होते हैं। "दूसरा आधिभौतिक" जो शत्रु व्याघ्र और सर्पादि से प्राप्त होता है। तीसरा "आधिदैविक" अर्थात् जो अतिवृष्टि अतिशीत अतिउष्णता मन और इन्द्रियों की अशान्ति से होता है। इन तीन प्रकार के क्लेशों से आप हम लोगों को दूर करके कल्याणकारक कर्म्मों में सदा प्रवृत्त रखिये क्योंकि आप ही कल्याण स्वरूप सब संसार के कल्याण कर्त्ता और धार्मिक मुमुक्षुओं को कल्याण के दाता हैं। इस लिये आप स्वयं अपनी करुणा से सब जीवों के हृदय में प्रकाशित हूजिये कि जिस से सब जीव धर्म का आचरण और अधर्म्म को छोड़ के परमानन्द को प्राप्त हों और दुःखों से पृथक् रहें "सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इस यजुर्वेद के वचन से जो जगत् नाम प्राणी चेतन और जंगम अर्थात् जो चलते फिरते हैं। "तस्थुषः" अप्राणी अर्थात् स्थावर जड़ पदार्थ पृथिवी आदि हैं उन सब के आत्मा होने और स्वप्रकाश रूप सब के प्रकाश करने से परमेश्वर का नाम सूर्य्य है। (अत सातत्यगमने) इस धातु से आत्मा शब्द सिद्ध होता है। "योऽतति व्याप्नोति स आत्मा" जो सब जीवादि जगत् में निरन्तर व्यापक हो रहा है "परश्चासावात्मा च य आत्मभ्यो जीवेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः परोतिसूक्ष्मःसपरमात्मा" जो सब जीव आदि से उत्कृष्ट और जीव प्रकृति तथा आकाश से भी अतिसूक्ष्म और सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा है इस से ईश्वर का नाम "परमात्मा" है। सामर्थ्य वाले का नाम ईश्वर है "य ईश्वरेषु समर्थेषु परमः श्रेष्ठः स परमेश्वरः" जो ईश्वरों अर्थात् समर्थों में समर्थ जिस के तुल्य कोई भी न हो उस का नाम परमेश्वर है। (षुञ् अभिषवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने) इन धातुओं से "सविता" शब्द सिद्ध होता है "अभिषवः प्राणिगर्भविमोचनं चोत्पादनम्। यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः" जो सब जगत् की उत्पत्ति करता है इस लिये परमेश्वर का नाम "सविता" है (दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु) इस धातु से "देव" शब्द सिद्ध होता है (क्रीडा) जो शुद्ध जगत् को क्रीडा कराने (विजिगीषा) धार्मिकों को जिताने की इच्छा युक्त (व्यवहार) सब चेष्टा के साधनोपसाधनों का दाता (द्युति) स्वयं प्रकाश स्वरूप सब का प्रकाशक (स्तुति) प्रशंसा के योग्य (मोद) आप आनन्द स्वरूप और दूसरों को आनन्द देने हारा (मद) मदोन्मत्तों का ताड़ने हारा (स्वप्न) सब के शयनार्थ रात्रि और प्रलय का करने हारा (कान्ति) कामना के योग्य और (गति) ज्ञान स्वरूप है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "देव" है। अथवा "यो दीव्यति क्रीडति स देवः" जो अपने स्वरूप में आनन्द से आप ही क्रीडा करे अथवा किसी के सहाय के बिना क्रीडावत् सहज स्वभाव से सब जगत् को बनाता वा

सब क्रीड़ाओं का आधार है "विजिगीषते स देवः" जो सब का जीतने हारा स्वयं अजेय अर्थात् जिस को कोई भी न जीत सके "व्यवहारयति स देवः" जो न्याय और अन्याय रूप व्यवहारों का जानने और उपदेष्टा "यश्चराचरं जगद्द्योतयति" जो सब का प्रकाशक "यः स्तूयते स देवः" जो सब मनुष्यों को प्रशंसा के योग्य और निन्दा के योग्य न हो "यो मोदयति स देवः" जो स्वयं आनन्द स्वरूप और दूसरों को आनन्द कराता जिसको दुःख का लेश भी न हो "यो माद्यति स देवः" जो सदा हर्षित शोक रहित और दूसरों को हर्षित करने और दुःखों से पृथक् रखने वाला "यः स्वापयति स देवः" जो प्रलय के समय अव्यक्त में सब जीवों को सुलाता "यःकामयते काम्यते वा स देवः" जिस के सब सत्य काम और जिसकी प्राप्ति की कामना सब शिष्ट करते हैं तथा "यो गच्छति गम्यते वा स देवः" जो सब में व्याप्त और जानने के योग्य है इस से उस परमेश्वर का नाम "देव" है (कुवि आच्छादने) इस धातु से "कुबेर" शब्द सिद्ध होता है "यः सर्वं कुवति स्वव्याप्त्याच्छादयति स कुबेरो जगदीश्वरः"। जो अपनी व्याप्ति से सब का आच्छादन करे इस से उस परमेश्वर का नाम "कुबेर" है। (प्रथ विस्तारे) इस धातु से "पृथिवी" शब्द सिद्ध होता है। "यः प्रथते सर्वं जगद्विस्तृणाति स पृथिवी" जो सर्व विस्तृत जगत् का विस्तार करने वाला है उस परमेश्वर का नाम "पृथिवी" है (जल घातने) इस धातु से "जल" शब्द सिद्ध होता है "जलति घातयति दुष्टान्, संघातयति—अव्यक्तपरमाण्वादीन् तद् ब्रह्म जलम्" जो दुष्टों का ताड़न और अव्यक्त तथा परमाणुओं का अन्योऽन्य संयोग वा वियोग करता है वह परमात्मा "जल" संज्ञक कहाता है (काश दीप्तौ) इस धातु से "आकाश" शब्द सिद्ध होता है "यः सर्वतः सर्वं जगत् प्रकाशयति स आकाशः" जो सब ओर से जगत् का प्रकाशक है इस लिये उस परमात्मा का नाम "आकाश" है। (अदभक्षणे) इस धातु से "अन्न" शब्द सिद्ध होता है॥

अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते॥ १॥

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः॥ २॥ तैत्ति० उपनि०। अनुवाक २। १०॥ अत्ता चराचरग्रहणात्॥ वेदान्त दर्शने। सू० अ० १। पा० २ सू० ९॥

यह व्यासमुनिकृत शारीरिक सूत्र है। जो सब को भीतर रखने सब को ग्रहण करने योग्य चराचर जगत् का ग्रहण करने वाला इस से इस ईश्वर के "अन्न, अन्नाद" और "अत्ता" नाम हैं। और जो उस में तीन बार पाठ है सो आदर के लिये है जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न हो के उसी में रहते और नष्ट हो जाते हैं वैसे परमेश्वर

के बीच में सब जगत् की अवस्था है। (वस निवासे) इस धातु से "वसु" शब्द सिद्ध हुआ है। "वसन्ति भूतानि यस्मिन्नथवा यः सर्वेषु वसति स वसुरीश्वरः" जिस में सब आकाशादि भूत वसते हैं और जो सब में वास कर रहा है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "वसु" है (रुदिर् अश्रुविमोचने) इस धातु से "णिच्" प्रत्यय होने से "रुद्र" शब्द सिद्ध होता है। "यो रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः" जो दुष्ट कर्म करने हारों को रुलाता है इस से उस परमेश्वर का नाम रुद्र है॥

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत् कर्मणा करोति तदभिसंपद्यते॥

यह यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है। जीव जिस का मन से ध्यान करता उस को वाणी से बोलता जिस को वाणी से बोलता उसको कर्म से करता जिस को कर्म से करता उसी को प्राप्त होता है। इस से क्या सिद्ध हुआ कि जो जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। जब दुष्टकर्म करनेवाले जीव ईश्वर की न्याय रूपी व्यवस्था से दुःख रूपी फल पाते तब रोते हैं और इसी प्रकार ईश्वर उन को रुलाता है इस लिये परमेश्वर का नाम " रुद्र " है॥

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥
मनु०॥ अ० १। श्लो० १०॥

जल और जीवों का नाम नारा है वे अयन अर्थात् निवास स्थान हैं जिस का इस लिये सब जीवों में व्यापक परमात्मा का नाम "नारायण" है। (चदि आह्लादे) इस धातु से "चन्द्र" शब्द सिद्ध होता है। "यश्चन्दति चन्दयति वा स चन्द्रः"। जो आनन्द स्वरूप और सब को आनन्द देने वाला है इस लिये ईश्वर का नाम "चन्द्र" है। (मगि गत्यर्थक) धातु से "मंगेरलच्" इस से "मङ्गल" शब्द सिद्ध होता है "यो मंगति मंगयति वा स मंगलः" जो आप मंगल स्वरूप और सब जीवोंके मंगल का कारण है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "मङ्गल" है (बुध अवगमने) इस धातु से "बुध" शब्द सिद्ध होता है "यो बुध्यते बोधयति वा स बुधः" जो स्वयं बोधस्वरूप और सब जीवों के बोध का कारण है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "बुध" है। "बृहस्पति" शब्द का अर्थ कह दिया (ईशुचिर् पूती भावे) इस धातु से शुक्र शब्द सिद्ध हुआ है। "यः शुच्यति शोचयति वा स शुक्र" जो अत्यन्त पवित्र और जिस के संग से जीव भी पवित्र हो जाता है इस लिये ईश्वर का नाम "शुक्र" है। (चर गतिभक्षणयोः) इस धातु से "शनैस्" अव्यय उपपद होने

से "शनैश्चर" शब्द सिद्ध हुआ है। "यः शनैश्चरति स शनैश्चरः"। जो सब में सहज से प्राप्त धैर्य्यवान् है। इस से उस परमेश्वर का नाम "शनैश्चर" है (रह त्यागे) इस धातु से राहु शब्द सिद्ध होता है। "यो रहति परित्यजति दुष्टान् राहयति त्याजयति वा स राहुरीश्वरः" जो एकान्त स्वरूप जिस के स्वरूप में दूसरा पदार्थ संयुक्त नहीं जो दुष्टों को छोड़ने और अन्य को छुड़ाने हारा है इस से परमेश्वर का नाम "राहु" है (कित, निवासे रोगापनयने च) इस धातु से "केतु" शब्द सिद्ध होता है। (यश्चिकित्सयति चिकित्सति वा स केतुरीश्वरः) जो सब जगत् का निवासस्थान सब रोगों से रहित और मुमुक्षुओं को मुक्ति समय में सब रोगों से छुड़ाता है इस लिये उस परमात्मा का नाम "केतु" है। (यज, देवपूजासंगतिकरणदानेषु) इस धातु से "यज्ञ" शब्द सिद्ध होता है। "यज्ञो वै विष्णुः"। यह ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन है। "यो यजति विद्वद्भिरिज्यते वा स यज्ञः" जो सब जगत् के पदार्थों को संयुक्त करता और सब विद्वानों का पूज्य है और ब्रह्मा से लेके सब ऋषि मुनियों का पूज्य था है और होगा इससे उस परमात्मा का नाम "यज्ञ" है क्योंकि वह सर्वत्र व्यापक है। (हु, दानादनयोः, आदानेऽप्येके) इस धातु से "होता" शब्द सिद्ध हुआ है। "यो जुहोति स होता"। जो जीवों को देने योग्य पदार्थों का दाता और ग्रहण करने योग्यों का ग्राहक है इससे उस ईश्वर का नाम "होता" है। (बन्ध बन्धने) इस से "बन्धु" शब्द सिद्ध होता है। "यः स्वस्मिन् चराचरं जगद् बध्नाति बन्धुवद्धर्मात्मनां सुखाय सहायो वा वर्त्तते स बन्धुः" जिसने अपने में सब लोक लोकान्तरों को नियमों से बद्ध कर रक्खे और सहोदर के समान सहायक है इसी से अपनी २ परिधि वा नियम का उलङ्घन नहीं कर सकते। जैसे भ्राता भाईयों का सहायकारी होता है वैसे परमेश्वर भी पृथिव्यादि लोकों के धारण रक्षण और सुख देने से "बन्धु" संज्ञक है। (पा, रक्षणे) इस धातु से "पिता" शब्द सिद्ध हुआ है। "यः पाति सर्वान् स पिता" जो सब का रक्षक जैसा पिता अपने सन्तानों पर सदा कृपालु हो कर उन की उन्नति चाहता है वैसे ही परमेश्वर सब जीवों की उन्नति चाहता है इस से उस का नाम "पिता" है। "यः पितॄणां पिता स पितामहः" जो पिताओं का भी पिता है इस से उस परमेश्वर नाम "पितामह" है। यः पितामहानां पिता स प्रपितामहः" जो पिताओं के पितरों का पिता है इस से परमेश्वर का नाम "प्रपितामह" है "यो मिमीते मानयति सर्वाञ्जीवान् स माता। जैसे पूर्ण कृपायुक्त जननी अपने सन्तानों का सुख और उन्नति चाहती है वैसे परमेश्वर भी सब जीवों की बढ़ती चाहता है इस से परमेश्वर का नाम "माता" है। (चर गतिभक्षणयोः) आङ्पूर्वक इस धातु से "आचार्य्य" शब्द सिद्ध होता है "य आचारं ग्राहयति सर्वा विद्या

वा बोधयति स आचार्य्य ईश्वरः"। जो सत्य आचार का ग्रहण कराने हारा और सब विद्याओं की प्राप्ति का हेतु हो के सब विद्या प्राप्त कराता है इस से परमेश्वर का नाम "आचार्य" है (गृ शब्दे) इस धातु से "गुरु" शब्द बना है "यो धर्म्यान् शब्दान् गृणात्युपदिशति स गुरुः" ॥

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ योगसूत्र समाधिपादे सू० २६

जो सत्य धर्म प्रतिपादक सकल विद्यायुक्त वेदों का उपदेश करता, सृष्टि की आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा और ब्रह्मादि गुरुओं का भी गुरु और जिस का नाश कभी नहीं होता इस लिये उस परमेश्वरका नाम "गुरु" है। (अज गतिक्षेपणयोः जनी प्रादुर्भावे) इन धातुओं से "अज" शब्द बनता है। "योऽजति सृष्टिं प्रति सर्वान् प्रकृत्यादीन् पदार्थान् प्रक्षिपति जानाति वा कदाचित् न जायते सोऽजः" जो सब प्रकृति के अवयव आकाशादि भूत परमाणुओं को यथायोग्य मिलाता शरीर के साथ जीवों का संबन्ध कर के जन्म देता और स्वयं कभी जन्म नहीं लेता इस से उस ईश्वर का नाम "अज" है। (बृहि वृद्धौ) इस धातु से "ब्रह्मा" शब्द सिद्ध होता है। "योऽखिलं जगन्निर्माणेन बृंहति वर्द्धयति स ब्रह्मा" जो सम्पूर्ण जगत् को रच के बढ़ाता है इस लिये परमेश्वर का नाम "ब्रह्मा" है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" यह तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है। "सन्तीति सन्तस्तेषु सत्सु साधु तत्सत्यम्। यज्जानाति चराऽचरं जगत्तज्ज्ञानम्। न विद्यतेऽन्तोऽवधिर्मर्यादा यस्य तदनन्तम्। सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद्ब्रह्म" जो पदार्थ हों उन को सत् कहते हैं उन में साधु होने से परमेश्वरका नाम सत्य है। जो जाननेवाला है इस से परमेश्वर का नाम "ज्ञान" है जिस का अन्त अवधि मर्यादा अर्थात् इतना लम्बा चौड़ा छोटा बड़ा है ऐसा परिमाण नहीं है इस लिये परमेश्वर के नाम "सत्य ज्ञान और अनन्त" है। (डुदाञ् दाने) आङ् पूर्वक इस धातु से "आदि" शब्द और नञ् पूर्वक "अनादि" शब्द सिद्ध होता है "यस्मात् पूर्वं नास्ति परं चास्ति स आदिरित्युच्यते न विद्यते आदिः कारणं यस्य सोऽनादिरीश्वरः" जिस के पूर्व कुछ नहीं और परे हो उस को आदि कहते हैं। जिस का आदि कारण कोई भी नहीं है इस लिये परमेश्वर का नाम अनादि है (टुनदि समृद्धौ) आङ् पूर्वक इस धातु से "आनन्द" शब्द बनता है "आनन्दन्ति सर्वे मुक्ता यस्मिन् यद्वायः सर्वाञ्जीवानानन्दयति स आनन्दः"। जो आनन्द स्वरूप जिस में सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते और जो सब धर्मात्मा जीवों को आनन्द युक्त करता है इस से ईश्वर का नाम "आनन्द" है। (अस भुवि) इस धातु से "सत्" शब्द सिद्ध होता है। "यदस्ति त्रिषु कालेषु न बाधते तत्सद्ब्रह्म" जो सदा वर्त्तमान अर्थात् भूत भविष्यत् वर्त्तमान कालों में जिस का बाध न हो उस परमेश्वर को

"सत्" कहते हैं।(चिती संज्ञाने) इस धातु से "चित्" शब्द सिद्ध होता है "यश्चेतति संज्ञापयति सर्वान् सज्जनान् योगिनस्तच्चित्परं ब्रह्म" जो चेतन स्वरूप सब जीवों को चिताने और सत्याऽसत्य का जनाने हारा है इस लिये उस परमात्मा का नाम चित् है। इन तीनों शब्दों के विशेषण होने से परमेश्वर को सच्चिदानन्द स्वरूप कहते हैं। यो नित्य ध्रुवोऽचलोऽविनाशी स नित्यः" जो निश्चल अविनाशी है सो नित्य शब्द वाच्य ईश्वर है। (शुंध शुद्धौ)इस से शुद्ध शब्द सिद्ध होता है""यः शुन्धति सर्वान् शोधयति च स शुद्ध ईश्वरः"। जो स्वयं पवित्र सब अशुद्धियों से पृथक् और सब को शुद्ध करने वाला है इस से उस ईश्वर का नाम शुद्ध है। (बुध अवगमने) इस धातु से क्त प्रत्यय होने से बुद्ध शब्द सिद्ध होता है "यो बुद्धवान् सदैव ज्ञाताऽस्ति स बुद्धो जगदीश्वरः" जो सदा सब को जानने हारा है इस से ईश्वर का नाम बुद्ध है (मुच्लृ मोचने) इस धातु से मुक्त शब्द सिद्ध होता है। "यो मुञ्चति मोचयति वा मुमुक्षून् स मुक्तो जगदीश्वरः" जो सर्वदा अशुद्धियों से अलग और सब मुमुक्षुओं को क्लेश से छुड़ा देता है इस लिये परमात्मा का नाम मुक्त है अतएव—नित्य शुद्ध बुद्धमुक्तस्वभावो जगदीश्वरः। इसी कारण से परमेश्वर का स्वभाव नित्य शुद्ध मुक्त है। निर् और आङ् पूर्वक (डुकृञ् करणे) इस धातु से निराकार शब्द सिद्ध होता है "निर्गत आकारात्स निराकारः" जिस का आकार कोई भी नहीं और न कभी शरीर धारण करता है इस लिये परमेश्वर का नाम निराकार है (अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु) इस धातु से अञ्जन शब्द और निर् उपसर्ग के योग से निरञ्जन शब्द सिद्ध होता है "अञ्जनं व्यक्तिर्म्रक्षणं कुकाम इन्द्रियैः प्राप्तिश्चेत्यस्माद्यो निर्गतः पृथग्भूतः स निरञ्जनः" जो व्यक्ति अर्थात् आकृति म्लेच्छाचार दुष्टकामना और चक्षुरादि इन्द्रियों के विषयों के पथ से पृथक् है इस से ईश्वर का नाम "निरञ्जन" है।(गण संख्याने)इस धातु से "गण" शब्द सिद्ध होता इस के आगे "ईश" वा "पति" शब्द रखने से "गणेश" और "गणपति" शब्द सिद्ध होते हैं। ये प्रकृत्यादयो जडा जीवाश्च गण्यन्ते संख्यायन्ते तेषामीशः स्वामी पतिः पालको वा" जो प्रकृत्यादि जड़ और सब जीव प्रख्यात पदार्थों का स्वामी वा पालन करने हारा है इस से उस ईश्वर का नाम "गणेश" वा "गणपति" है। यो विश्वमीष्टे स विश्वेश्वरः' जो संसार का अधिष्ठाता है इस से उस परमेश्वर का नाम "विश्वेश्वर" है "यः कूटेऽनेकविधव्यवहारे स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति स कूटस्थः परमेश्वरः"। जो सब व्यवहारों में व्याप्त और सब व्यवहारों का आधार हो के भी किसी व्यवहार में अपने स्वरूप को नहीं बदलता इस से परमेश्वर का नाम "कूटस्थ" है। जितने देव शब्द के अर्थ लिखे हैं उतने ही "देवी" शब्द के भी हैं। परमेश्वर के तीनों लिङ्गों में नाम हैं जैसे "ब्रह्म चितिरीश्वरश्चेति" जब ईश्वर का विशेषण

होगा तब "देव" जब चिति का होगा तब "देवी" इस से ईश्वर का नाम "देवी" है (शक्लृ शक्तौ) इस धातु से "शक्ति" शब्द बनता है "यः सर्वं जगत् कर्त्तुं शक्नोति स शक्तिः" जो सब जगत् के बनाने में समर्थ है इस लिये उस परमेश्वर का नाम शक्ति है। (श्रिञ् सेवायाम्) इस धातु से "श्री" शब्द सिद्ध होता है "यः श्रीयते सेव्यते सर्वेण जगता विद्वद्भिर्योगिभिश्च स श्रीरीश्वरः" जिस का सेवन सब जगत्, विद्वान् और योगीजन करते हैं उस परमात्मा का नाम "श्री" है। (लक्ष, दर्शनाङ्कनयोः) इस धातु से "लक्ष्मी" शब्द सिद्ध होता है "यो लक्षयति पश्यत्यङ्कते चिन्हयति चराचरं जगदथवा वेदैराप्तैर्योगिभिश्च यो लक्ष्यते स लक्ष्मीः सर्वप्रियेश्वरः"। जो सब चराचर जगत् को देखता चिन्हित अर्थात् दृश्य बनाता जैसे शरीर के नेत्र, नासिका और वृक्ष के पत्र, पुष्प, फल, मूल, पृथिवी, जल के कृष्ण रक्त, श्वेत, मृत्तिका, पाषाण, चन्द्र सूर्यादि चिन्ह बनाता तथा सब को देखता सब शोभाओं की शोभा और जो वेदादि शास्त्र वा धार्मिक विद्वान् योगियों का लक्ष्य अर्थात् देखने योग्य है इससे उस परमेश्वर का नाम "लक्ष्मी" है। (सृ गतौ) इस धातु से "सरस" उस से "मतुप" और "ङीप्" प्रत्यय होने से "सरस्वती" शब्द सिद्ध होता है "सरो विविधं ज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती" जिस को विविध विज्ञान अर्थात् शब्द अर्थ सम्बन्ध प्रयोग का ज्ञान यथावत् होवे इससे उस परमेश्वर का नाम "सरस्वती" है। सर्वाः शक्तयो विद्यंते यस्मिन् स सर्वशक्तिमानीश्वरः" जो अपने कार्य करने में किसी अन्य की सहायता की इच्छा नहीं करता है अपने सामर्थ्य से अपने सब काम पूरे करता है इस लिये उस परमात्मा नाम "सर्वशक्तिमान्" (णीञ् प्रापणे) इस धातु से "न्याय" शब्द सिद्ध होता है। "प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः" यह वचन न्याय सूत्रों पर वात्स्यायन मुनिकृत भाष्यका है। पक्षपातराहित्याचरणं न्यायः जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की परीक्षा से सत्य २ सिद्ध होता हो तथा पक्षपात रहित धर्म रूप आचरण है वह न्याय कहाता है। "न्यायं कर्त्तुं शीलमस्य स न्यायकारीश्वरः" जिस का न्याय अर्थात् पक्षपात रहित धर्म करने ही का स्वभाव है इस से उस ईश्वर का नाम "न्याय कारी" है। (दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु) इस धातु से "दया" शब्द सिद्ध होता है दयते ददाति जानाति गच्छति रक्षति हिनस्ति यया, सा दया बह्वी दया विद्यते यस्य स दयालुः परमेश्वरः" जो अभय का दाता सत्याऽसत्य सर्व विद्याओं का जानने सब सज्जनों की रक्षा करने और दुष्टों को यथायोग्य दण्ड देने वाला है इस से परमात्मा का नाम दयालु है "द्वयोर्भावो द्विता द्वाभ्यामितं द्वीतं वा सैव तदेव वा द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं द्वितीयेश्वरभावो यस्मिंस्तदद्वैतम्"। अर्थात् सजातीय विजातीय स्वागत भेद शून्यं 'ब्रह्म' दो का होना वा दोनों से युक्त होना वह द्विता वा द्वीत अथवा द्वैत इस से जो रहित

हैं सजातीय जैसे मनुष्य का सजातीय दूसरा मनुष्य होता है। विजातीय जैसे मनुष्य से भिन्न जाति वाला वृक्ष पाषाणादि। स्वगत अर्थात् शरीरमें जैसे आंख, नाक, कान आदि अवयवों का भेद है वैसे दूसरे स्वजातीय ईश्वर विजातीय ईश्वर वा अपने आत्मा में तत्त्वान्तर वस्तुओं से रहित एक परमेश्वर है। इस से परमात्मा का नाम "अद्वैत" है। "गुण्यन्ते ये ते गुणा वा यैर्गणयन्ति ते गुणाः, यो गुणेभ्यो निर्गतः स निर्गुण ई-श्वरः"। जितने सत्त्व, रजस्, तमः, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि जड़ के गुण अविद्या, अल्पज्ञता, राग, द्वेष और अविद्यादि क्लेश जीव के गुण हैं उन से जो पृथक् है इस में "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादि उपनिषदों का प्रमाण है जो शब्द, स्पर्श, रूपादिगुणरहित है इस से परमात्मा का नाम "निर्गुण" है। "यो गुणैः सह वर्त्तते स सगुणः" जो सब का ज्ञान सर्वसुख पवित्रता अनन्त बलादि गुणों से युक्त है इसलिये परमेश्वर का नाम "सगुण" है। जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों से सगुण और इच्छादि गुणों से रहित होने से निर्गुण है वैसे जगत् और जीव के गुणों से पृथक् होने से परमेश्वर निर्गुण और सर्वज्ञादि गुणों से सहित होने "सगुण" है। अर्थात् ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो सगुणता और निर्गुणता से पृथक् हो जैसे चेतन के गुणों से पृथक् होने से जड़ पदार्थ निर्गुण और अपने गुणों से सहित होने से सगुण वैसे ही जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव निर्गुण और इच्छादि अपने गुणों से सहित होने सगुण। ऐसे ही परमेश्वर में भी समझना चाहिये। "अन्तर्यन्तुं नियन्तुं शीलं यस्य सोऽयमन्तर्यामी" जो सब प्राणि और अप्राणि रूप जगत् के भीतर व्यापक हो के सब का नियम करता है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "अन्तर्यामी" है। "यो धर्मे राजते स धर्मराजः"। जो धर्म ही में प्रकाशमान और अधर्म से रहित धर्म ही का प्रकाश करता है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "धर्मराज" है। (यमु उपरमे) इस धातु से "यम" शब्द सिद्ध होता है। "यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः" जो सब प्राणियों को कर्मफल देने की व्यवस्था करता और सब अन्यायों से पृथक् रहता है इस लिये परमात्मा का नाम "यम" है। (भज सेवायाम्) इस धातु से "भग" इस से "मतुप्" होने से "भगवान्" शब्द सिद्ध होता है। "भगः सकलैश्वर्यं सेवनं वा विद्यते यस्य स भगवान्" जो समग्र ऐश्वर्य से युक्त भजन के योग्य है इसी लिये उस ईश्वर का नाम "भगवान्" है। (मन, ज्ञाने) धातु से "मनु" शब्द बनता है। "यो मन्यते स मनुः"। जो मनु अर्थात् विज्ञानशील और मानने योग्य है इस लिये उस ईश्वर का नाम "मनु" है (पॄ पालनपूरणयोः) इस धातु से "पुरुष" शब्द सिद्ध हुआ है। "यः स्वव्याप्त्या चराऽचरं जगत् पृणाति पूरयति वा स पुरुषः" जो जगत् में पूर्ण हो रहा इस लिये

उस परमेश्वर का नाम "पुरुष" है (डुभृञ् धारणपोषणयोः) "विश्व" पूर्वक इस धातु से "विश्वम्भर" शब्द सिद्ध होता है। "यो विश्वं बिभर्ति धरति पुष्णाति वा स विश्वम्भरो जगदीश्वरः" जो जगत् का धारण और पोषण करता है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "विश्वम्भर" है। (कल संख्याने) इस धातु से "काल" शब्द बना है । "कलयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः" जो जगत् के सब पदार्थ और जीवों की संख्या करता इसलिये उस परमेश्वर का नाम "काल" है । "यः शिष्यते स शेषः" जो उत्पत्ति और प्रलय से शेष अर्थात् बच रहा है इस लिये उस परमात्मा का नाम शेष है (आप्लृ व्याप्तौ) इस धातु से "आप्त" शब्द सिद्ध होता है। "यः सर्वान् धर्मात्मन आप्नोति वा सर्वैर्धर्मात्मभिराप्यते छलादि रहितः स आप्तः" जो सत्योपदेशक सकल विद्यायुक्त सब धर्मात्माओं को प्राप्त होता और धर्मात्माओं से प्राप्त होने योग्य छल कपटादि से रहित है इस लिये उस परमात्मा का नाम "आप्त" है (डुकृञ् करणे) शम पूर्वक इस धातु से "शङ्कर" शब्द सिद्ध हुआ है "यः शङ्कल्याणं सुखं करोति स शङ्करः" जो कल्याण अर्थात् सुख का करने हारा है इस से उस ईश्वर नाम "शङ्कर" है "महत्" शब्द पूर्वक "देव" शब्द से "महादेव" सिद्ध होता है "यो महतां देवः स महादेवः" जो महान् देवों का देव अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान् सूर्य आदि पदार्थों का प्रकाशक है इसलिये उस परमात्मा का नाम "महादेव" है (प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च) इस धातु से "प्रिय" शब्द सिद्ध होता है यः पृणाति प्रीयते वा स प्रियः" जो सब धर्मात्माओं मुमुक्षुओं और शिष्टों को प्रसन्न करता और सब को कामना के योग्य है इसलिये उस ईश्वर का नाम "प्रिय" है (भूसत्तायाम्) "स्वयं" पूर्वक इस धातु से (स्वयम्भू) शब्द सिद्ध होता है "यः स्वयं भवति स स्वम्भूरीश्वरः" जो आप से आप ही है किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है इस से उस परमात्मा का नाम "स्वयम्भू" है (कुशब्दे) इस धातु से "कवि" शब्द सिद्ध होता है "यः कौति शब्दयति सर्वा विद्याः स कविरीश्वरः" जो वेद द्वारा सब विद्याओं का उपदेष्टा और वेत्ता है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "कवि" है (शिवु कल्याणे) इस धातु से "शिव" शब्द सिद्ध होता है "बहुलमेतन्निदर्शनम्" इस से शिवु धातु माना जाता है जो कल्याण स्वरूप और कल्याण का करने हारा है इस लिये उस परमेश्वर का नाम "शिव" है ॥

ये सौ नाम परमेश्वर के लिखे हैं परन्तु इस से भिन्न परमात्मा के असंख्य नाम हैं क्योंकि जैसे परमेश्वर के अनन्त गुण कर्म स्वभाव हैं वैसे उसके अनन्त नाम भी हैं उन में से प्रत्येक गुण कर्म्म और स्वभाव का एक२ नाम है इस से ये मेरे कहे नाम समुद्र के सामने बिन्दुवत् हैं क्योंकि वेदादिशास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण कर्म

स्वभाव व्याख्यात किये हैं, उनको पढ़ने पढ़ाने से बोध हो सकता है, और अन्य पदार्थों का ज्ञान भी उन्हीं को पूरा २ हो सकता है जो वेदादि शास्त्रों को पढ़ते हैं ॥

जैसे अन्य ग्रन्थकार लोग आदि मध्य अन्त में मंगलाचरण करते हैं वैसे हम को कुछ भी न लिखना चाहिये क्योंकि ऐसा हम को करना योग्य नहीं जो आदि मध्य और अन्त में मंगल करेगा तो उस के ग्रन्थ में आदि मध्य तथा अन्त के बीच में जो कुछ लेख होगा वह अमङ्गल ही रहेगा इस लिये "मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति" यह सांख्य शास्त्र का सूत्र है। इस का यह अभिप्राय है कि जो न्याय पक्षपात रहित सत्य वेदोक्त ईश्वर की आज्ञा है उसी का यथावत् सर्वत्र और सदा आचरण करना मङ्गलाचरण कहाता है। ग्रन्थ के आरम्भ से ले के समाप्ति पर्यंत सत्याचार का करना ही मङ्गलाचरण है। न कि कहीं मङ्गल और कहीं अमङ्गल लिखना। देखिये महाशय महर्षियों के लेख को :—

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि ॥

यह तैत्तिरीयोपनिषद् प्रपाठक ७ अनु० ११ का वचन है। हे सन्तानो ! जो "अनवद्य" अनिन्दनीय अर्थात् धर्म युक्त कर्म हैं वे ही तुम को करने योग्य हैं अधर्मयुक्त नहीं। इसलिये जो आधुनिक ग्रन्थों में "श्रीगणेशायनमः" "सीतारामाभ्यां नमः" "राधाकृष्णाभ्यां नमः" "श्रीगुरुचरणारविन्दाभ्यां नमः" "हनुमतेनमः" "दुर्गायै नमः" "वटुकाय नमः" "भैरवाय नमः" "शिवाय नमः" "सरस्वत्यै नमः" "नारायणाय नमः" इत्यादि लेख देखने में आते हैं इन को बुद्धिमान् लोग वेद और शास्त्रों के विरुद्ध होने से मिथ्या ही समझते हैं क्योंकि वेद और ऋषियों के ग्रंथों में कहीं ऐसा मङ्गलाचरण देखने में नहीं आता और आर्षग्रन्थों में "ओ३म्" तथा "अथ" शब्द तो देखने में आते हैं। देखो—

"अथ शब्दानुशासनम्" अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यत इति व्याकरण महाभाष्ये।

"अथातो धर्मजिज्ञासा" अथेत्यानन्तर्ये वेदाध्ययनानन्तरम्। इति पूर्वमीमांसायाम्।

"अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" अथेति धर्म कथनानन्तरं धर्मलक्षणं विशेषेण व्याख्यास्यामः। वैशेषिकदर्शने।

"अथ योगानुशासनं" अथेत्ययमधिकारार्थः। योगशास्त्रे।
"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः" सांसारिकविषयभोगानन्तरं त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्त्यर्थः प्रयत्नः कर्तव्यः। सांख्यशास्त्रे।
"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इदं वेदांतसूत्रम्।
"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" छान्दोग्योपनिषद्
"ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानम्"। माण्डूक्यो०

ये सब उन २ शास्त्रों के आरम्भ के वचन हैं ऐसे ही अन्य ऋषि मुनियों के ग्रन्थों में "ओम्" और "अथ" शब्द लिखे हैं वैसे ही (अग्नि, इट् अग्नि, ये त्रिषप्ताः परियन्ति) ये शब्द चारों वेदों के आदि में लिखे हैं "श्रीगणेशाय नमः" इत्यादि शब्द कहीं नहीं और जो वैदिक लोग वेद के आरम्भ में "हरिः ओ३म्" लिखते और पढ़ते हैं यह पौराणिक और तान्त्रिक लोगों की मिथ्या कल्पना से सीखे हैं वेदादि शास्त्रों में "हरि शब्द आदि में कहीं नहीं इस लिये "ओ३म्" वा "अथ" शब्द ही ग्रंथ के आदि में लिखना चाहिये यह किञ्चन्मात्र ईश्वर के विषय में सर्व भगनीयों के आगे कथन किया है, और यहां पर ही मैं इस उपदेश को समाप्त करती हूं॥

और अन्त में ईश्वर से प्रार्थना करती हूं कि:—हे सर्व शक्तिमान् न्यायकारी दयालु प्रभो! हम अबला दीन हीन आप के शरण में आके आप से प्रार्थना है कि आप हम को यथार्थ ज्ञान देवे कि जिस से अविद्या अन्धकार जो हमारे में फैला है और जिस से हम लोग अनेक अधम कर्म करती है। हे दयालु आप की कृपा से सब हम आप के नामों का यथावत् ज्ञान कर उसका अपनी आत्मा में अनुभव करे कि जिस से संसार में हम अनेक बुराइयों से बच सकती है।

ओ३म् शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

(इस के पश्चात भजन और आर्ती के कथा समाप्त हुई)

ओं

आनंद

आनंद स्वरूप जगत के विषय बहुत ही आनंद की बातें गिनी जाती हैं. धन जोबन संतती परिवार इत्यादि इंद्रियों को जिन से सुख उपभोग मिलता है; ऐसा क्षणिक आनंद सो तो है विषयानंद. उस के बाद दूसरा ज्ञान का भी आनंद है बहुत पढ़े लिखे पंडित बने, विद्या रत्न, विद्या सागर क हाये. अल्क़ाब पाये; मगर हृदय वैसा ही सूका का सूका रहा ऐसा जो आनंद सो है ज्ञानानंद, उसके बाद आत्मा का स्वरूप जानने से जो तृप्ति होती है वो भी एक आनंद है और उसका नाम है आत्मानंद. किन्तु इन सब आनंदों में जो सत्य नित्य आनंद सो तब ही प्राप्त होता है, जब उस आनंद रूप परमात्मा के स्वरूप को जानके उन के संग आत्मा का संयोग किया जाता है. उस के आनंद की फिर सीमा नहीं, तत्वदर्शि जिज्ञासुसे कहते हैं:-

पद. राग सोरठ. ताल ग़ज़ल

डूबे जो परमानंद सिंधु, उनको कहें आनंद क्या ?
पान कर इक एक बिंदु, जन्म अहा ! सुख कंद क्या ? १
भव विकट पारावार, जो जन कर गये हैं पार,
हैं पहुंचे वो उस दरबार, जहां फिर सूर्य ग्रहगन चंद क्या ? २
धर योग ध्यान हमेश, नित प्रत गहन गहन विशेष,
परमानंद सिंधु प्रवेश, कर बैठे तो फिर दुखद्वंद क्या ? ३
लग गइ महा अद्भुत लगन, बैठे हैं सिंधु बिच मगन;
सुधि बुद्धि तन मनकी विसर्जन, शीत उष्ण रू मंद क्या ? ४
आत्मा को होते स्पर्श जल, निर्मल स्वरूप हुवा सकल,

सम सर्व काल हैं शांत शीतल, आधी व्याधी फंद क्या ?५
गये विषय ज्ञानानंद अब, नवनिद्धि सिद्धि पाए सब;
आ मिले ब्रह्मानंद जब, फिर अधिक तर आनन्द क्या ? ।६।

ऋण ।

महा भारत में कथा है, महाराज युधिष्ठिर की परीक्षा लेते समय यक्षने चार प्रश्न किये; उनमें एक यह प्रश्न था कि संसार में सुखी कौन है, राजा ने उत्तर दिया कि जो मनुष्य रात दिन में एक बार रूखी सूखी रोटी से पेट भरता है और किसी का ऋणी नहीं वही सुखी है· और भी कहा है ऋण देने वाला जिस पुरुषके द्वार पर जाकर तकाज़ा करता है उसकी आवाज़ को सुन ऋण लेने वाले की सात कुली नरक में जाती हैं ।

संसार में ऋणी होना बड़े पाप का फल समझना चाहिये बड़े से बड़े धनी की भी मान मर्यादा आदर प्रतिष्ठा सब नष्ट होजाती हैं ।

स्त्रियें जो अविद्या बश सुन्दर भूषण अच्छे बस्त्रों के लिये अपने स्वामी अथवा माता पिता को ऋणके भार में दबाती हैं वे उनकी शत्रु हैं, पुत्र कन्या के विवाह में अपने वित्तसे बाहर खर्च करने का अनिरोध करती हैं; उनकी कहावत है [ले पराया खर्चिये जो घर जन्मे पूत] यह बड़ी भारी भूल है ऋण में दबने से मनुष्य कभी उस से मुक्त नहीं होता रात दिन चिन्ता उस के शरीर को खाये लेती है ज़रासी खुशी के लिये अपने प्यारे पति की जान में एक रोग लगा देना बुद्धिमान् कुलवती स्त्रियों का धर्म नहीं है वे सदा ऋण के भार से बची रहें अपने पति या किसी अन्य व्यक्ति को कभी उधार लेने का उपदेश न करें; बुद्धिमानों का "वाक्य अपने वित्त से बाहर पांव मत रक्खो" सदा चित्त में धारण किये रहें । (भारत भगिनी)

जिस घर में गुणवती गृहिणी है वास्तविक सुख उसी घरके मनुष्यों को है

विज्ञ पुरुषों का कथन है कि "गृहिणी गृह मुच्यते" अर्थात् गृहिणी को ही घर कहते हैं इस से ज्ञात होता है कि घर के सब कामों में स्त्री का पूर्ण

अधिकार होना चाहिये । यदि स्त्री को घर में इतना बड़ा अधिकार न दिया जाय तो गृहस्थाश्रम का निर्वाह हो नहीं सकता और जब घर का पूर्ण अधिकार दिया गया तो अवश्य गृह की स्वामिनी सुयोग्य होनी चाहिये । घर गृहस्थी का एक राज्य है और जैसे सुयोग्य राजा अपने राज्य कार्य का ठीक प्रबन्ध करके सब प्रजा को सन्तुष्ट कर सक्ता है ऐसे ही सुदक्ष गृहिणी गृह प्रबन्ध ठीक रखकर अपनी योग्यता से घर के सब लोगों को और दास दासियों को प्रसन्न रख सकती है ।

किसी पुरुष की स्थिति कैसी ही खराब क्यों न हो परन्तु उसकी सह धर्म्मिणी गृह कार्य्य में दक्ष और मितव्ययी है तो उसको घरकी विशेष चिन्ता नहीं हो सकती । उसके घर का काम थोड़े से द्रव्य में बहुत अच्छी तरह चल सकता है । उत्तम गुणवती स्त्री के मिलने से पुरुष के हृदय में एक तरह का धैर्य्य और बल रहता है और चित्त में शांति रहती है। कोई भी सांसारिक चिन्ता उसके मनको अधिक व्यथित नहीं कर सकती । वह दिन भर नाना प्रकार के परिश्रम करने के पश्चात् रात्रि को सुख पूर्ण घर में प्रवेश करता है तो मृदु भाषिणी और सुहासिनी भार्य्या के मधुर बचन सुनते ही उसका अन्तरात्मा आल्हादित हो जाता है और ऐसी पत्नी निरन्तर अपने पति को सुख देने का प्रयत्न करती है जिस से उस के दिल में ताज़गी आ जाती है और फिर अधिक श्रम भी उसको दुस्सह नहीं होता बल्कि गृहस्थी के धन्धों और व्यवसाय के लिये उसके शरीर में द्विगुणित बल रहता है और जिस घर में सदा अशान्ति, कलह, रोना पीटना, मार धाड़, गाली गलौज, लड़ाई भिड़ाई और रूठना मचलना रहता है उस घर के मनुष्यों का तो जीवन नर्क मय है । ऐसे घरों के रहने से तो जंगल का वास करना सुख मय हो सक्ता है । पुरुष चाहे कैसा ही दृढ़ व्रत और साहसी हो परन्तु रात दिन के क्लेशों के आघात से उस की हिम्मत अवश्य छूट जायगी और बड़े उद्योग या पुरुषार्थ के लिये उसके मनमें कुछ भी उत्साह न रहेगा और कदाचित् अन्त में वह निराश होकर गृह वास छोड़ने को भी विवश हो जायगा । हमने बहुधा देखा है कि जिन पुरुषों की स्त्रियां कलह कारिणी होती हैं वे घर का कोई काम ठीक रीति से या नि-

यत समय पर नहीं करतीं और निष्कारण भी पति से विवाद करने को उद्यत हो जाती हैं तथा सदैव असन्तुष्ट रहती हैं जिस से पुरुषों को घरमें जाना तक बड़ा दुःखदायी मालूम होने लगता है समय असमय घर जाकर भोजन कर आने के सिवाय घर का कोई सुख वे जानते ही नहीं परन्तु ये कलह कारिणी स्त्रियां भी अपने माता पिता से सुशिक्षा न मिलने ही के कारण ऐसी कुटिल स्वभावा हुई हैं।

सारांश यह कि पुरुष को गृहस्थ सुख सुयोग्य और पतिव्रता नारी से ही है और जितना अधिक बुद्धिमान और शिक्षित पुरुष होगा उसको उतनी ही अधिक चतुरा और शिक्षित स्त्री की आवश्यकता है क्योंकि दुर्भाग्य से यदि शिक्षित पुरुष का संग मूढ़ स्त्री से हो जाय तो गुण कर्म स्वभाव न मिलने से सदैव कलह रहैगी और गृह कार्य्य में गृहिणी को जो कुछ अधिकार मिला है उसका यदि वह ठीक उपयोग करे तो घर के सब लोगों को सुख होता है और दुरुप योग करने से गृहस्थ का सर्वस्व नाश होजाता है इस लिये स्त्रियों को योग्य और गुणवती बनाने के लिये कर्त्तव्य अकर्त्तव्य कर्म समझाने के लिये और सत्मार्ग पर चलाने के लिये नारी शिक्षा विषयक ग्रन्थों के पढ़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है ॥ (राजपूत)

॥ पाप पुण्य ॥

१– मनुष्य देह में नाना प्रकार की शक्तियां हैं और वह सब मनुष्य के आधीन हैं. उन शक्तियों को ठीक२ बढ़ाना और वर्ताव में लाना पुण्य है और ठीक२ न बढ़ाना और न वर्ताव में लाना पाप है मनुष्य जैसे संकल्प और कर्म करने चाहे कर सक्ता है परन्तु उन कर्म्मों और संकल्पों के अनुसार ही फल मिलता है और वैसा स्वभाव हो जाता है अच्छे संकल्प और कर्म्मों का फल पुण्य और बुरों का फल पाप है-एक कवी का वाक्य है- सत्य बराबर पुण्य नहिं झूठ बराबर पाप–

२– पाप पुण्य बुद्धि के विषय हैं जैसे२ बुद्धि बढ़ती जाती है वैसे२ पाप पुण्य भी सूक्षम रीतिसे बढ़ते जाते हैं जब किसी संकल्प वा कर्म्म के समय भय शंका लज्जा प्राप्त हो उसको पाप समझना चाहिये परन्तु किसी

पाप को बारम्बार करने से भय शंका वा लज्जा कम होते होते आदत के दर्जे पर पहुंचकर बिलकुल महसूस नहीं होते- बाल अवस्था से वृद्ध अवस्था तक (लड़कपन से बुढ़ापे तक) जो बराबर पाप आचारण करते रहते हैं उनकी ऐसी हालत होजाती है और जिस देश में बहुत से आदमी विशेश करके प्रतिष्ठित मनुष्य किसी पाप को करने लगते हैं तो और सामान्य बुद्धि वाले (मामूली अक्ल वाले) उस पाप को पाप न समझ कर स्वभाविक ही करने लगते हैं इस तरह बहुत से पाप तो पुण्य समझे जाने लगते हैं और बहुत से पुण्य पाप समझे जाने लगते हैं और जब ऐसे विपरीत ज्ञान और दुष्ट कर्म्मों के कारण बहुत अंधकार और दुःख प्रगट होतेहैं तब कोई वा कई श्रेष्ठ गुण-कर्म-सुभाववाले-निर्भय निस्वार्थ और निस्पक्ष विद्वान उपदेशक और उपदेशिका भी ज़रूर पैदा होते हैं- जो२ मनुष्य अर्थात् पुरुष और स्त्रियां उन के सत्य उपदेश को स्वीकार करते हैं उनके पाप और पापों के फल (दुख) दूर होजाते हैं और उनको पापों से बचे हुए और शान्त चित देखकर अनेक मनुष्य उसउपदेश को ध्यान देकर सुनने और धारन करने लगते हैं केवल स्वार्थी और पक्षपाती और उनको देखकर बहुत से मूर्ख पहली लकीर ही पीटे जाते हैं- और नाना प्रकार के पापों और उनके फल दुःखों में फंसे रहते हैं काम- क्रोध- लोभ- मोह- अहंकार- पांचवेग (जज़्बे) हैं जिनके नामुनासिब बर्ताव से पाप और मुनासिब बर्ताव से पुण्य प्रगट होते हैं- और उन वेगों को अपने आधीन करने से आत्मिक शक्तियां जाग पड़ती हैं और उनके द्वारा बड़े बड़े परोपकार के काम होने शुरू होजाते हैं लेकिन चूंकि साधारण मनुष्यों से इन वेगों का नामुनासिब बर्ताव ज़ियादा होता है इस लिये इन को विकार कहा जाता है-[१]काम के वेग से संसार की उत्पत्ति और[२]क्रोध से नाश होता है-[३]लोभ नहीं तो किसी प्रकार की उन्नति नहो अपने फ़ायदे के लालच से ही मनुष्य मेहनत और फ़िक्रसे तरह२ की विद्या पढते और नये से नये सुख के सामान पैदा करते हैं-[४]मोह नहो तो बाल अवस्था में जिसमें सब जीवोंको बेबसी

और अज्ञानता में गुज़रना पड़ता है पालना नहोसके[५]अहंकार नहो तो कोई काम या इन्तज़ाम न चल सके और किसी वस्तु की रक्षा न की जासके परंतु दिनरात काम के बस होकर भटकते रहना - हरवक्त क्रोध की अग्नि से आप जलते रहना और दूसरों को जलाते रहना लोभकी रस्सी में बंध कर अपने तईं और दूसरों को हानि पहुंचाना झूठ बोलकर धोका देकर डराकर दूसरों के धन आदि पदार्थ छीनने की फ़िक्र में लगेरहना अपनी संतान या जिन के ऊपर यह समझ लिया है उनके दोषों को न देखना और न संवारना और उन के दुःख में दुखी होना-[६] अहंकार के सबब सारी दुनिया की चीज़ों को अपनी बनाने की फ़िक्र में लगे रहना हरवक्त खुदगर्ज़ी में डूबे रहना बुरा है इन एक २ जज़बों के नामुनासिब बर्ताव से बेशुमार पाप प्रकट होते हैं और संस्कार चक्र की रीति से बराबर बढ़ते चले जाते हैं. उन बेशुमार पापों को देखकर बहुत से मनुष्य ऐसा समझ बैठते हैं कि पापों से बचने की किसी को भी सामर्थ नहीं ऐसी समझ के सबब हिम्मत और कोशिश को छोड़देते हैं बहुत से कहते हैं कि सारे आदमी पापी हैं और पाप पैदायशी बुराई इन्सान के साथ लगी हुई है केवल दयालुता और करुणा (रहमते बख़शिश व शिफ़ाअत) से बेड़ा पार होगा ।

ऐसी समझ के सबब कई किस्म के पाप बेख़ौफ़ी और दिलजमई से कर लिये जाते हैं और झूठी उम्मीदों और बातिल परसतियों में मुबतला रहते हैं बहुत से कहते हैं कि पाप कराना शैतान का काम है ज़बर दस्ती पाप करा देता है ऐसी समझ के सबब वह बजाय पाप से हिम्मत के साथ मुक़ाबला करने के पाप के जज़बे से मग़लूब होकर पाप कर लेते हैं और फिर शैतान को गालियां देते हैं— एक मज़ाक़ तबीयत का शाइर उनकी शान् में इसतरह कहता है "क्या हंसी आती है मुझको हज़रते इन्सान पर, फ़ेले बदतो ख़ुदकरें लानत करें शैतान पर,,

असिल में पाप-[१]मन -[२]बानी-[३]काया की शक्तियों के नामुनासिब बर्ताव से पैदा होते हैं और इन्ही शक्तियों के अर्से दराज़ तक मुनासिब बर्ताव

से दूर होजाते हैं और अगर शुरू से बाल कों [लड़के लड़कियों] को सत्संग और विद्या प्राप्त होतो पाप से बचे रह सक्ते हैं जिन्हों ने अज्ञान ता या स्वार्थ के सबब पाप किये हों उनके एक एक विकार को अपने आधीन करने से उस वेग के तआल्लुक वाले हज़ारों पाप दब ही जाते हैं; और पुण्य के संस्कार ज़ोरकर आते हैं और जज़बे को बसमें करने से दूसरे जज़बे के बस में करने की हिम्मत और दलेरी पैदा होजाती है और जब सारे जज़बे एक २ करके आधीन होजाते हैं तो पापपर कामिल फ़तह हासिल होजाती है और पिछले पापों को याद करके हंसी आती है और दूसरों को पापमें फंसे हुए देख कर शोक होता है और दया प्रकट होती है और सच्चे दिल और पूरी कोशिश से उनकी भलाई के लिये उद्योग किया जाता है—

४— यद्यपि पाप पुण्य की बहुत सूक्ष्म गति है और अक्सर हालतों में नेक नियती से कोई बुरा कर्म भी किया जावे तो वह पुण्य और बद नियती के साथ कोई अच्छा कर्म भी किया जाए तो वह पाप शुमार में आ जाता है- तथापि साधारण रीति से पाप पुण्य की व्याख्या इस तरह पर है— [पाप] कुसंग में बैठना- नशों से बुद्धि को नष्ट करना- किसी काम को बुरा समझते हुए करना और अच्छा समझते हुए न करना- श्रेष्ठ गुण कर्म स्वभाव वाले विद्वान का निरादर करना- कुपात्र को दान देना- विशयों में अत्यन्त लंपट होना- समय को बे फ़ायदे खोना- निर्दोषी को दंड देना- असाधु को सहायता देनी अर्थात् बुरे आदमी की मदद करनी- चोरी- जुआ- छल- कपट- चिन्ता- भय- शंका- लज्जा- हट- पक्षपात- स्वार्थ- अभिमान- ईर्षा- राग- द्वेष- निंदा- आलस्य- आतुरता सुकुमारता- लल्लोचप्पो- असावधानता- झूठ बोलना- निष्प्रयोजन भाषण करना- कठोर या गंदा बचन बोलना- गंदी बातें सुनी या किताबों में पढ़नी- विशय या लालच की निगाह से देखना- अशौच अर्थात् शरीर और उसके सम्बन्धी पदार्थों (वस्त्र स्थान वगैरह को) मैला रखना- प्रमाण से अधिक वा न्यून खाना पीना- जागना सोना- हंसना- रोना-

गंदी हवा खानी- गंदा पानी बरतना- कच्ची जली हुई सड़ी हुई गिळानी कारक वस्तु को खाना- अपाहज- अनाथ- सुपात्र की सहायता न करना अंग हीन को हंनसा वगैरह पाप हैं – (पुएय) शारिरक व मांसिक वेगों का उचित बर्ताव . नित्य प्रती शौच अर्थात सफाई का धारण करना – स्नान व्यायाम– प्राणायाम सात्विक भोजन- आर्थात जो शरीर के आलस्य को दूर करने वाला और आयू को बढ़ाने वाला और बुद्धि को निर्मल करने वाला हो– टाइम टेबिल बनाकर सारे वक्त को सोच समझ कर और क़िफायत के साथ अच्छे कामें में लगाना- वीर्य्य की रक्षा करना वर्तमान संसारिक विद्या सीख कर मेहनत और दयानत दारी से खेती व्यापार नौकरी वगैरा किसी काम में मशगूल होकर धन कमाना और उसको अपने और दूसरों के कामों में खर्च करने, बिवाह करके उतम संतान पैदा करने– और उस का समय नुसार उत्तम शीक्षा देना. सब को अंतर में अपनी आत्मा की तरह पर यह समझते हुए बाहर में उनके गुण कर्म्म स्वभाव के अनुसार वर्ताव करना - सबकी भलाई में अपनी भलाई समझते हुए सामाजिक उन्नति के कामों में यथा शक्ति सहायता करना– [१] मन को सावधान रखना ॥ [२] इन्द्रियों को दमन करना ॥ और दोनों को अपने आधीन रखते हुए अच्छे कामों में लगाने. सत्य और मीठा बोलना. दया. न्याय. धर्य्य बल- पराक्रम– तेज; उत्साह आदि श्रेष्ट गुण कर्म्म स्वभाव धारण करना– अच्छे आदमियों से मेल रखना बुरे आदमियों से पृथक रहना - (१) धर्म्म और (२) नीति दोनों को साथ २ बर्तना बिद्वान और गुणवान का आदर करना, देशकाल के अनुसार सुपात्र को दान देना, अनाथ और अपाहज की सहायता करना इत्यादि पुएय है,

५– सारे मनुष्य चाहते रहते हैं कि दुख से बचे और सुख का भोगें परतु जो कोई जितना २ पाप आचरण को त्याग करता है और पुएय आचरण को ग्रहण करता है उतना२ ही दुःखों से बचकर सुखों को भोगता है. जब तक पाप आचरण त्याग करने की कोशिश नकी जावें तब तक

पुष्प [illegible] नहीं किये जा सके और [illegible] किये जावें [illegible] विकृत [illegible] होते हैं ठीक ठीक फल प्राप्त नहीं होता इस कारण हमारे मनुष्यों को चाहिये कि पहिले सच्चे चित और पूरे यत्न से [illegible] पाप [illegible] को हृदय रूपी भूमि से नष्ट करदें और आगे को [illegible] बीज को पैदा न होने दें [illegible] तरह से [illegible] चीज़ शुरू में थोड़ी और निर्बल होती है और [illegible] बलवान होती जाती है जैसे

मुख में छाले या पेट में दुर्गंध उत्पन्न हो और जल्दी दूर न की जावे तो वह जल्दी जल्दी बढ़ती और विषवत होती जाती है इसी तरह से पाप भी प्रथम में बहुत निर्बल होता है और सहज में ही दूर हो सक्ता है परंतु ऐसा न किया जावे तो उसकी जड़ें चारों तरफ़ फैल कर एक बड़े वृक्ष के समान या एक बड़े भारी अजगर के समान होते हैं ।

पापों से डर, उनसे घृणा करने और उनसे बचने का विचार रखने से पाप घटने लगते हैं और विचार शक्ति ऐसी बढ़ने लगती है जहां पाप का बीज हृदय में पड़ा उसी वक्त मालूम होजाता है और उसके उखाड़ने का यत्न प्रारंभ कर दिया जाता है, जैसे मकड़ी अपने जाले में चारों तरफ ऐसी तेज दृष्टि रखती है कि छोटी से छोटी मक्खी भी जिस समय किसी स्थान में फंसजाती है उसी समय मकड़ी को मालूम हो जाती है और वो उसको पकड़ लेती है इसी तरह से मनके भीतर के अंश में जिस समय छोटे से छोटा पाप भी मालूम होवे उसी समय दग्ध कर देना चाहिये ।

जब मनुष्य कोई कर्म शुभ। शुभ करता है तो उसका फल सुख या दुःख अवश्यमेव उसको भोगना पड़ता है, सिवाय उस फल भोगने के उस कर्म का [illegible] संस्कार [illegible] होकर हृदय में जम जाता है जब वैसे ही कर्म करने का समय [illegible] सामग्री एकत्रित होती है तब वो संस्कार वैसा ही कर्म करने को प्रेरणा करता है अगर वो पूरा संस्कार है तो जैसा वो उदय होवे [illegible] वैसा ही उसको [illegible] करने का यत्न करना चाहिये । यदि संस्कार अधिक बलवान हो तो अधिक यत्न करना [illegible] समय का उत्तम प्रकार विभाग करके [illegible]

पहिली सीढ़ी समझना चाहिये. विशेष आवश्यकता होय तो किसी ऐसे महात्मा से कि जिन्हों ने पाप को उत्तम रीति से जय कर लिया हो जो मनुष्य सच्चे हृदय के साथ यत्न कर रहे हों उनसे सहायता लेनी चाहिये।

पापाचरण छूटने के बाद पुण्य अपना पूरा फल देता है और सारे संसार के सुख प्राप्त होते हैं यह ज्ञान पैदा होता है केवल पुण्याचरण व संस्कार का सुख भोगना ही मनुष्य का उद्योग नहीं होना चाहिये परन्तु मनुष्य देह का मुख्य कर्तव्य है. कि पुरुषार्थ और परोपकार के द्वारे सारी शक्तियों को जगाते भये आत्मानन्द की प्राप्ति को जावे ऐसा ज्ञान पैदा होने से नये २ शुद्ध शूक्ष्म संस्कार पैदा होने शुरु होते हैं पाप पुन्य दोनों से वृत्ति उपराम होकर आत्मोन्नति में लगजाती हैं।

आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये अन्तः करण का शुद्ध होना जरूरी है। जिस तरह परमाणु हर जगह उड़ते रहते हैं। परन्तु केवल मात्र ऐसे स्थान में दिखलाई देते है जहां अंधेरे में सूर्य की किरण पड़े इसी तरह परमात्मा सब स्थान पर वर्तमान हैं परन्तु शुद्धान्तः करण रूपी कोठे में उनकी किरण दिखलाई देती है अन्तः करण की शुद्धि के लिये निष्काम कर्म, निष्काम नाम का जप, भक्ति योग अभ्यासादि साधन हैं जो दो रीति प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग में केवल अपने ऊपर भरोसा रखते भये लोक लाज और लोक बन्धन रहित होकर तितिक्षा और सन्तोष के साथ एकान्त सेवन मनोवृत्ति आदि साधन करने होते हैं और प्रवृत्ति मार्ग में परमात्मा पर भरोसा रख कर उनकी इच्छा ढूंढते भये उस पर चलना धर्म सम्बंधी पुस्तकों का पढ़ना पढ़ाना हर्ष शोक में व्याकुल न होना सत्य का व्रत धारण करना परोपकार के कामों में तैयार रहना साधन प्रवृति कहते हैं, यदि कोई मनुष्य पापाचरण की त्याग ना करे संसारिक सुखकी हर समय इच्छा रखे कोई साधन निवृत्त मार्ग का कोई साधन प्रवृत्ति मार्ग का बिना विचार से देखा देखी करता रहे। तो उसको संसारिक सुख मिलता है ना अन्तःकरण शुद्ध होता है न परमात्मा की प्राप्ति होती है। (शिव गुण आचार्य- वृन्दावन)

भजन

अन्त समय में हे जगदीश मुझ को । तेराही स्मरण हो तेराही ध्यान हो ॥

कफहीन हो कुक्ष में थिर वृत्ति मेरी। जबतक कि स्वासों में प्राण और अपान हो॥
योगी के सदृश लगाऊं समाधि। ओंकार अक्षर का वाच्यार्थ ज्ञान हो॥
न शोक हो न मोह हो न ममता किसी में। न पीड़ा हो तनको न कुछ दुःख भान हो॥
जीवात्मा का निवास हो वहां पर। जहां तेरे सुख पद का उत्तम स्थान हो॥

आरोग्यता

श्लोकः वृन्दात्

धर्मार्थ काम मोक्षाणामारोग्यं मूल मुत्तमम्।
रोगा स्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥

अर्थ—धर्म, धन, मनोरथ, मोक्ष; इन चारों पदार्थों का मूल कारण केवल आरोग्य ही है। और रोगसमूह उस आरोग्य और सुख तथा जीवन का भी नष्ट करने वाला है। इस वजह से मनुष्य को शरीर के स्वास्थ्य ही की रक्षा जिस तिस उपाय से करनी चाहिये॥ वाग्भट्ट सू॰ अ॰ २

नित्यं हिताहार विहार सेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥

अर्थ—मिज़ाज के मुवाफ़िक भोजन और बल के मुवाफ़िक विहार और विचार कर के काम करने वाला और विषय वासना में अत्यन्त नहीं फंसने वाला और यथाशक्ति दान जप अग्नि होत्रादिकों के करने वाला, संपूर्ण प्राणियों में एक सी बुद्धि रखने वाला, और सर्व काल सत्य के बोलने वाला, और दूसरे के अपराध को सहन करने वाला और वृद्धों में श्रद्धा रखने वाला मनुष्य हमेशा नीरोग रहता है॥

विदित हो कि सर्वकाल में ही नीरोगिता से ज्यादा कोई उत्तम पदार्थ नहीं समझा गया है। सो वह जीवमात्र को क्षण भर के लिये भी नहीं दूर करने योग्य प्यारी अरोगता वाली अवस्था से ही पशुओं की तरह बेतरतीब खान, पान और कई ही अवस्था में विहार वगैरह को तन मन धन से करने

वाले आज कल के महा मुनियों की कृपा से विदा होगई । नहीं मालूम कि वह दीन भिखारी अशरण्य होकर किसी पर्वत की गुफा में जा घुसी या सात समुद्र पार उतर गई । और जिस के जाने का फल यह है कि वन बड़भागी महानुभावों को जवान उम्र की प्राप्ति और वो ऐश बहार तो कहां ? किन्तु बचपन ही में बुज़ुर्गी का तमग़ा हासिल कर उक्त अवस्था का सामान इकट्ठा करने लगते हैं । जैसा कि कोई २ महाशय बिल्लौरी पत्थर के चश्मों को कलकत्ता मुम्बई से मंगाकर आंखों पर रखते हुवे तालियों के बैलों का अनुकरण करते हैं । कोई २ विशाल बुद्धि भस्मा और ख़िजाब से ही जवानी प्राप्त समझ मेंहदी वग़ैरह अशुद्ध वस्तुओं को मुख पर लेपन कर अरण्ड वग़ैरह के पत्तों को लपेट कर दिन में घूघू बन जाते हैं । कोई २ धनिक जन असल दांतों की शोभा को खो और कठिन वस्तुओं के ज़ायके को हाथ से गंवा कर पोपलेपन को छुपाते हुवे नये और अनूठे मुख के ज़ेवर को पहन कर दिन ही में ठाठ को दिखाते हैं । कोई २ कुंवर साहब अबलाओं के मारे हुये चन्द्रोदय, मालतीवसन्त तिलाकौलादी वग़ैरह की ख़्वाहिश से नामी ग्रामी ख़ानदानी वैद्यों को खोजते हैं ॥

अफ़सोस है ! कि यदि अपने ऋषियों के उपदेश किये हुवे दिनचर्या और ब्रह्मचर्या आदिकों की तरफ़ को कुछ भी ध्यान दिया जाता, या दिया जाये तो यक़ीन करते हैं कि मनुष्य शीघ्र ही रोगसमुद्र से अलहदा हो अपनी ज़िन्दगी को सुफल करसकता है ॥

दिनचर्या संक्षिप्त (भोजात्)

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्थाय स्वस्थो रक्षार्थमायुषः ।
तत्र सर्वा घशान्त्यर्थं स्मरेच्च मधुसूदनम् ॥
दध्या ज्यादर्शसिद्धार्थबिल्वगोरोचनास्रजाम् ।
दर्शनं स्पर्शनं कार्यं प्रबुद्धेन सुखावहम् ॥

अर्थ—तन्दुरुस्त मनुष्य को उचित है कि दो घड़ी के तड़के उठ कर अपनी उमर की वृद्धि और सम्पूर्ण पाप की शान्ति के लिये भगवान् का

ध्यान करे। और उठते ही समय दही. घृत, दर्पण. सफ़ेद सरसों. बेल का फल गोरोचन. फूलों की माला आदि यथासम्भव चीज़ों का दर्शन और स्पर्श करना सुखदायक है। ... को रखे कर और समशीतोष्ण जल से कुल्ला कर और खैर, बबूल, नीम, करञ्जवा अपामार्ग, आक, वग़ैरह किसी एक वृक्ष की सवा बिलस्त लम्बी और कन की उंगली के बराबर मोटी. ... कुटी हुई दतवन से मसूड़ों को बचा कर आहिस्ते २ दांतों के मैल को दूर करे। जैसा कि नीचे लिखा है ॥ वाग्भट्ट सू० अध्याय २

अर्कन्यग्रोधखदिरं करञ्जककुभादिकम्।

चर्वयेत् दन्तपवनं द्वादशाङ्गुलमापितम् ॥

कनिष्ठिकाग्रवत्स्थूलं ऋज्वग्रन्थि तथाऽव्रणम्।

और पश्चात् दांतो को शुद्ध और जड़ों को पुख़्ता करने वाले मंजन का मले।

सुश्रुतात्—

दन्तशोधनचूर्णेन दन्तदार्व्यकरेण च।

चूर्णेन तेजोवत्याश्च नित्यं दन्तान् विशोधयेत् ॥

अर्थ—दांतों को साफ़ और जड़ों को पुख़्ता करने वाले मंजन से, अथवा तेजोवती के चूर्ण से दांतों को नित्य साफ़ करे ॥

और शुरू बालपन से ही हर रोज़ सादा सुरमा और पांचवें आठवें दिन तीक्ष्ण अंजन डालता रहे जैसा कि चरक में नीचे लिखा है:-

चरक सू० अध्याय ५

सौवीरमञ्जनं नित्यं हितं चाक्ष्णोः प्रयोजयेत्।

पञ्चरात्रेऽष्टरात्रे वा स्रावणार्थं रसाञ्जनम् ॥

न हि नेत्रामयं तस्य विशेषात् श्लेष्मतो भयम्।

चरक सूत्र स्थान अ० ५

यथा हि कणकादीनां मलिनां विविधात्मनाम् ।
धौतानां निर्मला शुद्धिस्तैलचैलकचादिभिः ॥
एवं नेत्रेषु मर्त्यानामञ्जनाश्च्योत नादिभिः ।
दृष्टिर्निराकुला भाति निर्मले नभसीन्दुवत् ॥
दृष्टेः कण्डूमलहरं दाहक्लेदरुजापहम् ।
अक्ष्णोरूपा वहश्चैव सहते मारुता तपौ ॥
लोचने भवतस्तेन मनोज्ञे सूक्ष्म दर्शने ।
नेत्र रोगा न जायन्ते तस्मादञ्जन माचरेत् ॥

अर्थ– जैसे मैली हुई हीरा, पन्ना, माणिक, नीलम वग़ैरह रत्नों की कनी तैल तथा बाल कपड़ा आदिकों से शुद्ध होकर चमकने लगती है, तैसे ही दृष्टि भी अंजन वग़ैरह के डालने से साफ़ होकर निर्मल आकाश में चन्द्रमा की तरह प्रकाशमान रहती है । और अञ्जन डालने से आंखों का मैल व जलन व चिपचिपाहट दर्द वग़ैरह दूर होते हैं और आंखों में हवा व धूप सहन करने की शक्ति होती है । आंखें दूर वा बारीक वस्तु देखने में समर्थ और खूब सूरत रहती है और कोई रोग नहीं होता इस लिये अञ्जन डालना चाहिये ।

और कुल शरीर में तैल की मालिश करेः–

वाग्भट्ट सू० अध्याय २

अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जरा श्रमवातहा ।
दृष्टिप्रसादपुष्टयायुः स्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत् ॥
शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ॥

अर्थ– तैल को नित्य मलने से बुढापा और हारपन और वायु के रोग

दृढ़ हो रहते हैं. आंखें खुश और [illegible] और बुद्धि उम्दा तथा [illegible] रहती हैं नींद खूब आती है. जिल्द खुश सूरत व पुष्ट होती है। ये मालिश शिर. कान पैरों पर ज्यादा करनी चाहिये।

तथा चरक सूत्र स्थान अ० ५

अभ्यङ्गः शीतलो मूर्ध्नि सकलेन्द्रियतर्पकः।
दृष्टिपुष्टिकरो हन्ति शिरोभूमिगतान् गदान् ॥१॥
केशानां बहुतां दार्ढ्यं मृदुतां दीर्घतां तथा।
कृष्णतां कुरुते प्रज्ञां शिरसः पूर्णतामपि ॥ २ ॥

अर्थ— चरक लिखते हैं, कि ठण्डे तेल को शिर पर मलने से सम्पूर्ण इन्द्रियां प्रसन्न रहती हैं। आखों की ज्योति तेज़ रहती है, बाल काले चिकने कोमल रहते हैं. ऊवटा वगैरह कोई रोग नहीं होता है. बुद्धि [illegible] रहती है शिर पुष्ट रहता है ॥

चरक सूत्र स्थान अ० ५

न कर्णरोगा न मलं न च मन्याहनुग्रहः।
नोच्चै श्रुतिर्न बाधिर्यं स्यान्नित्यं कर्णपूरणात् ॥

अर्थ— ऊंचा सुनना और बहरापन तथा कानों का मैल, गर्दन और ठोड़ी की अकड़. कान में तेल डालने से दूर हो जाती है ॥

● और बल को आधा रखकर कसरत भी किया करे:—

वाग्भट्ट सू० अध्याय २

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्ताग्निं मेदसःक्षयम्।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुप जायते ॥

अर्थ— कसरत के करने से शरीर हलका और काम करने में समर्थ

रहता [illegible] तेज होती है; मोटापन दूर होता है; अङ्ग २ विभाग बोठे और पुष्ट होते हैं ॥

भावमिश्रः

व्यायामदृढगात्रस्य व्याधिर्नास्ति कदाचन ।
विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते ॥
भवन्ति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतादयः ।
न चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति ॥
न चास्ति सदृशस्तेन किञ्चित् स्थौल्यापकर्षणम् ।
स सदा गुणमाधत्ते बलिनां स्निग्धभोजिनाम् ॥

अर्थ- कसरत से गठे हुवे शरीर को व्याधि नहीं सताती है। विरुद्धादि भोजन जैसा कि शहद और घृत कुछ भी उपद्रव नहीं करता, कसरत करने से शरीर का ढीलापन दूर हो जाता है। कुसरत करने वालों को बुढ़ापा गिरफ़तार नहीं करता; कसरत से ज्यादा मोटों को पतला करने का नुसखा दूसरा नहीं मिलता; ताक़तवर और दूध जलेबियां खाने वाले कसरत का पूरा फ़ायदा उठा सक्ते हैं। और बाद कसरत करने के गरम जल से स्नान करे। वाग्भट्ट सु० अ० २

उष्णाम्बुनाधः कायस्य परिषेको बलावहः ।
तेनैव चोत्तमाङ्गस्य बलहृत्केशचक्षुषाम् ॥

अर्थ- गर्दन के नीचे भाग में गरम जल का स्नान ताक़त को देता है. गर्दन से ऊपर के भाग में आंखों और बालों को कमज़ोर करता है। और बाद में केशर कस्तूरी. कपूर आदि युक्त चन्दन को अङ्गों पर लेपन करे। और सुगन्धित तेल व वस्त्र व अलङ्कार मणि वगैरह को धारण करे। और यथाशक्ति दान जप अग्नि होत्रादिकों को करे. माता पिता गुरुजन का दर्शन करे और [illegible] भोजनादि से सन्तुष्ट कर एकान्त स्थान में- बैठे. चकोर. तोता, मैना.

बदर, मोर आदिकों से तैय्यार अन्न की परीक्षा करे, कि विष मिला तो नहीं है। परीक्षा यथा सुश्रुत कल्प० अ० १

नृपभक्ताद्बलिं न्यस्तं सविषं भक्षयन्ति ये। तत्रैव ते विनश्यन्ति मक्षिकावायसादयः॥ हुतभुक्तेन चान्नेन भृशं चटचटायते। मयूरकण्ठप्रतिमो जायते चापि दुःसहः॥ भिन्नार्चिस्तीक्ष्णधूमश्च नचिराच्चोप शाम्यति। चकोरस्याक्षिवैराग्यं जायते क्षिप्रमेव हि॥ कोकिलस्वरवैकृत्यं क्रौञ्चस्तु मदमृच्छति, हृष्येन्मयूर उद्विग्नः क्रोशतः शुकशारिके॥ हंसः क्ष्वेडति चात्यर्थं भृङ्गराजस्तु कूजति। पृषतो विसृजत्यश्रु विष्ठां मुञ्चति मर्कटः॥ सन्निकृष्टांस्ततः कुर्यात् राज्ञस्तान् मृगपक्षिणः। वेश्मनोथविभूषार्थं रक्षार्थं चात्मनः सदा॥

अर्थ—राजा के दिये हुवे ज़हर मिले अन्न की बलि को खा कर कौवा मक्खी चींटी वग़ैरह जीव खाते ही मर जाते हैं। उस अन्न को अग्नि में डालने से चड़चड़ाने लगता है। लपटें मोर की गर्दन सरीखी नीली हरी तथा दुःसह और फटी फटी उठा करती हैं, धुंवां तेज़ और बहुत काल तक उठा करता है। और चकोर की आंखें विषैले अन्न को देख कर सुर्ख़ हो जाती हैं। कोयल की आवाज ख़राब हो जाती है क्रौंच आनन्द होता है। मोर आनन्द होकर जल्दी २ बोलता है। तोता मैना डर कर रोने लगते हैं और दीन शब्दों को बोलने लगते हैं। हंस और भौंरे शब्द करने लगते हैं। और पृषत् हरिण आंसू डालने लगता है। बंदर पख़ाने फिर देता है इस लिये बड़े आदमियों को पूर्वोक्त जीव भी मकान की ख़ूबसूरती और अपनी रक्षा के लिये पास रखने चाहियें॥ चरक चिकित्सास्थान अ० २३

पानान्नयो सविषयोः शिरसो गन्धेन रुग्घृदि च मूर्च्छा।

स्पर्शेन पाणिशोथः सुप्त्यंगुलिदाहनखभेदाः ॥ मुखताल्वो ष्ठाश्चिमचिमा जिव्हाशूलवती जड़ा विवर्णा स्यात् । द्विजहर्षहनुस्तम्भास्यदाहलालागलविकाराः ॥

अर्थ—विषैले अन्न और जल के सूंघने से शिर छाती में तकलीफ़ होती है और छूने से सूजन और सुन्न हो जाता है उंगलियों में जलन और नाखुनों में खराबी होती है । मुख तालुवा होठ में चिम चिम सरीखी पीड़ा होती है जीभ रंग बेरंग की हो कर ऐंठ जाती है । और दुःखा करती है । दान्त रसीले हो जाते हैं । गर्दन अकड़ जाती है । शरीर में दाह, मुख से राल गिरने लगती है । गला बैठ जाता है । इस प्रकार परीक्षाओं से शुद्ध समझ हुये अन्न को कृष्णार्पण कर दिल को हर तरफ से रोक और खुश हो पहिले मीठे और बीच में खट्टे और नमकीन, अन्त में चर्परे और कड़ुवे पदार्थों का भोजन करे और सब के अन्त में दूध का पान करे । और बीच २ में थोड़ा २ जल भी कई बार करके पीवे ॥

तद्यथा सुश्रुत सू० अ०४६

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेन्नमनम्बुपानाच्च स एव दोषः ।
तस्मान्नरः स्वाग्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिवेदभूरि ॥

अर्थ—ज्यादा और कम और बिल कुल ही जल नहीं पीने से अन्न का पाक ठीक नहीं होता इस लिये मनुष्य को अग्नि की वृद्धि के लिये भोजन के बीच में थोड़ा २ जल कई बार पीना चाहिये और भोजन के अन्त में नीचे लिखे श्लोक को पढ़े—

अगस्तिराग्निर्वडवानलश्च सूर्याश्विनौ कुम्भश्रुतिश्च भीमः
भुक्तं ममान्नंजरयत्वशेषम् भवत्वरोगो ममचास्तु देहः ॥

अर्थ—अगस्त, अग्नि, बड़वानल, सूर्य, अश्विनी कुमार, कुम्भकरण और भीमसेन यह सब मेरे भुक्त अन्न का अच्छे प्रकार पाक करो, जिस से मेरा

देह नीरोग रहे । और कुल्ला करके दोनों हाथों को मल कर आंखों से लगाया हुवा पानी जल्द ही आंखों के धुन्ध को दूर करता है ॥

मतिमुकुरात्—

भुक्त्वा पाणितलं स्पृष्ट्वा नेत्रयोर्यदि दीयते ।
अचिरेणैव तद्वारि तिमिराणि व्यपोहति ॥

और पश्चात् कपूर, लवङ्ग, केशर, कस्तूरी युक्त पके तांबूल को खावे ॥ तथा विहार शतके—

रतौ सुप्तोत्थिते स्नाते भुक्ते वान्ते च सङ्गरे ।
सभायां विदुषां राज्ञां कुर्यात्ताम्बूलभक्षणम् ॥

स्त्री प्रसङ्ग में तथा सोने के बाद और स्नान भोजन और वमन के अन्त में और युद्ध, राजदर्बार तथा विद्वानों की सभा में पान का खाना चाहिये ॥

पान के गुण (अन्योक्ति)

ताम्बूलं कटुतिक्तमुष्णमधुरं क्षारं कषायान्वितम्
वातघ्नं कृमिनाशनं हृतजरं नीरोगताकारणम् ॥
वक्त्रस्याभरणं विशुद्धिकरणं कामाग्निसंदीपनम्
ताम्बूलस्य सखे । त्रयोदशगुणाः स्वर्गेप्यमी दुर्लभाः

अर्थ—पान, चर्चरा, कटुवा, मीठा, खारा, बकबका और गरम है । और वायु तथा कृमि को नाश करता है । बुढ़ापे के रोग तथा आगामी रोगों को निवारण करने वाला है । मुखारविन्द को खूब सुरत और शुद्ध करने वाला है, और कामदेव को पैदा करता है । हे मित्र ! यह तेरह गुण पान के स्वर्ग में भी दुर्लभ हैं ॥ और बाद में खड़ाओं पर चढ़ कर सौ पैरे इधर उधर को घूम कर बाम्मी करवट से उत्तम चारपाई पर आराम करै । यथा वैद्यविनोदे—

पादुकारोहणं कुर्य्यात् पूर्वं भोजनतः परम् ।
पादरोगहरं वृष्यं चक्षुष्यं चायुपोहितम् ॥

अर्थ–भोजन के आदि और अन्त में खड़ाओं पर चढ़ कर घूमना पैरों के रोगों को दूर करता है और शरीर तथा आंखों को ताक़त देता है ॥

भोजनान्तेशतपदं गच्छेत् वामपार्श्वेन संविशेत् ।
शब्दरूपरसस्पर्शान् गन्धांश्च मनसः प्रियान् ।
भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति ॥

अर्थ–भोजन के बाद एक सौ क़दम इधर उधर घूमने और बामी करवट से लेटने और सुगन्धित वस्तुओं के सूंघने और सुन्दर वीणादिकों के सुनने और उत्तम स्वरूपों को देखने और मन्द, सुगन्द, शीतल, हवा के लगने और उत्तम ज़ायकेदार वस्तुवों के खाने से अन्न ठीक तरह रहकर पच जाता है। यह हाल हमने बहुत थोड़ा सा लिखा है जो वैद्यक शास्त्र के रसिक और गुण ग्राही जन एक सौ १०० भी हमारे पास सूचना देंगे तो हम एक पुस्तक में ऋतु चर्य्या, दिनचर्य्या, रात्रिचर्य्या, आयुश्चर्य्या, गर्भगाधान, ब्रह्मचर्य्य, आदि कुल हाल विस्तार पूर्वक लिख कर हर एक मास में नये २ देसके हैं ॥

(वैद्यराज पंडित गणपति प्रसाद शर्म्मा वैद्यभूषणोपाधिक कलकत्ता) शहर मेरठ

अस्तुति

(१) सुनु सर्वज्ञ कृपा सुख सिन्धो। दीन दयाकर आरत बन्धो
(२) अशरणशरण बिरदसम्भारी। मोहि जानितजहुभक्तहितकारी
(३) मोरे तुमप्रभु गुरुपित माता। जाउँ कहाँ तजि पद जल जाता
(४) बालक ज्ञान बुद्धी बलहीना। राखहु शरण जानि जन दीना

। व्यायाम ।

यद्यपि मनुष्य के शरीर में अनेक रोगादिक भरे हैं जिन को जानना बहुत कठिन है तथापि आरोग्यता के नियमों पर चलने से बहुत से रोगों से बचाव होजाता है और निरोगता बनी रखने के लिये व्यायाम बहुत ही आवश्यक है ॥

व्यायाम वह दिव्य साधन है जिस के प्रति दिन करने से मनुष्य बहुत फुर्ती वाला, निरोग और प्रफुल्लित रहता है और पूर्ण आयु प्राप्त करता है और यदि कोई रोग शरीर में हो और वह रोग बहुत पुराना और असाध्य भ हो गया हो तो इस साधन को लगातार और साधारण रीति से करने पर उस रोग का बल घटकर शनै २ आरोग्यता होनी आरम्भ हो जाती है और जब यह साधन करना आरम्भ कर दिया जाता है तो बहुधा कोई नया रोग नहीं होने पाता कदाचित् कोई विशेष अमर्याद न की हो !

व्यायाम एक स्वाभाविक साधन है– बच्चे जब बहुत ही छोटे होते हैं तो अपने हाथ पांव इत्यादि शरीर के अवयवों को सदा हिलाते रहते हैं और जब थोड़े से बड़े होते हैं तो निरंतर दौड़ने भागने, उछलने, कूदने के खेलों में उद्योग करते रहते हैं और उन खेलों में प्रसन्न होते हैं और इस रीति से उन का सारा शरीर भले प्रकार पोषण होता रहता है और वे सदा फुरती वाले और प्रफुल्लित रहते हैं और जो बच्चा अभाग्य वश वे खेल नहीं खेलने पाता तो वह जन्म भर रोगी, उदास और दुर्बल रहता है ॥

केवल मनुष्य को ही नहीं परन्तु दैवने प्राणी मात्र को व्यायाम करना सिखलाया है और वे करते रहते हैं यहां तक कि जो पक्षी और पशु इत्यादि मनुष्य के फंदे में फंस जाते हैं वे बंधन में होने पर भी अपना बहुत सा समय व्यायाम में लगाते हैं जैसा कि चिड़िया–घर और अजाइब– घर में यह प्रति दिन दृष्टि गोचर होता है कि सिंह और रीछ मैना और तोते इत्यादि पशु और पक्षी अपने २ पिंजरों में बहुत सा समय चलने, फिरने, फुदकने और फद-

फड़ाने में व्यतीत करते हैं इन कारणों से मनुष्य को भी व्यायाम करना हर तरह से आवश्यक और उचित है ॥

व्यायाम का मूल तत्व यह है कि शरीर को अच्छी तरह परिश्रम होकर किंचित पसीना आजावे. अत एव चलना. दौड़ना. छलांग मारना. कुश्ती लड़ना. वृक्ष पर चढ़ना. जल में तैरना. डंड पेलना. मुद्गर हिलाना. बोझ उठाना. वा दूर फेंकना. फरी. गदका. बनेठी इत्यादि लकड़ी के खेल. चांद-मारी करना. तीर लगाना. घोड़ा इत्यादि पशुओं की सवारी करना. तथा कई प्रकार के अंगरेजी खेल—क्रिकेट. फुटबाल. लान्टेनिस इत्यादि सब व्यायाम अर्थात् शरीर के साधन गिनेजाते हैं ॥

इन में से जिन साधनों में मन लगे और जो रहन – गत वा अपने व्यापार वा वृत्ति के अनुकूल हों उन्हीं को करना चाहिये व्यायाम को इच्छा नुसार नहीं करना चाहिये परन्तु इसको अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ कर प्रति दिन करना उचित है हां इतना विचार अवश्य रहे कि जितने जुदी २ तरह के और शरीर को कम थकाने- वाले साधन होंगे उतने ही अधिक लाभ दायक होंगे ॥

स्त्रियों के साधन पुरुषों के साधनों से और भी हलके होना चाहियें और रजस्वला धर्म वा गर्भ के समय तो उन हलके साधनों में से भी केवल चुने हुए थोड़े से साधन बहुत सावचेती और पथ्य के साथ करने चाहियें ऐसी दशाओं में न करने से इतनी हानि नहीं होती जितनी कि बिना विचारे से व्यायाम करने में होती है और उस में भयानक फल मिलने का डर है ॥

उत्तम समय व्यायाम का स्नान के पश्चात् और भोजन से पहिले है यदि कोई दूसरा समय नियत करने की आवश्यकता हो तो शंकाओं से रहित होकर और भोजन के पूरे पचन हो जाने के पश्चात् व्यायाम करना उचित है साधन करने के समय लंगोट अवश्य ही कसना चाहिये और उत्तम तो यहहै कि शेष सब शरीर नग्न रहे अथवा बहुत थोड़े वस्त्र पहिने जावें ॥

खुले मैदान में जहां निर्मल और स्वच्छ हवा आती हो, व्यायाम करना बहुत लाभ दायक है परन्तु ठण्डी वा प्रचंड पवन से बचना उचित है ॥

जैसे २ अवस्था ढलती जावे वैसे ही व्यायाम के साधन हलके और कमी के साथ होने चाहियें ॥

मनु आदि ऋषियों का वचन है कि हर एक मनुष्य को स्त्री हो वा पुरुष राजा हो वा रंक व्यायाम नित्य प्रति अवश्य करना चाहिये जो कोई उस रोग नाशक साधन को नहीं करते हैं उनको भोजन विष के समान लगता है आदि में बहुत थोड़ा व्यायाम करना चाहिये और सनै २ अपने बल, पराक्रम के अनुसार बढाना चाहिये इस रीत से फुरती और चालाकी धीरे २ आजाती है ॥

यदि व्यायाम के साधनों को अपने आप करके दिखलाने और पूर्ण रीति से मुख से वर्णन करने से ठीक २ और सुगमता से समझना संभव है तथापि अधिक समझ वाले और व्यायाम सीखने के अभिलाषी पुरुषों के हितार्थ थोड़े से आवश्यक साधनों का वर्णन लिखना उचित समझा गया ॥

इन साधनों को हर मनुष्य अपनी शक्ति के अनुसार करे मुख्य परिमाण यह है कि शरीर में किंचित् पसीना आजावे किन्तु विशेष थकान कदापि नहीं होनी चाहिये नहीं तो लाभ के बदले हानि होने का भय है ॥

यदि धार्मिक पुरुषों और विशेष करके साधुओं को काम के वेग को रोकने की आवश्यकता हो तो उनको छाती और बाहुओं के साधनों के द्वारा शरीर को भले प्रकार थकाना चाहिये ॥

इन साधनों में यह भी एक गुण है कि बिना किसी सहारे अर्थात् एपैरेटस आदि के हर मनुष्य हर स्थान में सुगमता से कर सक्ता है ॥

यदि बूढ़ा आदमी भी अपने शरीर बल के अनुसार परिमाण के साथ व्यायाम के साधन प्रारंभ करेगा तो कुछ काल में उसका शरीर भी तरुण पुरुषों के समान फुर्ती वाला हो जाना संभव है ॥

यद्यपि एक २ साधन की संख्या सात २ रक्खी गई है तथापि व्यायाम करने वाले अपने बल, अवकाश और रहनगत के अनुसार संख्या नियत कर सक्ते हैं ॥

जिनको बैठने का वा सोच विचार का काम विशेष करना पड़े उनको उचित है कि अपने काम के बीच में अर्थात् हर दो २ तीन २ घंटों के काम के पीछे दो मिनट के वास्ते छाती और बाहुओं के साधन अवश्य करलिया करें और हर साधन के बीच में थोड़े से पांवडे टहल लिया करें ॥

साधन करने के समय जहां तक होसके दम रोकने का उपाय किया जावे और नहीं तो स्वास मुख बंद करके नाक के राह निकालना चाहिये ॥

यदि ये साधन लगातार बहुत काल तक होते हैं तो सारा शरीर सुडोल होजाना संभव है ॥

ये साधन नीचे लिखे अनुसार हैं ॥

१ पांव और टांगों के साधन ।

(क) पांव की उंगलियों के सहारे खड़े होकर और बदन को तना हुआ रखकर और बाहुओं को ऊंचा करके एक स्थान में खड़े हुए कमसे कम सात बार उछलना ॥

(ख) ऊपर लिखे अनुसार एक स्थानमें खड़े रहने के बदले सात पांवडे तक उछल ते हुए चल कर उसी रीतिसे पीछे आना ॥

(ग) पांव की उंगलियों के बल खड़े होकर अकड़ते हुए सात पांवड़े चलना और पीछे आना ॥

(घ) सारे शरीर को तना हुआ रखकर और टांगों को थोड़ासा झुकाकर पहले दाहनी टांग को एक पांवडा दूर रखना और फिर बांई टांग को उसी स्थान में लेजाना और दहनी टांग को अपने पहले स्थान पर ले आना इसी रीति से उछल २ कर सात बार करना । कहते हैं कि महाराज श्री राम चन्द्र जी के दूत अंगद ने लंका पति रावण के दरीखाने में अपनी टांग पृथ्वी पर टेक कर कहा था कि कोई दर्बारी योधा उस की टांग को उठावे बहुधा पुरुषों ने कोशिश की परंतु टांग हिल भी न सकी अंगद ऊपर लिखा साधन प्रतिदिन एक सो बार किया करता था ॥

(ङ) दोनों टांगों को चौड़ा करके और हाथों को ऊंचा करके और दोनों को मिलाकर उछलना फिर टांगों को मिलाकर और हाथों को चौड़ा करके उछलना अर्थात् जब टांगे चौड़ी हों तो हाथ मिलजावें और जब हाथ फैलें तो टांगे मिलजावें–सातबार–

(च) एक टांग से पन्द्रा पावडे चलना और दूसरी टांग से उतना ही दूर उलटे पांव पीछे आना ॥

(छ) बदन को तना हुवा रखकर और घुटने पर हाथ रखकर सात बार ऊठक बैठक करना यह साधन बहुधा बच्चों के लिये अच्छा है ॥

(ज) तने हुए खड़े होकर पहले एक टांग को पीछे दूसरी टांग को झटका देना–सात बार ॥

२ नाभी और कमर के साधन ।

(क) दोनों हाथों को कमर के दाएं बाएं रखकर और सारे शरीर को तना हुवा रखके कमर से ऊपर २ के शरीर को एक ओर कमर तक झुकाना और फिर उसी रीती से दूसरी ओर–सात बार ॥

(ख) ऊपर लिखी रीति से खड़े होकर कमर से ऊपर के सारे शरीर को अर्ध वृत्त वा चक्र के अनुसार जल्दी २ सात बार घुमाना ॥

(ग) शरीर को तना हुवा रखकर और दोनों बाहुओं को ऊंचा करके और हाथों को मिलाकर खड़ा होना और फिर आगे को झुककर अपने पांव के अंगूठे को छूना परन्तु घुटने मुड़ने न चाहियें–सात बार ॥

(घ) एड़ियों को ऊंचा रखकर उकडूं बैठकर उछलते हुए सात पांवडे सामने की ओर चलकर उसी तरह उलटा पीछे आना ॥

३ पेट और छाती के साधन ।

(क) खड़े होकर और शरीर को तना हुवा रखकर दोनों हाथों को ऊंचा

करना और छाती से ऊपर के शरीर को पहिले दाहिनी ओर फिर बांई ओर को सात बार झुकाना ॥

(ख) ऊपर लिखी रीती अनुसार सात बार पीछे की ओर झुकना । इस साधन से पेट का बढ़ना और तिल्ली की बीमारी नहीं होती ॥

(ग) सात बार डंड पेलना अर्थात् दोनों हाथों को पृथ्वी पर धरकर और पावों को फैलाकर और चौपग्गा होकर एक बार दाहिनी ओर और दूसरी बार बांई ओर बल करके डंड निकालना ।

(घ) भींत से दो पांवड़े दूर खड़े होकर दहिने और बांए हाथ को बारी बारी भींत पर रखकर सारे शरीर को बल से सात बार झुकाना ॥

(ङ) अकड़े हुए खड़े होकर दोनों बाहुओं को थोड़ासा फैलाए हुए रखना और मूठियां बंद करके और कोहनियां मोड़कर दोनों हाथोंको छाती के पास लाना और झटके के साथ दोनों बाहुओं को फैलाना परन्तु कोहनियां मुड़ी हुई रहें- सात बार- यह साधन कफ इत्यादि बीमारियों को रोकने वाला है ॥

(च) बदन को तना हुवा रखकर और बाहुओं को लंबा करके दोनों हथेलियों को मिलाना और फिर जहांतक होसके दोनों बाहुओं को फैलाना सात बार ॥

४ बाहुओं के साधन ।

(क) सारे शरीर को सीधा रखकर खड़े होना और बाहुओं को तना हुआ रखकर कोहनी के पास से नीचे की ओर झुका देना—सात बार ॥

(ख) सीधे खड़े होकर और दोनों कोहनियों को एक साथ मोड़कर हाथों को कंधे के पास लाना और फिर झटका देकर दोनों हाथों को एक साथ फैलाना और फिर एक दम पीछे लेजाना सात बार ॥

(ग) ऊपर लिखी रीति अनुसार हाथों को झटका देकर ऊपर की ओर एक साथ फैलाकर फिर एक दम कंधों के पास पीछे लेजाना. सात बार ॥

(घ) पहले एक बाहु को बल से पन्द्रा बार घुमाना और फिर दूसरे को ॥

(ङ) दोनों बाहुओं को एक साथ चक्कर की भांति बहुत बल से परन्तु यत्न के साथ तीस बार घुमाना ॥

५ गरदन और कंठ के साधन ।

(क) खड़े हुए और सारे शारीर को तना हुआ रखकर पहिले दाहिने कंधे की ओर, फिर बांए कंधे की ओर, सात बार गर्दन को झुकाना ॥

(ख) खड़े हुए सारे शरीर को तना हुआ रखकर और मस्तक को थोड़ा सा नीचा करके गर्दन को पहिले दाहिनी ओर फिर बांई ओर झुकाकर और फिर सिर को ऊंचा करके गर्दन तक पीछे को झुकाना—सात बार ॥

६ मस्तक के साधन ।

(क) किसी दीवार की ओर पीठ करके दीवार से दो पांवड़े दूर खड़े होना और दोनों हाथों को कमर पर रखकर जितना हो सके सिर को नीचे अर्थात् दीवार की ओर झुकाना और फिर हाथों को कमर से उठाकर पीछे की ओर दीवार से लगाकर सिर को पीछे लटकाना और सारे बदन को साधकर हाथों को दीवार से अलग करके सिर को कई पल तक लटकाए हुए रखना- दीवार ॥

(ख) हाथों को भूमि का सहारा और पांवों को दीवार का सहारा देकर एक २ मिनट तक उलटे लटके रहना ॥

७ सारे शरीर के साधन ॥

(क) किसी ऊंची वस्तु खूंटी वा वृक्ष की शाखा इत्यादि को पकड़ कर आधे २ मिनट तक चार बार लटकना ॥

(ख) पृथ्वी पर लेटकर शरीर को तना हुआ रखकर और दोनों टांगों और बाहुओं को जहांतक होसके चौड़ा फैलाकर एक मिनट तक लेटे रहना ॥

(ग) ऊपर लिखे अनुसार दोनों टांगों को मिलाकर पांवों की ओर और

दोनों बाहुओं को मिलाकर सिर की तरफ जितना लंबा किया जा सके सारे बदन को लंबा करना एक मिनट तक ।

(घ) औंधा लेटकर और दोनों हाथों को पीठ की ओर कमर के पास ले जाकर मिलाना और फिर छाती के बल पहिले दाहिनी ओर, फिर बांई ओर सात बार करवट लेना ॥

(ङ) शरीर को साधारण तौर पर रखकर दो मिनट तक सीधे लेटे रहना ॥

ये सारे साधन आध घंटे में और अभ्यास होजाने से उस से भी कम समय में होसक्ते हैं यदि इस थोड़े से समय को ऐसे आवश्यक और उपयोगी काम में नहीं लगाया जावेगा तो बीमारी का, दुःख उठाने और रुपया खर्च करने के उपरांत, इस से कितना ही अधिक समय देना पड़ेगा ॥

(शिवगण आचार्य)

भजन

अब मैं आन पड़ा दर तोरे । देओ दरस आओ प्रभू मोरे ॥

प्रेम के नैयन से देखूं तोहे ।
तुम बिन प्रभू व्याकुलता मोहे ॥ (१)
तूही बता अब मोरा को है ।
मोहे न सूझ पड़े बिन तोरे ॥ (२)

अब मैं० ॥

हे प्रभू अब ना बार लगाओ ।
मुझ दुर्बल को कहा पत्याओ ॥ (३)
निज विश्वासी दास बनाओ ।
कब लग मांगूं सांझ सवेरे ॥ (४)

अब मैं० ॥

परम पुरुषार्थ ।

इस संसार में ऐसा कोई मनुष्य नहीं है जो किसी न किसी प्रकारके सुख पाने की इच्छा न करता हो। बहुधा धन इकट्ठा करने की इच्छा मनुष्य मात्र में पाई जाती है। जो विद्योपार्जन करते हैं उन में बहुत से ऐसे हैं जो कि वही विद्या पढ़ने में परिश्रम करते हैं जिस के पढ़ने के पश्चात् धन का संचय हो। ऐसे कई मनुष्य तो अपनी जीविका निर्वाहार्थ व्यवसाय करते हैं परन्तु बहुतेरे ऐसे२ धनाढ्य मनुष्य हैं जिन को खाने पीने की कुछ चिन्ता नहीं परन्तु संचित धन में रुपया सूद पर देकर और भी धन संचय करने की अभिलाषा रखते हैं। कई ऐसे हैं जो कि धार्म्मिक हैं और जिनकी प्रवृत्ति धर्म जनित स्वर्ग के प्राप्त करने में रहती है। कई एकों को और भी कामना लगी रहती हैं और इन सब में से ऐसे बिरले ही पुरुष होते हैं जो सच्चे हृदय से मोक्ष पाने की इच्छा करते और उसके प्राप्त करने में बहुधा दुःख उठाते हैं। इस से यह सिद्धान्त निकलता है कि इस जगत में धर्म्म, अर्थ, काम, और मोक्ष, इन चार में से मनुष्य किसी एक या दो या सब के पाने की इच्छा करता है। "धर्म्मार्थ काम मोक्षानां एकोऽपि न विद्यते। अजागल स्तनस्येव तस्य जन्मनिरर्थकम्" और जो मनुष्य धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन में से किसी एक के भी प्राप्त करने में प्रयत्न नहीं करता उस का जन्म बकरी के गले के स्तनों के समान निरर्थक है। इन चार में से जो एक भी प्राप्त नहीं कर सकता वही व्याकुल रहता है। जितने दिन इन का अभाव मनुष्य से दूर नहीं होता उतने दिन उस को किसी भी बात से संतोष नहीं होता, स्थिरता नहीं होती, सुख व शान्ति कुछ भी नहीं पाता, उस के चित्त में इन चार पदार्थों के प्राप्त करने की इच्छा बनी ही रहती है। सुख, प्रशंसा, विद्या, प्रभुता इत्यादि इन सब का समावेश उन चारों में हो जाता है अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पदार्थों को ही 'पुरुषार्थ' कहते हैं परन्तु ये चारों पदार्थ जीवप्रार्थी होने पर भी परम पुरुषार्थ नहीं कहे जा सकते। केवल इन में से अन्तिम एक मोक्ष ही को परम पुरुषार्थ कहते हैं।

पुरुष इन सब पदार्थों के पाने की इच्छा सुख पाने के लिये करते हैं, जिस में सुख नहीं, सुख पाने की आशा नहीं, उस में इच्छा भी नहीं रहती। जीवको सुख पाने की इच्छा लगी रहती है और धर्म्मादि से जीव अपने प्रयोजन को सिद्ध करता है इसी से इन को पुरुषार्थ कहते हैं। वेदों में भी इसी प्रकार की प्रार्थना है "सुखं मे भूयात् दुःखं मा भूत्,, अर्थात् हे परमेश्वर मैं सर्वदा सुखी रहूं मुझे दुःख कभी न हो जीव सर्वोत्कृष्ट सुख पाने की इच्छा करता है और सर्वोत्कृष्ट तथा निरातिशय सुख मनुष्य को न धर्म से, न अर्थ से और न काम से मिलता इसी से इन को पुरुषार्थ कहते हैं। जीव को निरातिशय सुख मोक्ष ही से प्राप्त होता है इसी कारण मोक्ष "परम पुरुषार्थ,, कहाता है। शास्त्रों में कहा है कि, "चतुर्विधि पुरुषार्थेषु मोक्ष एव परम पुरुषार्थः" अर्थात् चार प्रकार के पुरुषार्थों में से मोक्ष ही को परम पुरुषार्थ कहते हैं। धर्म्म, अर्थ और काम से थोड़े ही काल के लिये सुख मिलता है फिर कर्मों के अनुसार दुःखसागर में गिरना पड़ता है।

* * *

इन सब में बढ़ कर मोक्ष ही है क्योंकि स्वर्ग की इच्छा वाला जीव इसी संसार में देहधारी होकर सुख का भोग करता है परन्तु जिन पदार्थों की वाञ्छा करता है वे उस को प्राप्त नहीं होते। वह देहधारी होकर इष्ट पदार्थों को नहीं देख सक्ता। "अतएवचानन्याधिपतिः" वेदान्त दर्शन-परन्तु मुक्त पुरुष जिन पदार्थों की इच्छा करता है वे सब पदार्थ मुक्त जीव को संकल्प ही से प्राप्त होते हैं इसी से सब से अधिक ऐश्वर्य्यवान् होता है। और "मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ब्रह्मलोके" मनही से ब्रह्मलोक में अभिलषित पदार्थों को देखता हुआ विहार करता है। यह देह तथा नस नाड़ी के बन्धन में नहीं रहता इसीसे क्षुधा, तृषा, नींद इसे नहीं सताती, इसे किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती तथा ज्वरादि रोग तथा दूसरी व्याधाएं भी इस के निकट नहीं आतीं। इसी पदार्थ के पाने के लिये वेद शास्त्रादि धार्म्मिक ग्रन्थों ने अनेकानेक उपाय तथा साधन बताये हैं। इसी प्रकार के सुख की लालसा करके ऋषिगण निर्जन बन में रात्रिदिन एकचित्त होकर सच्चिदानन्द परमेश्वर का ध्यान करते हैं और उग्रतप तथा योगसाधन करके नस

नाड़ी के बन्धन से छूट कर मोक्ष पद पाते हैं. इसी निरतिशय सुख की इच्छा से भरत ने सांसारिक और राज्य सुख त्याग कर के बन में जाके उग्र तपस्या की, इसी के लिये राजा जनक संसार के विषरूपी फल को त्याग करके योगाभ्यास करने में प्रवृत्त हुए।

***

इस पदार्थ के प्राप्त करने की चेष्टा तथा प्रयत्न हम को अहर्निश करना चाहिये और इसी में हमारा कल्याण है ॥ (आर्य्य)

उन्नति उद्योग ही पर निर्भर है

इसी प्रायःयह सब लोगों को इच्छाहै कि हमारे देश में व्योपार बढ़े; कृषी की उन्नाति हो और भी नाना प्रकार के कार्य्य शुरू हों जिस से देश को लाभ हो–किन्तु इन्हीं भावनाओं से यह भी जिज्ञासा होती है कि वह कौन सी वस्तु है जिस के न रहने के कारण हम लोगों की यह इच्छा पूरी नहीं होती। कुछ दूर और भी लेजाकर यह कहूंगा। क्या कारण है कि इस परम पूजनीय भारतवर्ष की ऐसी शोचनीय दशा होगई है! क्या कारण है कि यह भारतवर्ष अपने पहिरने के वस्त्र के लिये विदेशियों की प्रतीक्षा करता है! क्या कारण है कि बार २ घोर और भयंकर अकाल से सहस्रों भारतवासियों का प्राण जाता है। पाठकगण! इन सबोंके मुख्य केवल दो कारण हैं अर्थात् (१) आलस्य–निरुद्यम और (२) फुजूल खर्ची। दूसरे पर तो कभी भविष्यत में लिखूंगा। किन्तु पहिले विषय ही पर आज कुछ वक्तव्य है। जिस भारतवर्ष के नाना प्रकार की कारीगरी से सब देश के लोग चकित हो जाते थे. जिस भारतवर्ष से दूसरे देश के लोग नाना प्रकार की विद्या की शिक्षा पाते थे. जिस भारतवर्ष में नाना प्रकार के उत्तम २ वस्त्र बनते थे, जिस भारतवर्षके लोग सदा सत्य भाषण करते थे. जिस भारतवर्ष के लोग सदा दयालुता. धर्म्माचरण. सुशीलता. अक्रोध आदि सद्गुणों से विभूषित थे. हाय! आज वही भारतवर्ष है कि जो विदेशियों की कारीगरीसे चकित होता है; अपने पहिरने के वस्त्र के लिये विदेशियों का मुंह ताकता है. असत्य भाषण को तो कुछ पाप ही नहीं समझता है- दूसरे को कष्ट देना (अपने स्वार्थ के लिये) अपना परम् धर्म्मसमझता है इत्यादि।

जब किसी जाति व देश में आलस्य रूप भयंकर रोग फैलता है तब ही उसकी अवनति होती है। इसी आलस्य रूपी भयंकर रोगने हम लोगोंको ग्रसित कर लिया है जिस के ही कारण इस भारत की ऐसी दुर्दशा और ऐसी अभाग्यता है। किन्तु बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि अब तक हम लोगोंकी आंखें नहीं खुलतीं। न मालूम इस बेपरवाई का क्या परिणाम होगा? हमारी अल्प बुद्धि में तो इसका परिणाम केवल "नाश" ही सूझता है। इतिहाससे जाना जाता है कि जब रोम और ग्रीस के लोग आलसी होगये तब उन देशों की अवनति हुई। यदि आप लोग यथार्थ में देशोन्नति करनी चाहते हैं तो आलस्य रूपी भयंकर रोग को "उद्यम" रूपी दवा से मुक्त कीजिये। जो जाति श्रमशील नहीं है और न होने की चेष्टा करती है उसकी उन्नति कदापि होनी सम्भव नहीं है जब तक हम अपने अमोल्य समय की क़दर न करेंगे तब तक हम लोगों के सौभाग्य का उदय नहीं होगा। क्या कारण है कि अंगरेज़ लोगोंने इतनी उन्नति करली है? उन लोगों के उन्नति करने का एक मात्र कारण यही है कि वे लोग समय की क़दर करते हैं। अपने समय को आलस्य से व्यर्थ नहीं खोते। खोया हुआ धन परिश्रम से मिल सकता है, बिगड़ा हुआ स्वास्थ्य दवा से सुधर सकता है, किन्तु खोया हुआ समय फिर नहीं आ सकता। किसीने ठीक कहा है "गया वक्त फिर हाथ आता नहीं"। आलसी लोग कहा करते हैं कि उनको अमुक काम करनेका समय ही नहीं मिलता किन्तु यह उनका भगल है। यदि हम लोग समय के ऊपर अपनी गहरी निगाह रखें तो हम लोग बहुत कामका सम्पादन कर सकते हैं जितना आलस्य को छोड़ेंगे उतनेही उद्यमी होते जांयगे। यदि कोई एक काम एक परिश्रमी आदमी को करनेके लिये दे दिया जाय तो वह उस कामको १ घन्टा में समाप्त कर देगा और वही काम यदि आलसी आदमी को करनेके लिये दे दिया जाय तो वह १ रोज़ मेंभी उसको समाप्त नहीं करेगा। अब हम पाठकों का ध्यान फ्रांस्कीन साहिब के वचन पर आकर्षित करते हैं--

"Dost thou love life? then do not squander time, for, that is the stuff life made off"

अर्थात् यदि हम लोग अपनी जिन्दगी को प्यार करते हैं तो हम लोगों को समय

को व्यर्थ खोना नहीं चाहिये क्योंकि समय ही इस का मूल कारणहै ।

आज कल बहुत से लोग सामाजिक संशोधन ही से देश की उन्नति समझतेहैं, बहुत लोग राजनैतिक (Political) संशोधन ही को देश की उन्नति का मुख्य अङ्ग मानतेहैं किन्तु आज मैं बहुत अफसोस के साथ लिखताहूं कि बहुत कम ही ऐसे लोग हैं जिन्हों ने यथार्थ उन्नति के उपाय को सोचा है । इससे मेरा यह मतलब नहीं है कि इन सबों से देश का कुछ लाभ सम्पादन नहीं होता, किन्तु मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि केवल इन से देश का उतना उपकार नहीं हो सकता जितने की आवश्यकता है । अंगरेजों की उन्नति का मूल कारण यही है कि वे लोग परिश्रमी हैं. वाणिज्य करने में अपनी मान हानि नहीं समझते । " व्यापारे बसते लक्ष्मी " । विचारने की बात है कि यह उन लोगों के उद्योग, हादस और अन्वेषण का ही फल है कि इस देश में तार प्रचलित हुआ. रेल जारी हुई इत्यादि । जब हम उन लोगों की अद्भुत बुद्धि के ऊपर विचारते हैं तब उन लोगों की बुद्धि को धन्य ही कहना पड़ता है । पाठक वृन्द ! यह स्मरण रखने की बात है कि हम लोग उनकी बुद्धि को धन्य ही कहकर बैठ जाते हैं किन्तु वैसी बुद्धि स्वयं पाने के लिये कुछ भी प्रयत्न नहीं करते और न करना चाहते हैं । (राज पूत)

(ब्रह्मचर्य्य) BRAHMACHARYA.

One of the customs of ancient India which has perished and needs to be re-established is that of Brahmacharya during the student life. In the old days a boy was given into the hands of his teacher, or Guru, when he was from five to seven years old, or sometimes later. From that day forward he lived in his teacher's house, serving him and studying under him, the period of study being nine, eighteen or thirty-six years, or until he had mastered his studies, and sometimes even lasting throughout the life. The first-named periods, of nine and eighteen years, were the ordinary ones, and at their close the lad was well-developed and manly, fit to bear arms in the battle-field. More often the student period seems to have been

extended till the youth was twenty- five years of age. Maturity, however, varied, during the immense periods covered by Indian history, and the general rule may be said to have been that the youth had to reach manhood--to be a warrior in the Kshattriya caste—before he left the guardianship of his teacher.

During the whole of this period, the student was under the obligation of absolute chastity. Only after he had kept the rule of studentship, had left his teacher, and had returned home, might he marry. It was well recognised that the excitement and preoccupations inseparable from marriage were destructive of the single-minded devotion to study which is necessary for its due effect on character. It was also recognised that the strain on the nervous system and on the whole body, which accompanies fatherhood, could not safely be imposed on boyhood. Resistant strength in manhood can only be obtained by using all the vital energy of youth in building up muscle and nerve accumulating force, and storing it up in the body. The flaccid muscles and nervelessness, the *languor* and *sloth* of the *debauchee*, only shew the result of excess in very patent form. These same defects, though in far less measure accompany the premature expenditure in youth of forces which should be kept in the body for the building of a vigorous manhood. Over-early parentage is as ruinous physiologically, as it is injurious mentally.

The effects of the modern system of early marriages are visible on every side in India. Her students are tired, when they should be in the first flush of vigorous manhood, and at the age when they should be doing their best work—from 40 to 60—they are old men. The *languid* acceptance of evils that should be resisted, the passive submission to wrongs that should be redressed, come from the lack of physical vigour. *The race is slowly dying from exhaustion, and the exhaustion is largely due to the accumulating hereditary results of boy-fatherhood and girl-motherhood. It is true that the inner cause of these, as of other*

evils, is spiritual degradation ; but I am dealing here only with one of its results.

It is no answer to this to quote individual cases of strength ; it is the slow sinking of the general average which is Nature's signal flag of national peril. And even where men are strong, there is generally noticeable in them a dislike of exertion, a wish for physical inaction, which speak eloquently of the lack of vitality in the system.

For Nature can not be defied without ruin, Nature is the garment of God, the phenomena of Nature are the workings of the Gods, the laws of Nature are expressions of the Divine Nature. To go against natural laws is therefore to go against God, and persistence in such a course means death. Hence all abuse and excess in natural function means disease, which is a partial death, and premature decay, which is an early death. In this way nations disappear, which refuse to conform themselves to natural laws.

Boys who wish to have a *healthy* vigorous manhood and a healthy old age, must be Brahmacharins during their student life. And this does not mean only that they must not marry, but also that they must be pure in thought and act. Secret vice is a thousandfold worse than premature marrirge, and is far more fatal to health. It means *lassitude* destruction of nerve and brain-power, disease, and a miserable old age. Men often lament, in bitter physical suffering, the vices of their boyhood, but it is then too late to remedy them. *For your own sake, and for India's sake, my young brothers, be pure, be pure.*

(C. H. C. M.)

॥ ओ३म ॥

जीवके लिये एक सत्य उपदेश

हे जीव ! इस जगत् को एक महान् समुद्र समझाना चाहिये इस संसार रूपी समुद्र का पारावार कहीं दिखाई नहीं देता इस समुद्र के चक्कर बड़े भयानक हैं इन चक्रों में फसा हुवा जीव दिन रात डांवां डोल (हैरान परेशान) होरहा है यह पञ्चभूत अर्थात् अग्नि जल वायु पृथिवी आकाश इस समुद्र के कारण हैं और पांच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् चक्षु श्रोत्र रसना नासिका और त्वचा इसके स्रोत हैं काम. क्रोध. लोभ. मोह. अहंकार इस समुद्र में महा बलवान् मगर मच्छ पड़े हैं जो सारे संसारको निगले जाते है सब जीव इनका भक्ष्य (खुराक) बन रहेहैं मनके संकल्प विकल्प इस समुद्रकी लहरें हैं इन लहरों में अनगिनत तरङ्गें उठती है जब एक बैठती है तुरन्तदूसरी उठ खड़ी होतीहै । मन; बुद्धि; चित्त, अहङ्कार. का एक पर्वत है जिस में से अपन स्रोत द्वारा यह समुद्र निकला है ओहो ! बडा भयानक समुद्र है नाव और मल्लाह का कहीं पतानहीं। शब्द; स्पर्श; रूप, रस, गन्ध इस समुद्र के ५ भंवर हैं। यह भंवर बड़े भयंकर हैं इन में फसा हुआ जीव डूबही जाता है । देखो जिस प्रकार मृग शब्दके प्रेममें फंसकर शिकारीकी बीन पर मस्त होकर पकड़ा जाकर अपनी जानसे जाता है हस्तीको एक स्पर्श विषयहै यही स्पर्श उसकी जानका शत्रु बनजाता है बनावटी हथनी के पास स्पर्शकरने को हाथी जाता है और गढ में गिरकर शिकारियों के हाथसे पकड़ा जाता है । नाना प्रकार के दुःख उठाकर जानसे जाताहै । पतंग को रूपके विषयसे प्रेम है दीपक के रूपको देख कर उसमें जल मरता है ऐसाही चकोर काहाल है मछली एकरसना इन्द्रियके बसमें होकर कांटेका मांस खाकर अपनी जानसे जातीहै । भँवरा केवल सुगंधि पर आसक्त होकर कमलके फूलमें बन्द होजाता है और अपने प्राणोंको त्याग देताहै । यह पशु एक२ विषयमें अंधे होकर नाना प्रकार के दुःख उठाकर अपनी जानसे जाते हैं मनुष्य तो इनपांचों विषयमें

फंसकर अंधा होरहा है अब विचारो और सोचो कि ऐसी दशामें मनुष्य की क्यागति होगी; उपनिषत्कारों ने शब्द स्पर्श आदि ५ प्रकार के विषयों को जो इस समुद्र के भंवर कहा है सो सच है इनमें फंसा हुआ जीव वहीं डूब (गरक हो) जाता है कल्पों तक इसके निकलने की आशा नहीं होती ॥

इनके सिवाय इस समुद्र का प्रवाह भी अत्यन्त वेग वाला है इसमें जीवको किसी तरह विश्राम नहीं मिलता पग२ पर दुःख ही दुःख उपस्थित है। प्रथम गर्भ के दुःख को देखिये जिसमें माता के गर्भ की अन्धी कोठरी में जीव को नौ महीने तक उलटा लटकना पड़ता है चारों तरफ ऊपर नीचे मल मूत्र भरा रहता है खाने को महा गन्दा रुधिर मिलता है यह ऐसा प्रबल दण्ड है जिस के बराबर संसार में किसी जेल खाने की संगीन कोठरी नहीं होसक्ती। फिर इस अन्धी कोठरी के बाहर आते समय के दुःख को ज्ञानचक्षु से देखा जावे तो रोंगटे खड़े होते हैं इस के बाद जरावस्था अर्थात् बुढ़ापे का दुःख है इस के वास्ते भर्तृहरि जीने एक श्लोक लिखा है।

बलिभिर्मुखमाक्रान्तं पलितैरङ्कितं शिरः।
गात्राणिशिथिलायन्ते तृष्णैका तरुणायते ॥

अर्थात् मुख पर झुरियां पड़ गई बाल धौले होगये शरीर केसब अङ्ग शिथिल होगये परन्तु तृष्णा तरुण होती जाती है हा शोक ! कैसे दुःख का समय है सब शक्तियां शिथिल हो गई हाथ पांव अपने बस में नहीं मन जो चाहता है वह इन्द्रियों से हो नहीं सक्ता तृष्णा बहुत है पर लाचारी से कुछ बन नहीं पड़ता तो इस कष्ट का क्या ठिकाना है फिर यही गर्भ और बुढ़ापे का ही दुःख नहीं बरन जीवन में हर समय अनेक दुःख लगे रहते हैं एक रोग से आराम हुआ दुसरा आन मौजूद हुआ, राम राम कर के एक चिन्ता को दुर किया दुसरी सामने खड़ी हुई सब से पीछे मौत का दुःख है यह वह समय है जिस से सांसारिक विषयों से सारी आयु का प्रेम किया हुआ एक दम छुट जाता है ओ हो ! बड़े कष्ट का समय है इधर मन संसारी विषयों के मोह में अटक रहा है उधर मौत एक दम की फुरसत नहीं देती चारों ओर निराशा छा जाती है मौत से बचाने वाला कोई दिखाई नहीं देता वह धन दौलत

जिसको बड़े परिश्रम और कष्ट से कमाया था जिसके वास्ते अधर्म भी किये गये दूसरे प्राणियों को दुःख भी दिया गया वह अब पराई हुई जाती है वह स्त्री जिसके साथ जविन में बड़ा प्यार था वह पुत्र जिनको हम अपनी आंखों का तारा समझते थे वह महल अटारी जिनको बड़े प्रेम से रचकर बनाया था एक दम में उनसे जुदाई हुआ चाहती है महमुद गज़नवी जिसने हिन्दुस्तान पर बारह हमले किये जब मरने लगा कुल दौलत जवाहरात अपनें सामने मंगाये सब फौज को सामने खड़ा किया और सब को देख २ कर रोते २ अपने प्राण दिये। इसी को मरण दुःख कहते हैं मतलब यह है कि संसार रूपी समुद्र से पार उतरने के लिये बड़े २ कठिन बन्धन है सब जीव इसी समुद्र में फंसे हुए अपना जीवन नष्ट भ्रष्ट कर रहे है परन्तु पिता परमात्मा बड़े दयालु हैं वह इस दुःखी जीवका कभी साथ नहीं छोडते हर समय पाप से बचने और दुःख से छुटने की प्रेरणा करते रहते हैं देखो यह जीव जब कोई पाप कर्म करने लगता है उसी समय परमात्मा उसके मनमें भय उत्पन्न करते है कि हे जीव ! खबरदार ! यह पाप कर्म है आगे बचना न बचना जीव का अख्त्यार है प्यारे भाईयों ? हमारा तुम्हारा और सब लोगों का जीवन इसी भयानक समुद्र में बहा जा रहा है मन के संकल्प विकल्पों की लहरें इस को डावांडोल कर रहीं है काम, क्रोध, लोभ मोह, अहंकार मगर मच्छ इसको निगल जाने के वास्ते अलग ही मुंह फाड़ रहे है और इस जीवन के रास्ते में शब्द स्पर्श आदि ५ भंवर हौलनाक (भयानक) है कि जिनमें गिर कर उभरने की आशा नहीं रहती जो ऋषि मुनि सच्चे महात्मा इस समुद्र से पार हुए है वे आने वाली सन्तान के लिये अपने सच्चे उपदेश छोड़ गये हैं ; व्यास आदि ऋषियों के वाक्य हमको इस समुद्र से पार उतरने का रास्ता बतलाते हैं

॥ भजन ॥

(जीवनोद्धार)

रेमन कबलग भूले फिरोगे

जग स्वामी से वेमुख रहकर * जगमें ऊलझ रहोगे (१) रेमन

प्रभु के प्रेमका अमृत तजकर * फिर कहो कैसे जियोगे (२) रेमन

हर भगती कर हन्सन बनकर * फिर क्या काग बनोगे (३) रेमन

प्राणके प्राण से प्रीती लगाओ * तब भव सिन्धु तरोगे (४) रेमन

भार्या मूलं गृहस्थस्य भार्या मूलं सुखस्य च ।
भार्या धर्मफलावाप्तौ भार्या सन्तानवृद्धये ॥

अर्थात् गृहस्थाश्रम, सांसारिक सुख, धर्म फल की प्राप्ति तथा वंशवृद्धि का मूल कारण भार्या ही है । और इसीलिये गृहस्थाश्रम का मुख्य आधार स्त्री समाज पर है और इसी कारण से भार्या का दूसरा नाम गृहलक्ष्मी धरा गया है । जैसा कि दक्षसंहिता का वचन है:-

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी पतिव्रता ।
एभिरेव गुणैर्युक्ता श्रीरेव स्त्री न संशयः ॥

अर्थात् पति की आज्ञा में वरत ने वाली, प्रिय वचन बोलने वाली, गृह कार्य में निपुण और उत्तम चाल चलन वाली स्त्री साक्षात् लक्ष्मी का स्वरूप है । गृहस्थाश्रम के आधार रूपिणी ऐसी पतिपरायणा स्त्रियों की महिमा में श्रीकृष्ण जन्म खण्ड का वचन है कि:-

पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि ।
तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु च ॥

अथार्त् पृथ्वीतल के सम्पूर्ण तीर्थ और देवता तथा मुनीश्वरों का तेज सती स्त्रियों में विद्यमान है । ऐसी स्त्रियें जिसआश्रम की बीजरूपिणी हों उस का अन्य आश्रमों से अधिक गौरव माना जाय तो आश्चर्य ही क्या ॥

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम् ।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥
अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा ।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितॄणामात्मनश्च ह ॥

पति व्रत धर्म

संन्यासादि आश्रमों को दुःसाध्य समझ शास्त्र कारोंने गृहस्थाश्रम ही को उपयोगी और सुखसाध्य माना है। और वास्तव ही में जगत् का जितना उपकार गृहस्थाश्रम से सम्भव है उतना दूसरे किसी आश्रम से नहीं। प्रजा की उत्पत्ति जिस प्रकार विना गृहस्थाश्रम के असम्भव है उसी प्रकार सृष्टि के यावत् व्यवहारों का सम्पादन एक मात्र गृहस्थाश्रम ही पर निर्भर है। गृहस्थाश्रम ही एक आश्रम है कि जिस द्वारा युगान्तरों में जगन्नायक जगदीश्वर का मानव रूप में प्रादुर्भाव होकर पवित्र धर्म का संरक्षण और दुष्ट जीवों का विनाश होता है। भगवद् भक्ति प्रचारक विविध महात्मा गण और जगदुपकार निरत साधु पुरुषो के आविर्भाव का भाग भी एक मात्र गृहस्थाश्रम ही है। गौ ब्राह्मण की सेवा पितृदेवार्चन एवं यज्ञादिक कर्मों का निर्वाह भी विना गृहस्थाश्रम के असम्भव है। और

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्या दन्नसम्भवः
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ॥

इस भगवदुक्ति के अनुसार विना गृहस्थाश्रम के कि जिस के विना श्रौतस्मार्त कर्मों का निर्वाह सर्वथा असम्भव है, संसार की स्थिति का रहना नितान्त ही दुस्तर है और यही कारण गृहस्थ धर्म की प्रधानता का समझिये। जिस आश्रम की यह महिमा है उस का मुख्य साधन दाम्पत्य अर्थात् स्त्री पुरुष का युगल देह है। स्त्री और पुरुष का यद्यपि देह पृथक् २ है तथापि अन्योन्य प्रेम प्रवाह के कारण इन का युगल शरीर सम्पृक्त अर्थात् एक दूसरे से जुड़ा हुआ कहलाता है। इसी लिये स्त्री अपने पुरुष की अर्द्धांगिनी कही जाती है। और गृहस्थाश्रम में स्त्री का गौरव इतना अधिक माना गया है कि "स्त्री पुरुष" इस युगल शब्द के उच्चारण में स्त्री का नाम पहिले आता है। "पुरुष स्त्री" ऐसा कभी नहीं कहा जाता। इसी लिये स्त्री पुरुष की जुड़ी हुई देह में स्त्री का अर्द्धांग श्रेष्ठांग माना गया है। स्त्री को यह उच्च सन्मान क्यों दिया गाया? इस का उत्तर स्कन्द पुराण के काशी खण्ड में इस प्रकार मिलता है-

भावार्थ

घर को सुशोभित करने वाली महाभागा स्त्री सकल सन्तान की उत्पत्ति के लिये पूजा के योग्य है घर की स्त्री और लक्ष्मी में कुछ भी अन्तर नहीं समझना। पुत्रादि की उत्पत्ति, उत्पन्न सन्तान का पालन पोषण, लोकयात्रा का यथा योग्य निर्वाह, यह सब काम पत्नी ही के आधीन हैं। पत्नी के न होने से यह काम कदापि नहीं चल सकते। सन्तानोत्पत्ति, धर्म कृत्य, पतिशुश्रूषा पति के साथ उत्तम प्रीति तथा अपनी और अपने पितृ गणों की स्वर्ग प्राप्ति एक मात्र पतिव्रता पत्नी ही के हाथ है॥

उक्त मनु वचनानुसार स्त्री के मुख्य धर्म संक्षेप से यह हैं अर्थात् पतिकी शुश्रूषा पति के साथ गाढ़ प्रेम से सन्तानोत्पत्ति, उत्पन्न सन्तान का पालन, सम्पूर्ण सामग्रियों का यथावश्य संस्कार द्वारा गृह को सुशोभित रखना, अपनी और अपने कुटुम्ब की जीवन यात्रा दक्षता के साथ चलाना और अपने आचरण ऐसे शुद्ध और पवित्र रखना कि जिस से अंत समय अपने को तथा अपने पितृगणों को स्वर्ग की प्राप्ति होसके॥

" अनाभ्यासेन शास्त्राणा माचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्लोकाञ्जिघांसति॥

अर्थात् शास्त्र के न पढ़ने से, आचार के बिगड़ने से, आलस्य और अन्न दोष से लोगों को मृत्यु मार लेती है॥

सूक्ष्म विचार करने से जाना जायगा कि आचार का बिगाड़ना अथवा पालना और इसी प्रकार अन्न की शुद्धि अथवा अशुद्धि, सिद्धि अथवा असिद्धि एक मात्र स्त्रियों ही के आधीन है॥

जिन लोगों ने शिक्षित कुटुम्बों के घरों की सजावट देखी है वे मूर्ख परिवारों के मकान का मुकाबला पशुशाला के साथ करते हुये भी लजायेंगे कारण विद्याहीन स्त्रियें यह क्योंकर जान सकती हैं कि घरकी सजावट और परिशुद्धि किस प्रकार होती है। हज़ारों रुपयों की हवेली चाहे क्यों न हो

जिस समय स्त्रियों के मल दूषित कटि वस्त्र श्रेणीबद्ध खूंटियों पर टंगे हुये दृष्ट होते हैं, इसी प्रकार खाने की वस्तु सोने के स्थान और स्नान की सामग्री खाने के स्थान जिस समय क्रमविरुद्ध पड़ी हुई दीखती है, तब देखने वालों के मन में जो ग्लानि होती है सो तो ठीक ही है परन्तु वह हज़ारों की लागत की पक्की हवेली सुनार की दुकान से भी बेढंगी लगती है । इसी प्रकार स्वास्थ्यरक्षण के नियमों से सर्वथा अनभिज्ञ रहने से मलमूत्र विसर्जन करने के स्थान प्रायः पाकशाला आदि पवित्र स्थानों के निकटवर्ती होते हैं जिस से आरोग्यता का अत्यन्त अनिष्ट होता है । यही दशा पाक रचना की समझिये आज कल की मूर्ख स्त्री यदि बहुत ही बहुत पाक निपुण हुई तो चांवल दाल पूरी फुलके खीर लापसी हलुवा चूड़मा के सिवाय कुछ नहीं बनासकेंगी और इन सामग्रियों के बनाने में भी इनकी योग्यता की प्रशंसा इसी पर से हो सकती है कि खाने वालों को किसी वस्तु में नमक कम लगता है, किसी में मीठा अधिक, कोई वस्तु अध कच्ची और कोई बहुत सिकी हुई लगती है ॥

आप ही सोचिये कि महंगाई का घी खांड़ लगानें से भी जब भोजन में स्वाद् नहीं आता तब शिक्षित पति अपनी स्त्री पर क्योंकर स्नेह शील और सानुराग रह सकता है । और जब कि भोजन की प्रधान सेवा ही से पति देव को प्रसन्न नहीं कर सकतीं तो पतिव्रत धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है॥

यह बात कदापि कोई न विचारे कि मैं भोजन बनाने के लिये ब्राह्मण रखलूंगी । कारण " क्षुधितं भोजयत्कान्तम्,, इस वचन के अनुसार पति देव को जब क्षुधा लगे तबही भोजन करानेका विधानहै । और वास्तवमें पतिवृता स्त्रीकी यही मुख्य पति सेवा है, यह सेवा दूसरों के हस्त द्वारा कराने से पति सेवा सफल नहीं होसक्ती ॥

सब कोई जानते हैं कि संस्कृत में स्वर व्यञ्जन मिलाकर केवल ४५ अक्षर हैं परन्तु इन्हींके परस्पर योगसे सृष्टिके यावत शब्द बन सक्तेहैं । इसी प्रकार अन्न और रसकी सब सामग्रियों का परस्पर योग जान्नेसे षट् रसके असंख्य पदार्थ बन सक्तेहैं । परन्तु क्याही आश्चर्यकी बातहै कि आज कल

की चतुर से चतुर स्त्री भी कठिनता से ५० पदार्थ बना सकेगी। परन्तु खैर मुझको अधिक पदार्थों की भी भूख नहीं है, भूख मुझे केवल इस बात की है कि जो कुछ पदार्थ बनाये जांय वे विधि पूर्वक हों कि जिनको खाकर पति देव प्रसन्न चित्त होकर अपनी प्रियतमा के साथ विशुद्ध प्रेम और अनन्य अनुराग का बर्त्ताव कर गृहस्थाश्रम का दुर्लभ सुख अनुभव कर सके ॥

अब रहा लोकयात्रा का निर्वाह करना। सो आज कल की अशिक्षित स्त्रियें केवल इतना ही जानती हैं कि सास ननद अथवा देवरानी जेठानी से लड़ झगड़ अपने पति को दबाकर जुदा घर बसाना, और पास पड़ोसियों से टंटा झगड़ा कर कलहकारणी कहलाना। परन्तु अफसोस! शिक्षाके अभाव से आजकलकी अबलाओं को इस बात का किञ्चित भी ज्ञान नहीं कि अपने पतिदेवकी शुश्रूषा किस प्रकार करना चाहिये इसी प्रकार सजातियों के साथ क्यों कर बर्तना चाहिये घरका प्रबंध किस भांति करना, भृत्यवर्गों के साथ क्या बर्ताव करना, इत्यादि बातों का लेश मात्र भी बोध नहीं ॥

जिन स्त्री पुरुषों के बीच में शुद्ध प्रेम की लहर नहीं बहती उनका मनुष्य देहही निष्फल है जैसा कि श्री कृष्ण जन्म खण्ड का वचन है:।

"दम्पत्योः समता नास्ति यत्र यत्र हि मन्दिरे।
अलक्ष्मीस्तत्र तत्रैव विफलं जीवितं तयोः"

अर्थात् जिन घरों में स्त्री पुरुष के परस्पर प्रेम प्यार का समान भाव नहीं उन गृहों में अवश्य करके दरिद्रता का वास होताहै और उन स्त्री पुरुषों का संसार में होना भी व्यर्थहै ॥

स्त्री का अपने प्राण पतिकी अवज्ञा करना वास्तव में महा अन्याय है जैसा कि ब्रह्म वैवर्त्त पुराण का वचनहै:-

"प्रकोपवदना कोपात् स्वामिन या च पश्यति।

कटूक्तिं तंच या वक्ति याति चोल्का मुखं च सा ॥
उल्कां ददाति तद्वक्त्रे सततं यम किंकराः ।
दण्डेन ताडयेन्मूर्द्धिन तल्लोमाब्द प्रमाणकम् ॥
ततोभवेन्मानवी च विधवा सप्त जन्मसुः ।
भुक्त्वा दुःखं च वैधव्यं व्याधियुक्तं ततः शुचि" ॥

अर्थात् जो नारी क्रोध अथवा कोप युक्त होकर स्वामी की ओर दृष्टि करे अथवा उसे कटु बचन कहे वह नारी उल्कामुख नामक नरक में पड़तीहै और उसकेशरीर में जितने लोमे हों उतने ही वर्ष तक उसके मुख में यम राजाके दूत अग्नि की बर्षा करतेहैं और दण्ड द्वारा उसका मस्तक ताड़ते हैं और नरक अवधि समाप्त होने पर सात जन्म तक फिर विधवा होकर नाना दुःख भोगतीहै तत्पश्चात् उसके पाप का छुटकारा होताहै ॥

सौभाग्य वती स्त्रियों को तीर्थ व्रतादिक करना वर्जित है; इसकी पुष्टिमें पद्म पुराण भूमि खण्ड का यह बचन पाया जाताहैः—

"विद्यमाने यदा कान्ते धर्म मन्यं करोति या ।
निष्फलं जायते तस्याः पुंश्चली परि कल्पते ॥

अर्थात् स्वामी के जीते हुये जो स्त्री तीर्थ व्रतादिक अन्य धर्म करती है वह स्त्री व्यभिचारणी कहाती है और उसका सब कर्म किया हुआ निष्फल होजाताहैः ॥

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के प्रकृति खण्ड में लिखाहै किः—

"गुरु विप्रेष्ट देवेभ्यः सर्वेभ्यश्च पतिर्गुरुः ।
विद्या दाता यथा पुसां कुलजानां तथा प्रियः ॥
यया प्रियः पूजितश्च श्री कृष्णः पूजितस्तया

पतिव्रता व्रतार्थं च पतिरूपी हरिः स्वयम् ॥

अर्थात् गुरु ब्राह्मण और इष्ट देव इन सब से बड़ा गुरु स्त्री का पति है जिस प्रकार पुरुषों का विद्या दाता सबसे अधिक पूज्य है उसी प्रकार स्त्रियों का सब से अधिक पूजनीय पतिही है। जिस स्त्री ने अपने पति देवकी पूजा की उसने मानो भगवान् की पूजा करली। कारण पति व्रताओं के व्रत पालन के लिये भगवान् स्वतः पति रूपी हुए हैं ॥

हा हा ! ऐसे ऐसे सर्वमान्य प्रमाणोंके रहते हुए भी स्त्रियों को लज्जा नहीं आती कि वे हर किसी को अपना गुरु बनाकर उनकी ऐसी परिचर्या करतीहैं कि जैसी बिचारे पतिको स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं हुई ॥

बहुतसी सधवा स्त्रियें नित्य मन्दिर जातीहैं परन्तु इन मूर्खाओंको यह नहीं मालूम कि मन्दिर में श्री ठाकुरजी की धातुमय मूर्त्ति ही बिराजती है परन्तु घरमें प्रत्यक्ष बोलते रामजी बिराज रहेहैं तिसपर भी देव दर्शन की भूखी नारी का अपने प्रत्यक्ष ईश्वर की उपेक्षा कर इधर उधर भटकना सरासर अपने सती धर्म को बट्टा लगानाहै ॥

अपने पति रूपी विष्णु देवकी आराधना किस प्रकार करनी चाहिये यह बात ब्रह्म वर्वत्त पुराण में इस प्रकार निरूपितहै:—

सती स्त्री प्रातरुत्थाय, त्यक्त्वा च रात्रिवाससम् ।
भर्तारंच नमस्कृत्य, करोति स्तवनं मुदा ॥
गृहकार्य्यं ततः कृत्वा, स्नात्वा धौतेच वाससी ।
गृहीत्वा शुक्ल पुष्पं च भक्तितः पूज्येत्पतिम् ॥
स्नापयित्वा सुपूतेन जलने विमलेन च ।
तस्मै दत्वा धौतवस्त्रं तत्पादौ क्षालयेन्मुदा ॥
आसने वास यित्वाच दत्वा भालेच चन्दनम् ।

सर्वाङ्ग लेपनं कृत्वा दत्वा माल्यं गलेपि च ।
साम वेदोक्त मन्त्रेण, भोगद्रव्यैः सुधोप मैः ॥
सम्पूज्य भक्तितः कान्तं स्तुत्वा च प्रणमेन्मुदा ।
"नमः कान्ताय शान्ताय, सर्व देवाश्रयाय च" ॥
इत्यनेनैव मन्त्रेण, दत्वा पुष्पं च चन्दनम् ।
पाद्यार्घ्यं धूप दीपांश्च वस्त्रं नैवेद्य मुत्तमम् ॥
जलं सुवासितं शुद्धं ताम्बूलं च सुसंस्कृतम् ।
दत्वा स्तोत्रंच प्रपठेद् यत्कृतं पाद्यमेवच ॥

अर्थ- पतिव्रता नारी को चाहिये कि प्रातः काल उठकर रात को पहने हुवे वस्त्र बदल कर अपने पतिदेव को प्रणाम कर के उसकी स्तुतिकर फिर घरका धंदा करके स्नान करे और धुला हुआ वस्त्र पहन कर सफेद पुष्प हाथ में लेकर भक्तिपूर्वक पतिदेव की पुजा करे। प्रथम छने हुये निर्मल जलद्वारा पतिदेव को स्नान करावे फिर पहनने को धौत वस्त्र देवे फिर पतिके चरण धोवे, फिर पतीश्वर को आसन पर बिठाकर ललाटादि अंगों पर चन्दन चढ़ा कर गले में माला पहरावे तत्पश्चात् सामवेद के मन्त्रों से भक्ति पूर्वक अमृत के समान स्वादिष्ठ भोग की सामग्री चढ़ावे फिर स्तव पाठ कर के नमस्कार करे। फिर "नमः कान्ताय शान्ताय सर्व देवाश्रयाय ,, यह मन्त्र उच्चारण करके चन्दन पुष्प पाद्य अर्घ्य धूप दीप उत्तम नैवेद्य पवित्र सुगन्धियुक्त जल और ताम्बूल अर्पण करके पुनः स्तव पाठ करें। इस का क्रम इस प्रकार समझना चाहियेः -

जिस स्तव द्वारा पतिदेव की स्तुति करनी चाहिये वह यह हैः -

नमः कान्ताय शान्ताय, शिवचन्द्र स्वरूपिणे ।
नमः शान्ताय दान्ताय, सर्व देवाश्रयाय च ॥
नमो ब्रह्म स्वरूपाय, सती प्राण परायच ।

नमस्याय च पूज्याय, हृदा धाराय ते नमः ॥
पंच प्राणाधिदेवाय, चक्षुषस्तारकाय च ।
ज्ञानाधाराय पत्नीनां, परमानन्द रूपिणे ॥
पतिब्रह्मा पतिर्विष्णुः, पतिरेव महेश्वरः ।
पतिश्च निर्गुणाधारो, ब्रह्मरूप नमोस्तुते ॥
क्षमस्व भगवन् दोषं, ज्ञानाज्ञानकृतं च यत् ।
पत्नीबन्धो दयासिन्धो, दासीदोषं क्षमस्व च ॥
इदं स्तोत्रं महापुण्यं, सृष्ट्याद्ये पद्मया कृतम् ।
सरस्वत्या च धरया, गंगया च पुरा व्रज ! ॥
सावित्र्या च कृतं पूर्वं, ब्रह्मणे चापि नित्यशः ।
पार्वत्या च कृतं भक्त्या, कैलाशे शङ्कराय च ॥
मुनीनां च सुराणां च, पत्नीभिश्च कृतं पुरा ।
पतिव्रतानां सर्वासां, स्तोत्रमेतत् शुभावहम् ॥
इदं स्तोत्रं महापुण्यं, या शृणोति पतिव्रता ।
नरोन्योवापि नारी वा, लभते सर्व वांछितम् ॥
अपुत्रो लभते पुत्रं, निर्धनो लभते धनम् ।
रोगी च मुच्यते रोगात्, बद्धोमुच्येत बन्धनात् ॥
पतिव्रता च स्तुत्वा च तीर्थ स्नानफलंलभेत् ॥
फलं च सर्वतपसां, व्रतानां च व्रजेश्वर ! ।
इति ब्रह्मवैवर्ते महापुराणे पतिस्तोत्रं समाप्तम् ॥

अहा हा ! जिस पवित्र घर में पति का इस प्रकार पूजन सत्कार हो और पत्नी अपने स्वामी की परिचर्या में अनन्य भाव से तत्पर रहे उस घरके आगे स्वर्ग और वैकुण्ठ भी क्या चीज है । जिस मन्दिर में पति पत्नी प्रेम

पूर्वक निवास करें वहां आधि व्याधि और कलह विवाद का गुज़र क्यों कर हो सकता है। और जहां कहीं यह कलि की सामग्री नहो वही स्थान साक्षात् सुख राशि स्वर्ग है।

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का वचन है किः–

"सुपुण्ये भारते वर्षे पति सेवां करोति या।
वैकुण्ठं स्वामिना सार्द्धं सायाति ब्रह्मणः शतम्"

अर्थात् पुण्यवान् भारत वर्ष में जो स्त्री पति सेवा करती है वह सौ ब्रह्मा राज करें तब तक अपने प्राण प्यारे पति के साथ बैकुण्ठ धाम में वास करती है। इसी प्रकार स्कन्द पुराण में कहा है किः–

"यावत्स्वलोमसंख्यास्ति, तावत्कोटियुगानि च।
भर्त्रा स्वर्गसुखं भुङ्क्त रममाणा पतिव्रता॥

अर्थात् जो नारी पतिव्रता है वे जितने लोम उस के शरीर में हैं उतने कोटि युग पर्यन्त अपने पतिके साथ स्वर्ग में सुख भोगती है॥

हारीत संहिता का वचन है किः

"आर्तार्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ साध्वी ज्ञेया पतिव्रता"

अर्थात् जो साध्वी स्त्री पति के पीड़ित होने से आप पीड़ित होजाती है पतिके प्रसन्न होने से आप भी हर्षित होती है, पति के विदेश जाने पर मलिना और दुबली हो जाती है, और पति के मरने पर स्वयं मर जाती है, वही पति व्रता कहलाती है॥

भक्तिः प्रेयसि संश्रितेषु करुणा श्वश्रुषु नम्रंशिरः
प्रीतिर्यातृषु गौरवं गुरुजने क्षान्तिः कृतागस्यपि॥
अम्लानः कुलयोषितां व्रतविधिः सोयं विधेयः पुनः
मद्भर्तुर्दयिता इति प्रियसखीबुद्धिः सपत्नीष्वपि॥

अर्थात् अपने स्वामी की भक्ति करना, अपने आश्रित जनों पर दया रखना, अपनी सास के पैरों में मस्तक धरना, देवरानी जिठानी के साथ प्रीति रखना, बड़ों का आदर सत्कार करना, अपराधियों पर भी कृपा करना, सदा प्रफुल्लवदन रहना, यहां तक कि अपनी "सौत" को भी अपने पति की प्रेमपात्र समझ उसको सखी भाव से रखना ॥

अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता ।

तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्यापि चर्य्या स्वयम्

सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति ।

प्रोक्ताः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धान्तधर्मागमाः ॥

अर्थात् पति को आते देख खड़ी होकर स्वागत करना, पति के साथ नम्रता पूर्वक भाषण करना, पति के चरणों पर दृष्टि रखती हुई आसन प्रदान कर स्वतः पति की उपचर्य्या करना, पति के शयन करने पर सोना और उस से पहिले जगना ॥

वाराह पुराण में स्वतः यमराज ने कहा है कि—

"प्रसुप्ते या प्रस्वपिति प्रबुद्धे जाग्रति स्वयम् ।

भुङ्क्ते तु भोजिते विप्र सा मृत्युं जयति स्वयम्" ॥

तात्पर्य इस कथन का यह है कि पति को सुलाकर सोना, उससे प्रथम हुए पहिले जगना, पति को खिला कर आप खाना इत्यादि शुश्रूषा से जब स्त्री का मन पति के मनके साथ हुवे और मन की भी भांति मिल जाती है तब उस पति व्रता नारी में मौत को जीतने का भी सामर्थ हो जाता है। अपनी इच्छानुसार देह त्याग देनाही मृत्यु को जीतना है। यह शक्ति पतिव्रताओं में रहती है ॥

श्री कृष्ण जन्म खंड में लिखा है कि:—

श्रीमती भर्तुरुच्छिष्टं भुङ्क्ते पादोदकं सदा ।

श्री जगदीश्वर यन्त्रालय सदर मेरठ में हर तरह का काम बहुत जल्द और सफ़ाई से छपता है

तस्या दर्शमुपस्पर्शं नित्यं वाञ्छन्ति देवताः ॥

अर्थात् जो प्रतिव्रता नारी प्रति दिन अपने पति देवका उच्छिष्ट भोजन और चरणामृत पान करती है उस सती स्त्रीके दर्शन की देवता लोग भी इच्छा रखतेहैं ॥

ऐसी ऐसी शास्त्र आज्ञाके होते भीजो स्त्रियें चरणामृत की भूखीहैं उनसे बढ़कर हत भागिनी कौन होसक्तीहै ॥

स्त्रियोंके पास अच्छे अच्छे बहु मूल्य वस्त्रोंकी संदूकें भरी रहतीहैं सोने चांदी के आभूषण भी भर पूर रहतेहैं इतर फुलेल की शीशियें भी धरी रहती हैं, इन सामाग्रियों को वर्तने का घर मेंतो कभी काम पड़ता नहीं, घरका खाना पहनना किसनेदेखा पराये लोगोंकेदेखने औरसराहनेहीसेखाना पहननाउगताहै और ग्राममें आबरू बढ़तीहै। बस इसी ख्यालसे घरमें निरे मलिन वस्त्र पहने रहतीहैं। परन्तु अपने वस्त्र आभूषण का बाजारमें दिखावा कर अपने पति की इज्जत बढ़ाना अपना फर्ज़ समझती हैं। इसलिये मंदिर के वहाने अपने बढिया वेष और सुन्दर केशकी सरे बाज़ार नुमायश करने को अच्छा मौका मिलजाताहै। इस प्रकार कभी कहरिये के घेरदार लंहगे पर कारीक मल मल की मगजीदार कुसुमल ओढनी और धारेदार जाली की कांचली पहन नख शिख तक आभूषितहो "छमाछम" करती हुई मंदिरजी पधारतीहैं।

कभी केरीके ओछे घाघरे पर जामदानी की लरियाँ दार बसनी ओढ़नी के साथ गुलाबी नाज़ की फूलदार अंगिया पहन सोनेमें पीलीहो, पायजेबसे नृत्य करती हुई और घूंघट की दूरबीन द्वारा चातरफ़ की सैर देखती हुई श्री ठाकुर जीकी भक्ति में मस्त होकर हथिनीकी भांति घूमती हुई मंदिर जी को सिधार तीहैं।

जब श्री ठाकुर जीके दर्शन और अपने वस्त्रालंकार का गाममें प्रदर्शन द्वारा "एक पंथ दो काज" करके घर आती हैं तब देखावे के वस्त्राभूषण को उतार कर ज्यूंके त्यूं संदूक में धर देतीहैं और फिर मलिन वेष धारण कर लेतीहैं बस यही तात्पर्य मंदिरजी पधारनेका है। परंतु जिन पतिव्रता

ओंके विषयमें धर्मका कुछ लेख है उनको आपसे प्रेम और शृंगार इत्यादि [illegible] पति देवको रिझाना ही अपना मुख्य धर्म मानना चाहिये ॥ जैसे कि [illegible] [illegible] विवाह का वर्णन है ।

हरिद्रा कुंकुमं चैव सिन्दूरंचांजनं तथा ।
मुखरागाश्च ताम्बूलं मङ्गल्याभरणं तथा ॥
केशस्य संस्कारवती करकर्णविभूषणा ।
भर्त्तुरायुष्यमिच्छन्ती धारयेत्सुपतिव्रता ॥
वदेत् श्रेयस्करं वाक्यं पतिप्रीतिकरं सदा ।
यत्र यत्र रुचिर्भर्त्तुस्तत्र प्रेमवती भवेत् ॥
इदमेव व्रतं स्त्रीणामयमेव वृषः परः ।
इयमेका देवपूजा भर्तुर्वाक्यं न लंघयेत् ॥
क्लीबं वा दूषितं वापि व्याधितं वृद्धमेव च ।
दुःस्थितं सुस्थितं वापि पतिमेकं न लंघयेत् ।
हृष्टा हृष्टे विषण्णास्या विषण्णे स्यात्प्रिये सदा ।
एवं रूपा भवेत्पुण्या सम्पत्सु च विपत्सु च ॥
ताम्बूलैर्व्यंजनैश्चापि पादसंवाहनादिभिः ।
तथैव चात्मवचनैः प्रीतिस्नेहयुतैः परैः ॥
याप्रियं प्रीणयेत् प्रीत्या त्रिलोकी प्रीणिता तया ।

अर्थ– पति की आयु बढ़ाने की इच्छा रखने वाली पतिव्रता स्त्री को चाहिये कि केश संवार कर हलदी कुंकुम सिन्दूर अंजन पान ग्रहण करें फिर हाथ कान आदि अंगों में मङ्गलकारी आभूषण धारण करे, परस्पर प्रेम और प्रीति बढ़ाने वाले मीठे वचन पति को कहे और जिस जिस बात में पति की रुचि [illegible] प्रेम के साथ करे और पति [illegible]

आज्ञा कदापि न टाले। सब पतिव्रताओं का यही व्रत है। यही धर्म और यही देवताओं की पूजा है। पति चाहे भाग्यहीन हो, चाहे रोगी, कुपित हो चाहे वृद्ध, पङ्गु हो, चाहे कसरी; उस का कहना कभी भी नहीं लांघना चाहिये। पति यदि प्रसन्न हो तो आप भी प्रसन्न होना, स्वामी जब उदास हो तो आप भी उदास रहना, इस प्रकार सम्पत् हो चाहे विपत् सदा सर्वदा इसी प्रकार पति के मन में मन डाल कर रहना। जो पतिव्रता अपने भर्त्तार को पान बीड़ा अर्पण करती है अथवा बीजन से बायरा करती है. अथवा पैर दाबती है। तथा प्रीतियुक्त एवं स्नेहपूर्ण वचनों द्वारा पति को प्रसन्न करती है उसे तीन लोक को सन्तुष्ट करने का फल मिलता है॥

पतिव्रत धर्म स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म है। इस लिये इस धर्म की मुरझित लता को चैतन्य करने का यदि प्रयत्न किया जाय तो श्रम व्यर्थ न होगा। अतः पतियों को इस विषय में क्या कर्त्तव्य है। इस बात का निरूपण करना अनुचित न होगा। जिस प्रकार स्त्री अपने उत्तम आचरणों से पतिको वशीभूत कर सकती है उसी प्रकार पति भी अपने उत्तम आचरणों और प्रेमयुक्त बर्त्ताव से स्त्री को वश में कर सक्ता है। इस लिये पति को अपने आचरण उसी प्रकार शुद्ध रखने चाहियें कि जैसे पवित्राचरणों के लिये वह अपनी सहधर्मिणी को प्रेरणा करे॥

इसी प्रकार अपने अन्तःपुर अर्थात् ज़नाने में पर पुरुष का आना जाना भी रोकना चाहिये; यहां तक कि नौकर चाकर का भी विचार रखना चाहिये। ५० वर्ष की आयु वाले ही पुरुष को नौकर रखना गृहस्थों के लिये हानिकारक नहीं है॥

नीच खानदान की अथवा ख़राब चाल चलन वाली स्त्रियों का ज़नाने में आना अथवा अपने घर की स्त्रियों का ऐसी औरतों के साथ बात चीत करना सर्वथा रोकना चाहिये॥

जिस समय नायन दाई आदि घर में आवें तो घर की किसी बड़ी बूढ़ी स्त्री को इन के पास रहना चाहिये कि वह बहू बेटियों के साथ अपने कामके

सिवाय दूसरी निर्लज्ज बातें न कहने दिये। और इन का काम हो किसी भांति इन को तुरन्त विदा कर देना चाहिये॥

बहुधा नायनें कुपथ गामिनी होती हैं और वह जहां जाती हैं, वहीं बड़ी निर्लज्जता की बातें किया करती हैं इस लिये इन को बहुत विचार के साथ घर में आने देना चाहिये. कारण जब तक ऐसी दूषित स्त्रियों की घर में आमद रहेगी तब तक पतिव्रतधर्म की कुलवधुओं का फलवती होना बहुत ही कठिन है। इसलिये बहु बेटियों को पतिव्रता बनाने की इच्छा रखने वाले बान्धवों से प्रार्थना है कि वे इस बात को सुनी अनसुनी न करें॥

पुरुषों की हजामत का काम चाहे नाई बिना न भी चले परन्तु सिर गूंथी बिना नायन के भी होसक्ती है. घर की अथवा पास पड़ोस की स्त्रियें एक दूसरी का सिर गूंथ सक्ती हैं, परन्तु जो पतिव्रता घर में अकेली ही हो वह आप ही अपना केश संवार सक्ती है और दरअसल नायन से केश गुंथाना सरासर अधर्म है। कारण शिर का नाम शास्त्रों में " उत्तमांग " है। इस उत्तम अङ्ग का शास्त्रों में इतना आदर किया है कि अपवित्र हाथ से अथवा गीली धोती से शिर को स्पर्श करना भी वर्जित है फिर यह कैसी अपवित्र बात है कि नायन का अशुद्ध हाथ द्विज स्त्रियों के शिर पर घूमे, आप कहे कि नाई भी तो पुरुषों के शिर की हजामत करता है तो जरा विचार कर देखिये कि नाई के छूने से जो शिर अपवित्र हो जाता है वह स्नान करने से शुद्ध हो जाता है परन्तु नायन के हस्तस्पर्श से जो गुंथा हुआ शिर अशुद्ध हो जाता है, वह कई दिनों तक बंधा ही रहता है। पुरुष तो क्षौर कराके तत्काल स्नान कर लेता है और स्त्री फिर गुंथाने पर तक रख लेती है॥ इस लिये सिर गुंथाने पश्चात् जो केश स्नान तभी होता है कि जब फिर खोलकर पुनः गुंथाने की जरूरत हो और यह जरूरत आठ दस दिन पहले बहुत कम होती है॥

नायन की अधिक बालों में इतनी बड़ी बंधा लेती है कि वह उनकी चोटी एड़ी तक लटका करती है। और शिर में डेढ़ पाव का सूत का लच्छा बंध जाता है ...... नायन के हाथ से बंधा जाता है कि

बालों की जड़ें ढीली होकर केश गिरने लगते हैं। आठवें दसवें दिन जब यह शिरका गुंथना ढीला हो जाता है तब फिर केश स्नान करके उसी प्रकार बन्धा लिया जाताहै ॥

चौत कारियों के चौके में तनिक से बे धोये वस्त्र के आने से चौक उतर जाताहै। परन्तु इस आठ दिन तक दोनों बेर आबखर में जाकर भी न धुलने वाले सूतके पिंड को धारण करने वाली चौके की स्वामिनी के हाथ से दाल भात खाती समय न जाने चौत कहां उड़ जातीहै। जो शिर आठ दिन में एक बेर धोया जाकर रस्से की भांति बांध दिया जाय और आठही दिनमें जिस शिर में एक उंगली भर घी लगाया जाय वह केश यदि बढ़ाना चाहेंभी तो कैसे बढ़ें। इस लिये स्त्रियों के केश अधिक से अधिक तीन बिलइत के होतेहैं। घी का शिरमें लगाना मगजके हक़ में अच्छा है परन्तु घी लगा कर आठ दिन तक सिरका न धोया जाना. न कंघी करना. किन्तु रस्से की भांति खेंचकर बांध रखना मानो उसे जुओंका खज़ाना. बल्कि गुच्छाला बनाना है। और जब कभी शिर खोला जाताहै तभी कई घंटे सिर की जूं लीख निकालने में खर्च होतेहैं और घी के साथ पसीने मैल और कीड़ोंके संयोगसे सिर में ऐसी बदबू आती है कि पास खड़े रहने वाले का भी मन मिचलाने लगता है और इस असह्य दुर्गंध से सुरूपा स्त्री काभी रूप लावण्य धूलमें मिल जाताहै। परन्तु यदि केश नित्य धोये जाकर नित्य सुगंधित तेल लगाया जाय जैसा कि शास्त्रों में लिखाहै और केशों का आज कल की भांति कोड़ा न बनाकर यदि कंघी द्वारा यथा स्थान केश परिपाटि की जाय तो न सिर्फ केश की वृद्धि ही होगी किन्तु सिर नेत्र और गैरभी कई बीमारियों से स्त्री की रक्षा होसकेगी और केश वृद्धि और केश कलाप के सुन्दर संस्कार से स्त्री का रूप लावण्य आपसे आप उभरने लगे ॥

ओछे और बेशरम पहरावे से स्त्रियों को बचना भी जरूरी कर्त्तव्य है। स्त्रियों में दिनों दिन ओछा और निर्लज्ज पहरावे का चलन बढ़ रहा है परन्तु चांदी सोना भी परमेश्वर ने क्या ही अजब वस्तु बनाई है कि जिसके होनेसे न कपड़े की सुधि रहती है न तनकी।

नगर में प्रदर्शिनी कर अपने घरकी आबरू बढ़ाने के लिये स्त्रियां इसी

में गहनों की जगहके ब्याज की वसूली समझ पेट, कंठ, हाथ इत्यादि अंगों को मजबूरन खुला रखना पड़ता है। परन्तु अफसोस! नारी के नेत्रों में गहने कपड़ों की छूतसे ऐसा बड़ा फूला पड़गया है कि उसे अपने तन की भी सुध नहीं है फिर परलोक की बात जानना तो अत्यंत ही कठिन है। शास्त्रों में साफ़ लिखा है कि:—

"न नाभिं दर्शयेत्," "आगुल्फाद्वाससः परिदध्यात्,"
"न स्तनौ विवृतौ कुर्यात्,"

अर्थात् नाभिदेश यानि पेटको न दिखाना। टखनों तक वस्त्र पहनना। स्तनों को न खोलना। परन्तु स्त्रियें इन शास्त्र वचनों के विरुद्ध ही अपनी पोशाक रखती हैं॥

प्राचीन शास्त्रों का वचन है कि "नाप्रकृत्वा गृहाभिर्गच्छेत्, नानुत्तरीया न त्वरितं व्रजेत्," अर्थात् बिना घर वालों के कहने के घरसे बाहर न जाना न बिना उत्तरीय वस्त्र (ऊपर का वस्त्र चादर) धारण किये और न जल्दी चाल से॥

अच्छे घरों की स्त्रियें आज तक भी बिना खास मन्द के कहीं बाहर नहीं जातीं और न उतावली चलती हैं। परन्तु जिन स्त्रियों की रुचि अपने लावण्य की नुमायश करने की रहतीहैं उन्हें यह उत्तरीय वस्त्र कांटों के समान चुभता है॥ आज कल स्त्रियों की प्रीति चटक मटक पर अधिक रहती है। हलके बारीक चटक मटक के वस्त्रों से स्त्रियों की लज्जाशीलता के लिहाज का नाम भी कुछभी नहीं रहती। इस अनर्थ का मुख्य कारण गहना है कि जिसका रिवाज दिनों दिन बढ़ता जाता है।

आप थोड़ासा और गौर कीजिये और आपको मालूम होजायगा कि यह गहने की रसम दरअसल एक जुआ है॥

फर्ज़ कीजिये कि आप के घर में १० हज़ार का सोने का गहना है और २ हजार का चांदी का। इस १२ हज़ार के गहने में पहनने की ज़रूरी चीजें अन मान

कीजिये कि पांच हज़ा की हैं शेष सात हज़ार की रकमें भण्डारे में धरी रहती हैं और इन्हें पहनने का बहुत कम काम पड़ता है ॥

इस सात हज़ार की फ़ालतू रक़म को न फन्ध कर यदि इस के साहूकारी पुर्ज़े कर लिये जायं; तो आठ आने की मिती से साल भर में ४३४) ब्याज के होते हैं। यदि यही रक़म लगातार २५ वर्ष तक ब्याज पर चला करे तो पच्चीसवें वर्ष की कार्तिक बदि अमावास्या को उस सात हज़ार की रक़म के तीस हज़ार चेहरशाही रुपया बन कर सेठ जी की गिनती लखपतियों में होने लगजावे घर का सारा दरिद्र दूर होजाय। इस तीस हज़ार की रक़म को सेठ जी के बेटे पोते फिर पचास वर्ष तक यदि ब्याज की रेल पर चलाते रहें तो फिर कभी ढलती ढलती चांदनी से सेठ जी की सेठाई टूट भी जाय तो ढाई पीढ़ी दर पीढ़ी बनी रहे। परन्तु जूआ जिस प्रकार व्यसन होता है, गहने का भी एक व्यसन है, कि जिस के मारे अपनी प्रत्यक्ष हानि भी सुहा जाती है। यह इसी दुर्व्यसन का कारण है कि सात हज़ार की रक़म के तीस हजार होना भी अच्छा नहीं लगता और उसे गहनों में फन्ध कर घड़ाई, टुटाई, बदलाई; और घसाई द्वारा पच्चीस वर्ष में जाकर उस सात हजार की रक़म का चार हज़ार हो जाना अच्छा लगता है! फिर चांदी सोने का भाव भी कम ज्यादे हुआ करता है, जिस से गहने की क़ीमत में घाटा बाधा सम्भव है। परन्तु इस घाटे बाधे का लोभ त्याग यदि फालतू रक़मों का डिब्बा ब्याज के इञ्जन के साथ जोड़ दिया जाय तो वही "गहने बाजी,, के जुआरी शाहनशाही हुन्डी वाले कहलाने लगें ॥

मुझे विश्वास है कि यदि यह हिसाब स्त्रियों को समझा दिया जाय तो वे गहनों के लिये कभी हठ न करें। इस आर्थिक लाभ के सिवाय भी गहने-बाजी के कम होने से अनेक फ़ायदे हैं. वे भी सुन लीजिये। प्रथम तो जोखम पास न रहने से रात आराम से कटेगी। गहना पहनने का शौक़ कम होने से ओछे कपड़े पहन कर खेल तमाशे में जाने और गहनों की छटा दिखाने का भी होसला घटेगा। जब स्त्रियों का प्रेम गहनों पर न्यून होगा तो बालकों को गहनों द्वारा सताने का अन्याय भी घटेगा; गहने का रिवाज हलका होने

से बिरादरी की रीत-रसम भी हलकी और निभाऊ हो सकेगी, गहनों की प्रदर्शिनी के लोभसे ओछे लत्ते पहनने से स्त्रियों का कोमलांग खुला रह कर गर्मी सर्दी से विकृत हो जाता है, सो न होगा। फिर दूसरों के गहनों को देख कर जो लोग जल भुन जाते हैं उन की टमस्कार की फटकार से बचाव हो सकेगा। सोना पहनने से स्त्रियों के स्वभाव में चञ्चल पन हो जाने से जो अनर्थ हो रहा है सो न होगा। अधिक गहना धारण करने से शरीर को जो हानि पहुंचती है सो न होगी;

मेरा यह कथन कदापि नहीं है कि गहना बिलकुल मत पहनो। नहीं अपनी हैसियत मोफिक उतना आभूषण रखने में विशेष हानि नहीं कि जितना पति चित्त विनोद के लिये अवश्यक हो और पति चित्त रञ्जन के लिये बहुत थोड़ी और हलकी रकमें काफी हो सकती हैं

पति के घर होने पर ही स्त्री शृङ्गारादिक करती हो सो बात नहीं है आज कल पति चाहे घर हो चाहे विदेश में, स्त्रियें जाति बिरादरी में जायें बिना, शृङ्गार किये बिना, और गीत गाल गाये बिना नहीं रह सकतीं। परन्तु वैश्य स्त्री आज विद्या हीन होने के कारण पशुसमान हो रही हैं शास्त्रों के वचनों को गाय बैल आदिक पशु समझते हों तो वैश्य नारी समझें। इसी लिये पतिव्रत धर्म सम्बन्धी शास्त्रवचन सर्वथा लुप्तार्थ हो रहे हैं हमारे धर्म-शास्त्रों में स्पष्ट आज्ञा है कि–

हास्यं पर गृहे वासं समाजोत्सवदर्शनम् ।
क्रीडां शरीर संस्कारं त्यजेत्प्रोषित भर्तृका ॥

अर्थात् जिस स्त्री का पति परदेश में हो उस को चाहिये कि हंसना पराये घर रहना; जाति बिरादरी में जाना; खेलना शृङ्गार करना इत्यादि बातें न करे। ऐसे२ वचनों से शास्त्र भरे हुवे हैं

अपना धर्म गंवाती हैं। निन्दित आचर्णों द्वारा पवित्र आर्य्य धर्म के बट्टा लगाने वाली हतभागनी कुलटागण! यदि तुम जन्मते ही आंख मीच लेती तो तुम्हारे जघन्य आचर्णों से तुम्हारा पीहर और सुसराल क्यों कलङ्कित होते

अरी मूर्खाओं ? जितना कष्ट तुम इन दूषित कामों के करने में उठाती हो। यदि उतना आनन्द तुम पतिव्रत धर्म के शुद्ध आचरण करने में लेतीं तो क्यों तो तुम कुल कलंकिनी कहलातीं और क्यों गोद पुत्र रत्न के लिये तरसतीं।

पति जिस व्रत का आचरण करे अथवा पति कोई तीर्थयात्रा करे तो स्वामी का अनुसरण करना स्त्री का मुख्य धर्म है और ऐसी अवस्था में पति की आज्ञा के साथ तीर्थ वृतादि करना अन्य धर्म नहीं कहलाता और इसी हेतु से जिन शास्त्रों में स्त्री और पुरुष दोनों के लिये तीर्थ वृतादिक धर्म्म का सामान्य विधान पाया जाता है; उस का तात्पर्य यही है कि पुरुष की अनुगामिनी होकर स्त्री वृतादि का आचरण चाहे करे परन्तु पति के अग्र गामिनी होकर तीर्थ; वृत. करना सर्वथा वर्जित है पद्म पुराण के भूमि खण्ड में लिखा है कि:-

युवतीनां पृथक्तीर्थं बिना भर्त्रा द्विजोत्तम ? ।
सुखदं नास्ती वै लोके स्वर्गमोक्षप्रदायकम् ॥

अर्थात् पती के साथ बिना स्त्री का तीर्थयात्रा करना न इस लोक में सुख दायक है और न परलोक में स्वर्ग अथवा मोक्ष कारक है
कर्म विपाक के निम्न लिखित वचन पर विश्वास कर सकें। अर्थात्-

तीर्थस्नानार्थिनी नारी पतिपादोदकं पिवेत ॥
विष्णो वा शंकराद्वापि पतिरेवाधिकः प्रियः ॥

अर्थात् जिस स्त्री को तीर्थ करने की अभिलाषा हो उसे चाहिये कि विष्णु और शिव से अधिक पूजनीय निज पतिका चरणोदक पान करे।

पतिकी इच्छा के विरुद्ध व्रत करना उलटा पति की आयु घटाना है, जैसा कि भृ० भा० कर्म विपाक का वचनः-

व्रतोपवासनियमं पतिमुल्लङ्घ्य नाचरेत् ।
आयुष्यं हरते पत्युर्मृता निरयमेति च ॥

अर्थात् जो स्त्री पति की आज्ञा बिना व्रत अथवा अन्य कोई नियम धारण करती है वह स्त्री पतिकी आयु हरण कर आप मरने पर नरक गामि नी होती है ।

चाहिये कि श्री कृष्ण भगवान् ने श्री नन्दराय जी से (कृष्ण जन्म खण्ड में) पतिव्रताओं का जो धर्मोपदेश किया है । उस के अनुसार चलें । वह धर्म यह है–

पतिव्रतानां योधर्म्म स्तान्निबोध व्रजेश्वर !
नित्यं भक्त्युत्सुकया तत्पादोदकमीप्सितम् ॥
भक्तिभावेन सततं भोक्तव्यं तदनुज्ञया ।
व्रतं तपस्यां देवार्चां परित्यज्य प्रयत्नतः ॥
कुर्य्याच्चरणसेवां च स्तवनं पतितोषणम् ।
तदाज्ञारहितं कर्म न कुर्य्याद्विरतः सती ॥
नारायणात् परं कान्तं ध्यायते सततं सती ।
परपुंसां पुरं चैव सुवेशं पुरुषं तथा ॥
यात्रामहोत्सवं नित्यं नर्त्तकं गायनं व्रज !
परक्रीडां च सततं नहि पश्यति सुव्रता ॥
यद्भक्ष्यं स्वामिनो नित्यं तदेव मपि योषितः ।
नहि त्यजेतु तत्संगं क्षणमेव च सुव्रता ॥
उत्तरे नोत्तरं दद्यात् स्वामिनश्च पतिव्रता ॥
न कोपं कुरुते क्रुद्धा ताडनाच्चापि कोपतः ॥
क्षुधितं भोजयेत्कान्तं दद्यात्पानं च तोशणे ॥
न बोधयेत्तं निद्रालुं प्रेरयेन्नैव कर्मसु ।
पुत्राणां च शतगुणं स्नेहं कुर्य्यात्पतिं सती ॥

पतिर्बन्धुर्गति भर्त्ता दैवतं कुलयोषितः।
शुभदृष्टया सुधातुल्यं कान्तं पश्यति सुन्दरी ॥
सास्मितं वदनं कृत्वा भक्तिभावेन यत्नतः।

जिस का भावार्थ यह है कि पतिव्रता नारी को चाहिये कि नित्य प्रति बड़ी उमङ्ग के साथ भक्तिपूर्वक पति की आज्ञा में रहती हुई पतिचरणामृत ग्रहण करे। व्रत तपस्या देवपूजन को प्रयत्न पूर्वक त्याग कर पतिचरणों की सेवा और स्तुति द्वारा पति को प्रसन्न करे। पति आज्ञा बिना कोई काम नहीं करना, नारायण से भी अधिक पूजन के योग्य पति को समझ कर उसी की सेवा करना, पराये मनुष्यों के घर नहीं जाना, अच्छे वस्त्रालंकार पहने हुवे परपुरुष की ओर नहीं झांकना, यात्रा महोत्सव में नहीं जाना। न नाचना न गाना न दूसरों की क्रीड़ा को देखना। जो भोजन स्वामी करें। सोही आप करना (अर्थात् स्वामी को जो भोजन कराया जाय उस से उत्तम भोजन स्त्री न करे) और (बने जहांतक) पति से क्षण भर अलग न होना पतिके साथ उत्तर प्रत्युत्तर न करना। यदि पति कोप सहित स्त्री को ताड़ना भी करे तथापि पतिपर क्रुद्ध न होना। स्वामी को भूख लगे तब भोजन देना। प्यास लगने पर जल पिलाना, नींद से पतिको नहीं जगाना। किसी काम के लिये पति को प्रेरणा नहीं करना। पुत्रों से सौगुणा प्यार पति के साथ करना। कारण कुल स्त्री का बंधु गति और भर्त्ता पति ही है इस लिये अमृत के समान शुभ दृष्टि और फूले मुख से भक्ति पूर्वक अपने कान्त का दर्शन करना चाहिये कृष्ण परमात्मा के ऐसे २ उपदेशों को सुनकर भी यदि तुम पति सेवा त्याग व्रतादिक करोगी तो फिर सुहागन और विधवा में अन्तर क्या रहा, क्योंकि बृहद्धर्म पुराण में साफ लिखा है कि:-

सधवानां हि नारीणां नोपवासादिकं व्रतम्।
पत्याज्ञया चरद्यत्तु तत्तु तासां परं व्रतम् ॥

अर्थात् सुहागन नारियों के लिये उपवास व्रत का विधान नहीं है। पति

की आज्ञा पालना ही स्त्री का व्रत है ॥

स्त्रियें खूब जानती हैं कि देह का कुछ ठिकाना नहीं है, बहुत स्त्रियें तीर्थ व्रत और झूठे विषम धर्म में अपना जीवन खोकर विधवा होजाती हैं। तब उनको पछतावा आता है कि हा ! मैंने शुद्ध प्रेम और एकाग्र भक्ति पूर्वक पति के साथ सुख भोग नहीं किया। परन्तु लाख पछतावे करने पर भी पति भक्तिका वह सुगम अवसर फिर नहीं मिलता। किसी शुभ कर्म के प्रभाव से परमेश्वर तुल्य साक्षात् पति देव की सेवा, पूजा करने को स्त्री को एकही बेर अवसर मिलता है। इस अवसर को तीर्थ व्रतादिक नकली धर्म के जालमें फंसकर न गवांवे यदि स्त्री अपने पतिदेव की भक्तिमें दत्तचित्त हुई तो फिर इस सौभाग्यवती नारी का पति के साथ कभी भी विछोह नहीं होता और वह अनन्त काल तक पति के साथ वैकुंण्ठ में सुख विहार करती है। ऐसी पतिव्रता नारी स्वतः तीर्थ रूप है। ऐसी पति परायणा रमणी के नामोच्चारण से पाप मुक्त होते हैं ॥ यथा पद्मपुराण का वचन–

पति व्रताख्यं पापघ्नं नारीणां गति दायकम् ।
पुण्या स्त्री कथ्यते लोके या सा पतिपरायणा ॥

अर्थात् जो पतिव्रता स्त्री पति सेवा में परायण है उस पुण्या स्त्री के नामोच्चारण करने ही से पाप दूर होते हैं।

पति आज्ञा विना व्रतादिक अन्य धर्म करने से निराश्रय नरक मिलती है यथा कर्मविपाक का वचन–

अन्यधर्माश्रिता नारी निरयं यात्वनाश्रयम् ।
करोति स्वामिनाज्ञप्ता सोपवासव्रतादिकम् ॥

पतिव्रता कहलाने का अभिमान रखने वाली गृह लक्ष्मियों को यह दोहा सदा याद रखना चाहिये कि:–

पति सेवा सुख छोड़ के अन्य धर्म चित लाय

सधवा को सुख त्याग के विधवा भक्तन थाय ॥

अर्थात् पतिसेवा के अपूर्व सुख को छोड़ तीर्थ व्रतादि दूसरे धर्म में मन लगाना। सधवा होकर जानबूझ कर विधवा और भक्तन होना है श्रीमद् भागवत के सातवें स्कन्ध का वचन है कि:-

स्त्रीणां च पतिदेवानां तच्छुश्रूषानुकूलता ।
तद्बन्धुष्वनुवृत्तिश्च नित्यं तद्व्रतधारणम् ॥
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां गृहमण्डनवर्तनैः ।
स्वयं च मण्डिता नित्यं परिमृष्टपरिच्छदा ॥
कामैरुच्चावचैः साध्वी प्रश्रयेण दमेन च ।
वाक्यैः सत्यैः प्रियैः प्रेम्णा काले काले भजेत्पतिम् ॥
या पतिं हरिभावेन भजेच्छ्रीरिव तत्परा ।
हर्यात्मना हरेर्लोके पत्या श्रीरिव मोदते ॥

अर्थात् पति ही जिन के देव हैं ऐसी पतिव्रता स्त्रियों का धर्म और व्रत यही है कि पति की आज्ञा के अनुसार चलना और पति के बन्धुगणों का यथा योग्य पूजन सत्कार करना, तथा घर को झाड़ बुहार कर स्वच्छ रखना, बरतन भांडे और आभूषणों को संभाल कर रखना और आप स्वयं वेष भूषण से अलङ्कृत हो पति की प्रीति लाभ करना, यही स्त्रियों का व्रत और नियम है साध्वी स्त्रियों को चाहिये कि अपनी इन्द्रियों को वश में रख सत्य और मधुर भाषण तथा सत्कार पूर्वक पति की आज्ञा में रहती हुई सदा सर्वदा पति की सेवा करती रहे। जो पतिव्रता नारी अपने पति को लक्ष्मी की भांति विष्णु भाव रख कर भजती है वह वैकुण्ठ में हरि रूपी पति के साथ लक्ष्मी की नाईं नाना प्रकार के सुख भोग करती है ॥

कहिये इस से बढ़कर स्पष्ट और प्रमाणिक वचन क्या हो सक्ते हैं। प्राचीन काल की स्त्रियों का लक्ष्य पतिव्रत धर्म पर यहां तक रहता था

कि कन्या सुसराल को जाती समय अपने मात पिता से पूछा करती थी कि मुझको सुसराल में क्यों कर बरतना चाहिये। और माता, पिता अपनी कन्या को इस अवसर पर ऐसी योग्य शिक्षा देते थे कि जिस के अनुकरण द्वारा कन्या सुसराल में जाकर पातिव्रतधर्म की सर्वोच्च पदवी प्राप्त कर अपने पीहर और सुसराल दोनों को कृतकृत्य करती थी ॥

यहां भविष्योत्तर पुराण का एक इतिहास लिखा जाता है जिसमें कन्या शीला ने सुसराल को जाती समय अपने पिता सुमन्त से इस प्रकार प्रश्न किये हैं:-

भर्त्तरी व्यवहर्तव्यं मया तात ! कथं वद ? ॥
तं प्रयान्तं समालोक्य कौण्डिन्यं शीलया सह ।
तामुवाच सुमन्तश्च पृच्छतीं हितमात्मनः ॥
तृषितः क्षुधितः काले मिष्टपानान्नभोजनैः ।
सन्तोष्यः सर्वदा भर्त्ता व्रतमेतत्तवात्मजे ! ।
निवारयति यत्स्वामि तन्नेच्छेत कदाचन ॥
प्राणान्तेनाऽपि नो कार्य्यं यदीच्छेदात्मनः शुभम् ।
यच्छिक्षयति तद्ग्राह्यं नान्यदेव कदाचन ।
नचासम्यग्विवक्षेत न रूक्षां वाचमावदेत् ॥
नासाध्वीभिः सहालापं नारी कुर्यात् कथञ्चन ॥
साकांक्षमन्यपुरुषं नेच्छेत मनसापि वा ॥
एवंविधा तु या नारी भवत्यात्महिते रता ।
विनाप्यौषधमन्त्राभ्यां तस्यास्तुष्यति सत्पतिः ॥

अर्थात्- हे पिता जी ! पति के साथ किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये सो मुझ को बतलाइये ?

अपनी पुत्री शीला के साथ उसके पति कौण्डिन्य को जाते देख अपनी हित की बात पूछने वाली शीला को पिता सुमन्त इस प्रकार कहने लगे:-

हे लीले ! जब तेरे स्वामी प्यासे होवें तो उनको पीने के लिये शरबत अथवा ठंडाई बनाकर देना, और जब पति भूखे हों तो सुन्दर भोजन बनाकर खिलाना, हे बेटी ! तू इसी को अपना व्रत समझना। जिस बात के लिये तुझे तेरे पति मना करें उसे तू कदापि मत करना। यदि तू अपना हित चाहे तो जीवे जब तक स्वामी जिस काम का निषेध करें उसे कदापि मत करना। स्वामी तुझे जो बात सिखलाये उसे अवश्य सीखना। स्वामी की सीख के बिपरीत काम कभी भी न करना। पति को गैरवाजबी अथवा ओछा बोल कभी मत बोलना। खोटी लुगाइयों के साथ कभीभी बात चीत मत करना। इच्छा करके दूसरे पुरुष की तरफ कभी भी मत झांकना। अपना कल्याण चाहने वाली जो स्त्री इस प्रकार अपने आचरण रखती है उस पर बिना औषध मन्त्र के ही उत्पति सन्तुष्ट होजाता है ॥

हाहा! क्या ही उत्तम उपदेश है। क्या ही अमृत तुल्य शिक्षा है। स्त्री के सदा चारका क्या ही उत्तम चित्र हो। यदि इस रमणीय चित्र को हरएक अपने हृदय के चौखटे में जड़ाकर धारण करने लगें तो इस के दिव्य प्रकाश में सुवर्ण के सम्पूर्ण मिथ्या आभूषण मन्द ज्योति होजायें। जिसके होने ही से मिथ्या शोभा, ओछापहरान इत्यादि कई अनिष्ट बातें जो आज कल आभरणों की चकाचौंध से होजाती है, वे सहज ही दूर होजावें भगवद्गीता में श्री कृष्ण का बचन है कि:-

अधर्मं धर्म मिति या मन्यसे तमसा वृताः ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जिनकी बुद्धि पर अज्ञान का पोता फिरा हुआ है वेअधर्म को भी धर्म ही मानने लगते हैं। और ऐसे लोगा के सम्पूर्ण आचरण शास्त्र विरुद्ध होते हैं ॥

" को न याति वशं लोके मुखे पिण्डेन पूरिते
मृदङ्गो मुख लेपेन करोति मधुर ध्वनिम् " ॥

इस नीति बचनानुसार ऐसा कौन है कि जो मुख भर जाने पर मीठी बात न बनाने लगे। कारण- मुरदार मृदङ्ग का मुख भी जब भर दिया जाता

है तो बड़ी मीठी २ ध्वनि निकालने लगती है। तब तो कहते हैं कि जब पशुओं की नसों में इसने पहिले ही से मिठाई का नस्तर लगा रक्खा है, तब हमारे आचरणों को देखने वाला ऊपर भगवान् और नीचे पृथिवी माता के सिवाय कौन है ॥

यदि आज कल की मूर्ख स्त्रियें यह समझती हों कि जिस प्रकार तीर्थ व्रतादिक कर्म मनुष्य के लिये कर्त्तव्य हैं उसी प्रकार स्त्री का भी वही धर्म्म है तो यह इनकी प्रत्यक्ष मूर्खता है। कारण, सौभाग्यवती स्त्री के लिये पति सेवा के अतिरिक्त कोई धर्म नहीं– यथा भृगु भारतीय कर्म विपाक का वचन–

पतिव्रतात्परं नास्ति स्त्रिणां श्रेयस्करं व्रतम् ।
धर्मं कामं च मोक्षं च सर्वं प्राप्नोत्यतो यतः ॥
अन्येषामन्यधर्मः स्यात् स्त्रीणां पतिनिषेवणम् ।
न गच्छे त्तीर्थ यात्रादि विवाह प्रेक्षणादिषु ॥

अर्थात् पतिव्रत से उत्तम व्रत स्त्रियों को दूसरा नहीं है। पतिव्रत ही से स्त्री धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थ पा सकती हैं। और औरों के लिये और धर्म विधान है। परन्तु सौभाग्यवती स्त्रियों को केवल पति सेवा ही का विधान है तीर्थ यात्रा करना और विवाहादि उत्सवों में जाना, पतिव्रता स्त्री के लिये वर्जित है। पति के वर्तमान होते जो स्त्री तीर्थ व्रत देवार्चन आदि धर्म सम्बन्धी दूसरा कर्म करती हैं उनकी जो दशा होती है वह पद्मपुराण के भूमि खण्ड में इस प्रकार लिखी है–

नारीणां सर्वदा तीर्थं भर्ता शास्त्रेषु पठ्यते ।
मनसा पूजयेन्नित्यं शुद्धभावेन तत्परा ॥
पति पार्श्वं महा तीर्थं दक्षिणाङ्गं सदैवहि ।
तमाश्रित्य सदा नारी गृहं च परि वर्जयेत् ॥
सुसुतंपुत्र सौभाग्यं स्थानं माल्यं च भूषणम् ।

वस्त्रालंकार सौन्दर्य रूपं तेजः कलाः सदा ॥
यशः कीर्ति मवाप्नोति गुणं च वरवर्णिनि ।
सर्वं तस्य प्रसादाश्च लभते नात्र संशयः ॥
रुष्टे भर्त्तरि तस्याश्च रुष्टा वै सर्व देवताः ।
तुष्टे भर्त्तरि तुष्यन्ति ऋषयो देव मानवाः ॥
भर्त्ता नाथो गुरुर्भर्त्ता भर्त्ता दैवत दैवतम् ।
भर्त्ता तीर्थं च पुण्यं च नारीणां नृप नन्दिनि ॥
विद्यमाने यदा कान्ते धर्म मन्य करोति या ।
निष्फलं जायते तस्याः पुंश्चली परिकल्पते

अर्थात् सधवा स्त्रियों के लिये सर्वदा भर्त्ता ही को शास्त्रों में तीर्थ माना है इस लिये शुद्ध भाव और पवित्र मन से वाणी शरीर और कर्म द्वारा केवल पति ही की सेवा में तत्पर रहना स्त्री का मुख्य धर्म है । स्त्री के लिये पतिका पार्श्व देश (पखवाड़ा) ही सर्वदा निकटवर्त्ती महातीर्थ एवं दक्षिणाङ्ग समझा गया है । इस लिये गृहकार्य्य को छोड़कर भी पतिका आश्रय करना चाहिये। उसमें सुख, पुत्र, सौभाग्य, उत्तम स्थान, माल्य, वस्त्रालंकार, रूप, सौन्दर्य, यश, कीर्ति, गुण और सब वांछित पदार्थ स्त्री को पति ही की प्रसन्नता से मिलते हैं । जिस स्त्री के साथ उसका पति रुष्ट है उस हतभागिनी नारी के साथ सब देवता रुष्ट हैं और जिस रमणी के साथ उसका पति तुष्ट है उस भाग्यवती स्त्री के साथ देव, ऋषि और मनुष्य सब प्रसन्न हैं । स्त्री का नाथ गुरु परमदेव तीर्थ और पुण्य सब कुछ एक मात्र पति है । इस लिये पतिके जीते जो स्त्री पति सेवा के सिवाय तीर्थ व्रतादिक अन्य धर्म करती हैं वह सब कर्म निष्फल होते हैं और उस स्त्री की "व्यभिचारिणी" संज्ञा होती है शङ्ख ऋष्युक्ति -

न परपुरुषं भाषेत । ००० न हसेदप्रावृता । भर्त्तारं तद्व

न्धुना न द्विष्यात् । न गणिका धूर्त्ताभि सारिणी प्रव्रजिता प्रेक्षणि कामायामूल कुहक कारिका दुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत्सं । संगेणहि चरित्रं दुष्यति ॥

अर्थात् पराये पुरुष के साथ बात चीत न करे । न हंसे, न ... के स्वामी और पतिके बन्धु वर्गों के साथ द्वेष न करे, वेश्या, धूर्तिनी, कुटनी, सन्यासन. तमाशे गीरिनी. कपटन, ठगणी. और खोटे चाल चलन वाली स्त्रियों के संग न बैठना—

स्त्रियों का पति व्रत धर्म और तत्सम्बन्धी अन्यान्य विषय ऊपर बतला दिये गये हैं । अब जिन बातों का स्त्री के लिये निषेध है वह नीचे लिखी जाती है ॥ स्कन्द पुराणे—

उच्चासनं न सेवेत न व्रजेत्परवेश्मसु ।
न त्रपाकर वाक्यानि वक्तव्यानि कदाचन ॥
अपवादो न वक्तव्यः कलहं दूरतस्त्यजेत् ।
गुरूणां सन्निधौ क्वापि नोच्चं ब्रूयान्न वा हसेत् ॥

अर्थात् पति अथवा गुरु जन के सन्मुख ऊंचे आसन पर न बैठना. पराये घर न जाना, निर्लज्ज बात नहीं करना, दुर्वचन न कहना, कलह से दूर रहना. बड़ों के सामने जोर से नहीं पुकारना न बोलना और न हंसना ॥

स्त्री पुष्पिणी त्रिरात्रं च स्वमुखं नैव दर्शयेत् ।
स्ववाक्यं श्रावयेन्नापि यावत्स्नाता न शुद्ध्यति ॥
सुस्नाता भर्तृवदनं वीक्षेदन्यस्य न क्वचित् ।
अथवा मनसि ध्यात्वा पतिं भानुं विलोकयेत् ॥

अर्थात् रजस्वला होने पर तीन दिन तक अपना मुख किसी को भी न दिखलावे और शुद्ध स्नान करने तक किसी को अपनी आवाज सुनने नहीं.

शुद्ध स्नान करने पर पति का मुख देखे, दूसरे का मुख कदापि नहीं देखना यदि पति पास न हो तो उसका ध्यान मन में करके सूर्य देव का दर्शन करे वशिष्ठसंहितायाम्—

त्रिरात्रं रजस्वलाऽशुचिर्भवति। सा नाञ्ज्यात् ।नाभ्यञ्ज्यात्। नाप्सुस्नायात्। अधःशयीत। दिवा न स्वप्यात् नाग्निं स्पृशेत् दन्तान्धावयेत्। ००० न ग्रहान्निरीक्षेत्। नहसेन्न किंचिदाचरेत्

अर्थात् रजस्वला स्त्री ३ दिवश तक अपवित्र रहती है इन तीन दिनों में नेत्रों को आंजना शरीर में उबटन करना जलाशय के बीच स्नान करना पलंग पर सोना दिन में सोना अग्नि को छूना दांतों को मांजना सूर्य चंद्रादि ग्रहों को देखना हंसी करना अथवा गृह कृत्य करना सर्वथा वर्जित है ॥ भृगुभारतीय कर्म विपाके—

न च दुर्भगया सार्द्धं कथनं कुरुते सती ।
भर्त्तुर्विद्वेषिणीं नारीं नैव संभाषयेत् क्वचित्।
उलूखलं च मुसलं मार्जनीं चुल्लिमेवच ।
न लंघयेन्नोपविशेन्न च पादेन संस्पृशेत् ॥

अर्थात् कर्कशा स्त्री के साथ वार्त्तालाप नहीं करना । अपने पति के साथ द्वेष रखने वाली स्त्री से बात चीत नहीं करना । ऊखल, मूसल, झाडू चूल्हा इन सबों को न उलांघना और न पैर से स्पर्श करना ॥

मनु संहितायाम्—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोटनम् ।
स्वप्नश्चान्य ग्रहे वासो नारीणां दूषणानि षट ॥

अर्थात् नशे की वस्तु पान करना दुष्ट जनों का संसर्ग पति से अलग रहना; इधर उधर घूमना, दूसरों के घर सोना अथवा रहना. यह ६ बातें

स्त्रियों के लिये विपत्ति हैं ॥

व्यास संहितायाम्—

नोच्चैर्वदेन्न परुषं न बहून् पत्युर प्रियम् ।
न केनचिद्विवदेच्च अप्रलाप विलापनी ॥
न चातिव्ययशीला स्यान्न धर्मार्थ विरोधिनी ।
प्रमादोन्मादरोषेर्ष्यावञ्चनं चाभिमानिताम् ॥
पैशुन्यहिंसाविद्वेष महाहंकार धूर्त्तताः ।
नास्तिक्य साहसस्तेय दम्भान्साध्वी विवर्जयेत् ॥

अर्थात् पतिव्रता को चाहिये कि जोर से न बोले. किसी को चुभती बात न कहे. बहुत न बोले और पति की खोटी बात न करे किसी से विवाद न करे, और बहुत खर्च न करे और इधर उधर की फिजूल बातें न करे, आज कल स्त्रियों का हृदय न जाने क्यों ऐसा कठोर होगया है कि अपने पति को विदेश में अकेला भेज देती हैं और आप वर्षों तक जुदी रह कर भी पति की परवाह नहीं करतीं। परन्तु जिन्हो ने रामायण की परम पुनीत कथा सुनी है वे जानते होंगे, सीता माता राजकीय सुख भोग छोड़ कर भी अपने पति श्री रामचन्द्र जी महाराज के साथ जंगल जंगल फिरीं। परन्तु उनका साथ नहीं छोड़ा ॥

भगवान् श्री रामचन्द्र वनवास गमन समय में जब महात्मा अत्रि मुनि के आश्रम को पधारे हैं उस समय उनकी पत्नी महा तपस्विनी अनसूया और श्रीमती सीता जी के बीच जो वार्त्तालाप हुआ है वह दुष्ट स्त्रियों को भी पतिव्रता बनाने योग्य है— यथा आरण्य काण्ड—

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते! मुक्तं मानं च भामिनी ! ।
अनुरागाद्वनं रामं दिष्ट्या त्वमनुगच्छसि ॥
नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुभः ।

यासां स्त्रीणां प्रियो भर्त्ता तासां लोका महोदयाः
अशीलः कर्मवृत्तो वा धनैर्वा रहितो ऽपि वा ।
स्त्रीणामार्य्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः ।
नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं वा कुलस्त्रियः ।
न त्वेतदगच्छन्ति शीलदोषादसत्स्त्रियः ॥
काम मव्यक्तहृदया भर्तारं व्युच्चरन्ति याः ।
प्राप्नुवन्त्ययशः पापा धर्म्मभङ्गं च मैथिलि ! ॥
अकार्य्यवशमापन्नास्तादृश्यः खलुताः स्त्रियः ।

अनसूयां प्रतिसीतावाक्यम्

नैदमाश्चर्य्यमार्य्यायां यथेदमनुशाधि माम् ॥
विदितंहि मयाऽप्येतद् यथा स्त्रीणां पतिर्गतिः ।
यद्यप्येष भवेद्भर्त्ता ममार्य्ये ! वृत्तवर्जितः ॥
अथैतेनोपचर्य्यश्च तथापि नियतं मया ।
किं पुनर्योगुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥
स्थिरानुरागो धर्मात्मा मातृपित्रोः सदाप्रियः ।
पतिशुश्रुषणान्नार्य्यास्तपोनान्यद्विशेषतः ॥
सावित्री पतिशुश्रुषां कृत्वा स्वर्गे महीयते ।
तथैवारुन्धती याता पतिशुश्रुषया दिवम् ॥
विशिष्टा सर्व नारीणां तथैकपति देवता ॥
रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्त्तमपि वर्त्तते ॥
एवं विधाश्चाप्यपराः स्त्रियो भर्त्तृदृढव्रताः ।
देवलोके महीयन्ते पुण्यैरेव स्वकर्मभिः ॥

भावार्थ

हे सीते ! तुम स्वजाति कुटुम्ब सुख और मान त्याग कर अनुराग पूर्वक रामचन्द्र जी के साथ वन में भी चली आई हो यह तुम्हारा सौभाग्य है । प्रति अनुकूल हो या प्रतिकूल पापी हो चाहे पवित्र जिन स्त्रियों के पति ही प्यारी वस्तु है, उन स्त्रियों को इन्द्रादि लोक का सुख भी तुच्छ है । यद्यपि पति निन्दित स्वभाव अथवा पापकर्मरत अथवा धन हीन है; तथापि श्रेष्ठ स्व भाव वाली स्त्रियों का पति ही परम देवता है । पति के सिवाय पुरुष धन का विशिष्ट बान्धव दूसरा कोई नहीं है । परन्तु दुष्ट स्त्रियें अपने स्वाभाविक दोष से इस बात को नहीं जानतीं थीं जो दूषित हृदय वाली स्त्री इच्छा के अनु सार भर्त्ता का उल्लंघन करती है, हे मैथिलि ! वह पापात्मा स्त्री कुकर्म के वशीभूत होकर अपना धर्म भंग करती है और अयश को प्राप्त होती है ।"

अनसूया का यह वचन सुन कर सीता जी कहने लगीं हे आर्ये ! मुझे आप ने जो शिक्षा दी है वह श्रेष्ठ स्त्रियों के लिये कोई विचित्र बात नहीं है– स्त्री की पति ही गति है. यह मैं भी खूब जानती हूं । यह मेरे पति यदि निन्दित-व्यवहार युक्त भी होते तो मेरे लिये तो वही पूजनीय हैं । फिर यदि प्रशंसित गुण वाले, दयावान, जितेन्द्रिय और अचल [illegible] तथा माता पिता के प्यारे, जो मेरे स्वामी हैं, वे मेरे लिये [illegible] क्यों नहीं हों ? स्त्रियों के लिये "पतिशुश्रूषा" के सिवाय दूसरी तपश्चर्या की आवश्यकता नहीं । सावित्री पतिसेवा द्वारा ही स्वर्ग में पूजित हुई है । अरुन्धती जो स्त्रियों में श्रेष्ठ हुई है और जिसने स्वर्ग [illegible], इसका कारण भी पति सेवा ही है । चन्द्रकामिनि रोहिणी बिना अपने [illegible] चन्द्रमा के मुहूर्त्तमात्र भी नहीं रहती । इस प्रकार के दृढ़ पतिव्रत वाली स्त्रियें और भी अनेक हैं जो अपने पवित्र कर्म द्वारा देवलोक में पूजित हुई हैं । जब कि मनुष्य मूर्त्तिपूजन द्वारा अपने इष्ट देव में ऐसी श्रद्धा भक्ति पैदा लेता है कि प्रत्यक्ष [illegible] की भांति उस मूर्त्ति की सेवा पूजन करता है [illegible] ऐसी दशा में अपने पतिरूपी [illegible] प्रत्यक्ष [illegible] कि जो [illegible] पदार्थ देने में समर्थ है एकाग्र भक्ति और विशुद्ध प्रेम का न होना स्त्री का दुर्भाग्य

सूचित करता है- कारण या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी । त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु इस वचन द्वारा किसी भक्त की ईश्वर से प्रार्थना है कि हे नाथ । जैसी प्रीति अविवेकी आदमियों की विषयादिकों में है उसी अविचल प्रकार का अनुराग मेरा आप के स्मरण करने में न छूटे ' परन्तु स्त्री का इस से बढ़ कर सौभाग्य क्या हो सकता है कि मोक्ष प्राप्ति की आशा से पुरुष जिन भोग विलासादि विषयों को त्यागने की प्रार्थना करता है वही भोग विलास पति के साथ अनन्य प्रेम पूर्वक करने से स्त्री की सद्गति का मार्ग है । कहिये इस से बढ़ कर स्त्री के लिये सरल धर्म क्या हो ? और पति को सामान्य दृष्टि से देखना ही स्त्री के लिये महा अनर्थ का हेतु है और जबतक पत्नी अपने स्वामी को विष्णु रूप न समझेगी, तब तक उसमें शास्त्रानुकूल भक्ति का उत्पन्न होना कठिन है । इसी लिये ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का वचन है कि-

" कुत्सितं पतितं मूढं दरिद्रं रोगिणं जड़म् ।
कुलजा विष्णुतुल्यं च कान्तं पश्यन्ति सन्ततम् ॥

अर्थात् अच्छे घराने की स्त्री को उचित है कि अपने पति की चाहे वह कैसा ही खोटे स्वभाव वाला दुराचारी मूढ दरिद्री रोगी मूर्ख क्यों न हो । सदैव विष्णु भगवान की भांति सेवा पूजन करना चाहिये ॥

पतिदोषे महासाध्वी पतिं न निरष्ठुं वदेत ।
यदि सोढुमशक्ता च प्राणान्त्यजति धर्मतः ॥
पतिसेवाव्रतं स्त्रीणां पतिसेवा परं तपः ।
पतिसेवा परोधर्मः पतिसेवा सुरार्चनम् ॥
पतिसेवा परं सत्यं दानतीर्थाभिषेचनम् ।
सर्वदेवमयः स्वामी सर्वस्माच्च परं शुचिः ॥
सर्वपुण्यस्वरूपश्च पतिरूपी जनार्दनः ।
या सती भर्त्तुरुच्छिष्टं भुङ्क्ते पादोदकं सदा ॥

तस्या दर्शमुपस्पर्शं नित्यं वाञ्छन्ति देवताः ।
दम्पत्योः समता नास्ति यत्र यत्र इह मन्दिरे ॥
अलक्ष्मीस्तत्र तत्रैव विफल जीविते तयोः ।
सुस्वामिनि विभेदश्च परं दुःखं च योषिताम् ॥
शोकसन्तापबीजं च जीवितं मरणाधिकम् ।
स्वप्ने जागरणे चापि पतिः प्राणश्च योषिताम् ॥
पतिरेव गतिः स्त्रीणामिह लोके परत्र च ।

अर्थात् पति में कोई दोष भी पाया जाय तथापि पतिव्रता नारी को चाहिये कि अपने स्वामी को निष्ठुर वचन न कहे पतिसेवाही स्त्रियों का व्रत, परमतपस्या, परमधर्म, देवार्चन, सत्य, दान और तीर्थ स्वरूप है। स्त्रियों के लिये जनार्दन भगवान् का पुण्यस्वरूप भी पतिही है। जो पतिव्रता नारी नित्य अपने स्वामी का उच्छिष्ट भोजन और चरण मृत सेवन करतीहै उसके "दरस परस" की देवता लोगभी अभिलाषा रखते हैं। जिन घरों में स्त्री पुरुष के मध्य समता नहीं है वहां दरिद्रता का अवश्य करके निवास समझना चाहिये और उन प्राणियों का सन्सार में आना भी व्यर्थहै। पतिपरायणा स्त्रियों के लिये पति विच्छेद ही परमदुःख और शोक सन्ताप का प्रधान कारण समझाजाता है। यहां तक कि पातिवियोग सह कर जीना सती स्त्रियों को मरने सेभी बुरा लगता है। क्या सोते और क्या जागते पतिव्रता स्त्री पतिहीको अपना प्राण समझती है और वास्तव में पतिही स्त्रीकी दोनों लोकों में गतिहै॥

तीर्थ व्रतादि के जंजाल में बहुत काल तक उलझी रहने परभी स्त्रियों का अन्य धर्म त्याग कर केवल पतिशुश्रूषा में परायण होना यद्यपि कठिन नहीं है तथापि उसके मनमें यह शङ्का उत्पन्न होती है कि " यदि मैं केवल पतिही की सेवा करूं और तीर्थ व्रत देवपूजन को एकदम छोड़दूं तो यमराज मुझे अन्त समय में दण्ड प्रदान कर के नरक में डालदेंगे। उस समय मेरी सहाय का करने वाला कोई न होगा "। यदि सिर्फ इसी शङ्का के डर से

स्त्रियों ने पतिव्रत धर्म को छोड़ रक्खा है तो लीजिये हम उन्हे यमराज का लिखा हुवा पट्टा सोंपते हैं कि जिसको हमने वाराह पुराण में से उतारा है ॥

नारद प्रति यम वाक्य

न तस्या नियमो विप्र ! तपोनैव च सुव्रत ।
उपवासो नदानं च न दमो वा महामते ? ॥
यादृशी च भवेद्विप्र ? शृणु तत्त्वं समासतः ।
प्रसुप्ते या प्रस्वपिति प्रबुद्धे जाग्रति स्वयम् ॥
भुङ्क्ते तु भोजिते विप्र ! सामृत्युं जयति ध्रुवम्
मौने मौना भवेद्या तु स्थिते तिष्ठति या स्वयम्
सा मृत्युं जयते विप्र ? नान्यत् पश्यामि किञ्चन ।
एकदृष्टिरेकमना भर्त्तुर्वचनकारिणी ॥
तस्या बिभीमहे सर्वे ये तथान्ये तपोधन ?
देवानामपि सासाध्वी पूज्या परमशोभना ॥
भर्त्रावाहिता वापि प्रणत्याख्यायिनी भवेत् ।
वर्त्तमानापि विप्रेंद्र ! प्रत्यख्यातापि सा यदा ॥
तदेव तं संश्रयति पतिं नान्यं कदाचन ।
अनुविष्टेन भावेन भर्त्तारमनुगच्छति ॥
सा तु मृत्युमुखद्वारं न गच्छेद्ब्रह्मसम्भव !
एवं शुश्रूषते या तु सा मां विजयते सदा ॥
पतिव्रता तु या नारी तस्याश्चाहं कृताञ्जलिः ।
भर्तारमनुध्यायन्ती भर्त्तारमनुगच्छति ॥
भर्त्तार मनुशोचन्ति मृत्युद्वारं नपश्यति ।
गीतवादित्रनृत्यानि प्रेक्षणीयान्यनेकशः ॥

न शृणोति न पश्येत मृत्युद्वारं न पश्यति ।
स्नायन्ती तिष्ठती वापि कुर्व्वन्ती वा प्रसाधनम् ॥
नान्यंच मनसा ध्यायेत् कदाचिदपि सुव्रता ।
देवता अर्चयन्ती वा भोजयन्त्यथवा द्विजान् ॥
पतिं न त्यजते चित्तान्मृत्युद्वारं न पश्यति ।
भानौ चानुदिते या तु उत्थाय च तपोधन ?
गृहं मार्जयते नित्यं मृत्युद्वारं न पश्यति ।
चक्षुर्देहः स्वभावश्च यस्यानित्यं सुसंवृतः ॥
शौचाचारसमायुक्ता सापि मृत्युं न पश्यति ॥
भर्त्तुर्मुखं प्रपश्यन्ती भर्त्तुश्चित्तानुसारिणी ।
वर्त्तते च हिते भर्त्तुर्मृत्युद्वारं न पश्यति ॥
कथितैवं पुरा विप्र आदित्येन पतिव्रता ।
मया तु तस्माद्विप्रर्षे यथावृत्तं यथा श्रुतम् ॥
गुह्यमेतत्ततोदृष्ट्वा पूजयासि पतिव्रताम् -

भावार्थ-यमराज नारदमुनि को कहते हैं कि हे बुद्धिमान् विप्र ! पतिव्रता नारी को नियम तपस्या उपवास दान और दमका कोई प्रयोजन नहीं परन्तु उस का जो धर्म है सो मैं आपको संक्षेप से कहता हूं । जो नारी पति को सुला कर सोती है, पति के जगे पहले जग पड़ती है और पति को भोजन कराके आप करती है, उस पतिव्रता स्त्री पर मेरा बस नहीं चलता । पति के चुप रहने पर जो चुप हो जाती है और स्वामी के खड़े होने पर आपभी खड़ी रहती है, उस पर मेरा ज़ोर नहीं चलता । जो पति ही का दर्शन करती है, और जिस का मन हर समय पति ही में लगा रहता है, और जो स्वामी की आज्ञा में रहती है, उस पतिव्रता का हम सब कोप हर मानते हैं । ऐसी परमशोभना नारी देवताओं से भी पूजने योग्य है ।

पति जब पत्नी को कोई आज्ञा करे या कोई बात कहे तो उसका सत्कार के साथ उत्तर देना चाहिये और सदा पति ही का आश्रय करना चाहिये दूसरे का नहीं। जो नारी एकाग्र मनसे पति की आज्ञा में चलती है, उस पर मेरा बस नहीं चलता। जो नारी अपने भर्त्ता की सेवा में तत्पर है, उस के सन्मुख मैं हाथ जोड़ कर रहताहूं। जो नारी हर घड़ी अपने वल्लभ का ध्यान करती है; भर्त्ता की आज्ञा में रहती है और पति का चिन्तन किया करती है उस नारी को यमका मुख देखना नहीं पड़ता। पतिव्रता नारी जब स्नान करके केश संवारे अथवा और कुछ काम करे तबभी पति ही का चिन्तन करना चाहिये, और किसी का स्मरण मन में नहीं करना। (यदि पति की आज्ञा से अथवा पति के साथ) देवपूजन अथवा ब्राह्मण भोजन कराती होती हो तो भी मन में पतिही का ध्यान करना उचित है। सूर्य भगवान् के उदय होने पहले शय्या से उठ कर घर का झाड़ना बुहारना करना। आंख; देह और स्वभाव को लज्जा से ढके रखना, शौच और पवित्रता रखना। (देवदर्शन की अपेक्षा) पति ही का दर्शन करना और स्वामी के चित्त के अनुसार बरतना। और पति के सुख का काम करना। जिस स्त्री के आचरण ऐसे हों वही नारी पतिवृता कहलाती है। ऐसा मुझे पहिले सूर्यदेव ने कहाथा। यह पतिव्रताओं का गोपनीयवृत्तान्त जो मैंने सूर्यदेव से सुना था यह आप को कहाहै। और फिर भी मैं कहता हूं कि स्त्री के लिये सब धर्मों से पतिव्रता धर्म अति पवित्र माना गया है इस लिये मैं पतिव्रता स्त्री को जब देखता हूं तब उस का पूजन करता हूं।

पतिभक्ति स्त्री के लिये वास्तव ही में अमृत का कटोरा है। बल्कि काम धेनु भी कहे तो अत्युक्ति नहीं। कारण धर्म, अर्थ, काम; मोक्ष, ये चारों पदार्थ एक मात्र पतिभक्ति द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। अस्तु जिस चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिये पुरुष को बड़ी बड़ी विकट तीर्थयात्रा करनी पड़ती हैं, सहस्रावधि धनके व्यय से यज्ञ, दान, आदि धर्म करने पड़ते हैं, भूख प्यास की दुःसह वेदना सह कर व्रत उपवास करना पड़ता है, वही चतुर्वर्ग स्त्री को अपने प्रियतम की शुश्रूषा करने से यदि प्राप्त होजायतो फिर "पतिभक्ति" के काम धनु होने में कौन सी शङ्का रही ! इसी लिये किसी कवि ने कहा है कि:-

शुभं धर्म्यं कृत्यं प्रतिवहति नित्यं पतिरता ।
सदा भक्त्या चित्तं भ्रजति सुखवित्तं पतिरता ।
यशः कामं वामा श्रयति गुणधामा पतिरता ।
पतिप्रेमानन्दं भजति च न मन्दं पतिरता ॥

अर्थात्-पतिव्रता नारी नित्य ही शुभकर्मरूप "धर्म" का निर्वाह करती है, पतिरता नारी शुद्ध पति भक्ति द्वारा सुखरूप "अर्थ" को प्राप्त करती है, सद्गुण श्रया रमणी यशोरूप "काम" का सुखपूर्वक उपभोग करती है। पति परायणा नारी ही पतिप्रेमानन्दमय "मोक्ष" को प्राप्त होती है ॥

चतुर्वर्ग की प्राप्तिके ऐसे सुखसाध्य उपाय के होते भी जो नारी पतिव्रत धर्म का आचरण नहीं करती उससे बढ कर अभागन हो ही कौन सकती है? करुणामय ईश्वरने जगत् की स्थिति के लिये पतिपत्नी का ऐसा अटूट सम्बन्ध बना दिया है कि यदि शास्त्रानुसार अन्योन्य सद्व्यवहार के साथ इस का व्यवहार किया जाये तो जन्म जन्मान्तर में भी यह सम्बन्ध न छूटे। कारण ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का वचन है कि-

"सर्वा हि स्वप्रियं लब्धुं लभन्त जन्म वाञ्छितम् ।
तज्जन्म पतिलाभार्थं सर्वासां हि श्रुतौ श्रुतम् ॥
प्राक्तनो योहि यद्भर्त्ता स तस्याः प्रतिजन्मनि ॥

अर्थात्-सम्पूर्ण पतिव्रता स्त्री अपने प्यारे पति की प्राप्ति के अर्थ वाञ्छित जन्म लाभ करती है। पतिव्रताओं का जन्म अपने पतिकी प्राप्ति ही के लिये है। ऐसा वेदों से भी सुना जाता है। इस नियम से पूर्वजन्म में जिस पतिव्रता रमणी का जो स्वामी है वही पति उसका प्रत्येक जन्म में होता है। आहा! इस से अधिक सौभाग्य स्त्री का क्या हो सकता है कि यदि वह पतिव्रत धर्म पालन करे तो इस लोक में पति का वियोग हो जाने पर भी पुनर्जन्म में फिर वह अपने पति को प्राप्त कर लेती है। ऐसे ऐसे उदार नियमों के होते भी जो स्त्री पतिव्रत धर्म का पालन नहीं करती वह [illegible]

में कम मसीबमी है।

आजकल जब कभी स्त्रियें आपसमें मिलती हैं तो एक दूसरी को सदा चार के विरुद्ध ही शिक्षा देती है। पति से गहने कपड़े के लिये हठ करना सास जिठानी से लड़ झगड़ के जुदा होना

अब तनिक इन सुगली बातों को उन उपदेश भरी बातों के साथ मिलाइये कि जो प्राचीन काल की स्त्रियें आपस में मिलने पर किया करती थीं। यहां पर सत्यभामाजी और द्रौपदी के मध्य जो वार्तालाप एक समय हुई थी उसे महाभारत के वनपर्व से उद्धृत करके यहां लिखते हैं-

"अथाब्रवीत् सत्यभामा कृष्णस्य महिषी प्रिया।
सत्राजिती याज्ञसेनी रहसीदं सुमध्यमा ॥
केन द्रौपदि ? वृत्तेन पाण्डवानीधतिष्ठसि।
लोकपालोपमान्वीन् यूनः परमसंहतान् ॥
कथं च वशगास्तुभ्यं न कुप्यन्ति च ते शुभे।
अववश्याहि सततं पाणडवाः प्रियदर्शने ॥
मुखप्रेक्षाश्च ते सर्वे तत्वमेतद् ब्रवीहि मे।
व्रतचर्या तपो वास्ति स्नानमन्त्रोषधानि वा ॥
विद्यावीर्यं मूलवीर्यं जपहोमागदास्तथा।
ममाद्याचक्ष्व पाञ्चालि ! यशस्यं भगदैवतम् ॥
येन कृष्णे। भवेन्नित्यं मम कृष्णो वशानुगः"

भावार्थ- एक दिन श्रीकृष्ण की प्यारी सत्यभामाजी द्रौपदी जी को एकान्त में यह बात कहने लगी. हे द्रौपदी। तुम लोकपाल समान वीर्य-सम्पन्न पाण्डवों को किस प्रकार अपने वशीभूत रखने में समर्थ हो-हे सोहनी। वे किस भांति तुम्हारे ऊपर ऐसे वशीभूत हैं और कभी तुम पर कोप नहीं करते-हे पांचाली। पांचो पाण्डव तुम्हारे वश में रहते हैं और तुम्हारा

मुख देखे प्रसन्न होते हैं-इस का कारण क्या है ? सो कृपा करके मुझे बतलाओ। क्या यह तुम्हारे व्रताचरण-तप अथवा स्नान मन्त्र का फल है। अथवा यह कोई विद्याबल औषधबल जप अथवा होम का प्रभाव है। हे द्रौपदी ! जिस से मैं भी श्री कृष्ण को उसी प्रकार अपने वश कर सकूं और जिस से मेरे सौभाग्य और यश की वृद्धि हो ऐसा कोई उपाय मुझ को भी कृपा करके बतला-

एवमुक्त्वा सत्यभामा विरराम यशस्विनी ।
पतिव्रता महाभागा द्रौपदी प्रत्युवाच ताम् ॥
असत्स्त्रीणां समाचारं सत्य मामनुपृच्छसि ।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्त्तनम् ॥
अनुप्रश्नः संशयोवा नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
यथा ह्युपपेता बुद्ध्या त्वं कृष्णस्य महिषी प्रिया ॥
यदैव भर्त्ता जानीयान्मन्त्रमूलपरां स्त्रियम् ।
उद्विजेत तदैवास्याः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥
उद्विग्नस्य कुतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।
न जातु वशगो भर्त्ता स्त्रियाःस्यान्मन्त्रकर्मणा ॥
जलोदरसमायुक्ताः श्वित्रिणः पलितास्तथा ।
अपुमांसः कृताः स्त्रीभिर्जडान्धबधिरास्तथा ॥
पापानुगास्तु पापास्ताः पतीनुपसृजन्त्युत ।
न जातु विप्रियं भर्त्तुः स्त्रिया कार्यं कथञ्चन ॥

सत्यभामा जब यह बात कहकर चुप होगई तब पातिव्रता द्रौपदी ने उत्तर दिया- हे सत्यभामे ! तुम जानती हुई भी खोटी स्त्रियों के आचरणों की बात मुझ से पूछती हो। दुष्ट स्त्रियों के चलने का जो पंथ है उस विषय में उत्तर देना क्योंकर संगत होसकता है। इस लिये ऐसी नीचाओं के विषय में बात चीत करना तुम्हारे योग्य नहीं। कारण तुम बहुत बुद्धिमती और [illegible]

श्री कृष्ण की प्यारी पत्नी हो। जब पति अपनी स्त्री को जान ले कि वह उसे वशीभूत करने के लिये औषध अथवा मन्त्र का साधन करती है तो पति उसी समय से स्त्री के साथ इस प्रकार उद्विग्न होजायगा कि जैसा घरमें घूमते हुये सर्प को देख कर मनुष्य व्याकुल होजाता है। उद्विग्न मनुष्य के शान्ति नहीं रहती और शान्ति हीन मनुष्य को सुख कहां से हो। इस लिये मन्त्र कर्म द्वारा स्वामी कदापि वशीकृत नहीं हो सकता। कई स्त्रियें औषधि की विवेचना न कर पति को वश करने के अभिप्राय से औषध प्रयोग द्वारा पति को जलोदर युक्त, जड़ अन्धा अथवा बधिर करदेती हैं। ऐसी पापात्मा नारी गण अपने स्वामी को केवल दुःख पहुंचाती हैं। क्या पति को पीड़ा पहुंचा ना स्त्री का कर्तव्य है। कदापि नहीं

" वर्त्ताम्यहन्तु यां वृत्तिं पाण्डवेसु महात्मसु ।
तां सर्व्वां शृणु मे सत्यां सत्यभामे यशस्विनि ॥
अहंकारं विहायाहं कामक्रोधौ च सर्व्वदा ।
सदारान् पाण्डवान्नित्यं प्रयतोपचराम्यहम् ॥
प्रणयं प्रतिसंहृत्य निधायात्मनिमात्मनि ।
शुश्रुषुर्निरभामाना पतीनां चित्तरक्षिणी ॥
दुर्व्याहृताच्छङ्कमाना दुःस्थिताद्दुरवेक्षितात् ।
दुरासिताद्दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यसितादपि ।
सूर्य्यवैश्वानरसमान् सोमकल्पान्महारथान् ॥
सेवे चक्षुर्हणः पार्थानुग्रवीर्य्यप्रतापिनः ।
देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः ।
द्रव्यवानभिरूपोवा न मेऽन्यः पुरुषोमतः ॥

हे जस वाली ! पाण्डवों के साथ में जैसा आचरण करके रहती हूं वह तू सब श्रवण कर। अहंकार काम और क्रोध छोड़ कर मैं सपत्नीक पाण्डवों

की परिचर्या जतन के साथ करती हूं। प्रीतियुक्त अन्तःकरण से धीरजता के साथ अभिमान रहित होकर सुश्रूषा द्वारा मैं अपने पतियों का मन जीतती हूं। ओछा बोल, बुरी चाल, खोटी दृष्टि, बे अदबी से बैठना, मूर्खता से बकना इत्यादि निंदायुक्त बातों के करने से डरती हुई, सूर्य अग्नि तथा सोम के समान तेजमान शत्रु कुल संहारकारी उग्रवीर्य प्रताप शाली महारथ पाण्डवों की सेवा करती हूं। क्या मनुष्य और क्या देव, गन्धर्व, क्या सुन्दर अलंकृत धनाढ्य युवा और क्या रूपवान् दूसरा पुरुष हो, मैं किसी की ओर देखती तक नहीं।

नाऽभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्त्तरि।
न संविशामि नाश्नामि सदा कर्मकरेष्वपि॥
क्षेत्राद्वनाद्वा ग्रामाद्वा भर्त्तारं गृहमागतम्।
प्रत्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च॥
प्रमृष्टभाण्डामृष्टान्ना काले भोजनदायिनी।
संयता गुप्त धान्या च सुसंमृष्टनिवेशना॥
अतिरस्कृतसंभाषा दुःस्त्रियो नानुसेवती।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा॥
अनर्म चापि हसितं द्वारिस्थानमभीक्ष्णशः।
अवस्करे चिरं स्थानं निष्कुटेषु च वर्जये॥
अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये।
निरताहं सदा सत्ये। भर्तॄणामुपसेवने॥
सर्वदा भर्तृरहितं न ममेष्टं कथंचन॥

पति को स्नान भोजन और शयन कराके मैं स्नान भोजन और शयन करती हूं। अधिक क्या कहूं नोकरों को भी मैं पहिले भोजनादिक करा देती हूं तब फिर मैं करती हूं। क्षेत्र- वन अथवा ग्राम से जब पति घर को आते हैं, तब मैं तत्काल उठ कर आसन और जलप्रदान द्वारा उनको प्रतिलाभ

करती हूं। घर में पाक पात्र और भोजन सामग्री को शुद्ध और परिष्कृत कर के रखती हूं। और सब वस्तुओं की रक्षा करती हुई पतिदेवों का बराबर समय पर भोजन कराती हूं। मैं नीच वचन कभी नहीं बोलती और न नीच स्त्रियों की संगति करती हूं। और सदा आलस्य त्याग स्वामियों के मन लायक सेवा करतीहूं। यदि हंसती भी हूं तो अदब के साथ-और मैं पोल में कभी नहीं बैठती और न उस जगह जहां लोग मल मूत्र करते हों, और घरके इरद गिरद के स्थानों में कभी गई भी तो वहां ठहरती नहीं. और क्रोध उत्पन्न करने वाली अधिक हंसी और रोष की बातों से मैं सदा दूर रहती हूं। हे सत्ये ! मैं सदा ही अपने स्वामियों की सेवा करने में नियुक्त रहती हूं। उनसे अलग रहना मुझे बिलकुल नहीं सुहाता ॥

यदा प्रवसते भर्त्ता कुटुम्बार्थेन केनचित् ।
सुमनोवर्णकापेता भवामि व्रत चारिणी ॥
यच्च भर्त्ता न पिबति यच्च भर्त्ता न सेवते ।
यच्च नाश्नाति मे भर्त्ता सर्वं तद्वर्जयाम्यहम् ॥
यथोपदेशं नियता वर्त्तमान वराङ्गने ।
स्वलङ्कृता सुप्रयता भर्त्तुः प्रियहिते रता ॥
ये च धर्माः कुटुम्बेषु श्वश्रुवा मे कथिताः पुरा ।
भिक्षाबलिश्राद्धमिति स्थालीपाकाश्च पर्वसु ॥
मान्याना मानसत्कारा ये चान्ये विदिता मम ।
तान्सर्वाननुवर्त्तामि दिवा रात्रमतन्द्रिता ॥

भावार्थ–घर के किसी काम के लिये पति जब परदेश को जाते हैं तब मैं शृंगार करना, पीठी लगाना छोड़ देती हूं। और बिना अपने स्वामियों को आरोगाये मैं किसी वस्तु का ग्रहण नहीं करती। हे वरांगने। स्वामी जब घर हों तो मैं सुन्दर शृङ्गारकर पति की आज्ञानुसार चलती हुई सदा उनके प्रेम

ओर हित का काम करती हूं । घरकों के साथ मुझे कैसे बरतना चाहिये और भिक्षा श्राद्ध बलि तथा पर्व दिन को स्थालीपाक किस प्रकार करने चाहियें । इस विषय में पहिले मेरी सासू जी ने जो जो उपदेश किये थे वे सब धर्म मुझे याद हैं । आलस छोड़कर उन सब का पालन बराबर करती हूं ॥.

विनयान्नियमांश्चापि सदा सर्वात्मना श्रिता ।
मृदून् सतः सत्यशीलान् सत्यधर्म्मानुपालिनः ॥
आशीविषानिव क्रुद्धान् पतीन् परिचराम्यहम् ॥
पत्याश्रयो हि मे धर्म्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ॥
स देवः सा गतिर्नान्या तस्य का विप्रियं चरेत् ॥
अहं पतीन्नातिशये नात्यश्ने नातिभूषये ॥
नापि परिवेदे श्वश्रुं सर्वदा परियन्त्रिता ।
अवधानेन सुभगे ! नित्योत्थानेन चैवहि ।
भर्त्तारो वशगा मह्यं गुरुशुश्रूषयैव च ।
नित्यमार्यामहं कुन्तीं वीरसूं सत्यवादिनीम् ।
स्वयंपरिचराम्येतां पानाच्छादनभोजनैः ॥
नाहंपरिवदे वाचं तां पृथां पृथिवीं समाम् ।
प्रथमं प्रतिबुध्यामि चरमं संविशामि च ॥
नित्यकालमहं सत्ये ! एतत्संवदनं मम ॥
एतज्जानाम्यहं कर्त्तुं भर्त्तुः संवदनं महत् ॥
असत्स्त्रीणां समाचारं नाहं कुर्यां न कामये ॥

वैशम्पायन उवाच ॥

तच्छ्रुत्वा धर्म सहितं व्याहृतं कृष्णया तदा ।
उवाच सत्या सत्कृत्य पांचालीं धर्मचारिणीम् ॥

अभिपन्नास्मि पांचालि! याज्ञसेनि! क्षमस्व मे।
कामकारः सखीनां हि सोपहासं प्रभाषितम् ॥

भावार्थ–मैं सदा नम्रता और नियम के साथ मृदुभाव से अपने पति; सच्चरित्र सत्य शील सत्य धर्म पालक पाण्डवों को क्रोधान्वित सर्प की भांति समझकर उनकी सेवा करती रहती हूं। पति ही को आश्रय मानना मैं अपना धर्म्म समझती हूं. और यही स्त्रियों का सनातन धर्म है। पति ही देव है. पति ही से स्त्री की गति है. उसी पति के विरुद्ध आचरण करना क्योंकर उचित होसक्ता है। हे सुभगे! मैं पति गण की उपेक्षा कर, भोजन शयन नहीं करती न भूषण धारण करती और सास की भी कभी निन्दा नहीं करती। मैं सदा इन बातों का ध्यान रखती हूं। मेरी सावधानी, निरालसपना और बड़ों की शुश्रूषा देख कर ही मेरे पति मेरे वशीभूत हैं। मेरी सास सत्यवादिनी वीरप्रसविनी पृथ्वी समान आर्य्या कुन्ती की मैं स्वयं जल भोजन बिछौने द्वारा सेवा करती हूं। उसे कुवचन कहना तो अलग रहा मैं बहुत सवेरे सब के पहिले उठती हूं और सब के पीछे सोती हूं। हे सत्यभामे! बस मैं यही वशीकरण जानती हूं। भर्त्ताओं को अपने वश में करने का यही बड़ा उपाय मुझे याद है। परन्तु बुरी स्त्रियों की भांति निंदित आचरण करना मुझे नहीं आता और न मैं करना चाहती हूं। अब वैशम्पायन जी कहते हैं कि द्रौपदी के यह धर्म युक्त वचन श्रवण कर सत्यभामा उचित सत्कार पूर्वक द्रौपदी को कहने लगी। हे द्रौपदी! पति को बश करने की जो बात मैंने तुम से पूंछी उस में औषध मन्त्र का नाम लेकर मैंने बड़ा अपराध किया है परन्तु आप जानती हो कि बराबर की सखियों के बीच ऐसे वाक्य हंसी में आप से आप आजाते हैं। सो आप मुझे क्षमा करो ॥

द्रौपद्युवाच

इदन्तु ते मार्गमपेतमोहं वक्ष्यामि चित्तग्रहणाय भर्त्तु।

अस्मिन्यथावत्सखि वर्त्तमाना भर्त्तारमच्छेत्स्यासि कामिनीभ्यः
नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये ! सर्वेषु लोकेषु सदैवकेषु ।
यथा पतिस्तस्य हि सर्वकामा लभ्याप्रसादात् कुपितश्च हन्यात् ॥
तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः शय्यासनानुत्तमदर्शनानि ।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गन्धाः स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्तिः ॥
सुखं सुखेनेह न जातु लभ्यं दुःखेन साध्वी लभते सुखानि ।
सा कृष्णमाराधय सौहृदेन प्रेम्णा च नित्यं प्रतिकर्मणा च ॥
तथासनैश्चारुभिरग्र्यमाल्यैर्दाक्षिण्ययोगैर्विविधैश्च गन्धैः ।
अस्याहं प्रियोऽस्मीति यथा विदित्वा त्वमेव संश्लिष्यति तद्विधत्स्व ॥
श्रुत्वा स्वरं द्वारगतस्य भर्त्तुः प्रत्युत्थिता तिष्ठ गृहस्य मध्ये ।
दृष्ट्वा प्रविष्टं त्वरितासनेन पाद्येन चैनं प्रतिपूजयस्व ॥
सम्प्रेषितायामथ चैव दास्यामुत्थाय सर्वं स्वयमेव कार्य्यम् ।
जानातु कृष्णस्तव भावमेतं सर्वात्मना मां भजतीति सत्ये ॥

भावार्थ-द्रौपदी कहने लगी । सखि ? खैर-अब मैं तुमको पति का चित्त मोहने वाली सरल बात बता देती हूं । इसके अनुसार चलने से तुम अपने भर्ता के चित्त को तुम्हारी सपत्नियों की तरफ़ से अपनी ओर खेंच सकोगी। हे सत्यभामे ! पति जैसा देवता है उस की बराबरी करने वाला त्रिलोकी में भी कोई देव नहीं । कारण पति के प्रसन्न होने से सब पदार्थ मिल सकते हैं। परन्तु पति के रुष्ट होने से सब पदार्थ नष्ट हो सकते हैं । सन्तान, विविध भोग, शय्या, आसन, उत्तमोत्तम चित्र वस्त्र, आभूषण, सुगंधित पदार्थ, स्वर्ग और कीर्ति सब कुछ पति ही से प्राप्त हो सकते हैं दूसरे से नहीं। संसार में सुख बिना परिश्रम किये नहीं मिलता । परन्तु जो पतिव्रता नारी है वह प्रति सेवा के परिश्रम से सुख प्राप्त करती है, इस लिये तुम प्यार, प्रेम, और शृंगार द्वारा अपने पति की आराधना करो । और बड़े शोभायुक्त विस्तर,

वस्त्र माल्य, उत्तमोत्तम सुगंधित पदार्थ और सब प्रकार की खातर से निज पति को इस प्रकार प्रसन्न किया करो कि वह यह जान लें कि " मैं इस का प्यारा हूं " और तुम्हारे पति तुम्हारे प्यार के वशवर्त्ती हों। और पति के द्वार में घुसने की आवाज़ आते ही तुम उन की अगवानी के लिये तुरन्त चौक में उतर कर खड़ी हो जाया करो और जब वे घर में प्रवेश करें तब उन को देखते ही बैठने के लिये सुन्दर आसन बिछा, पीने को जल भर दिया करो। यदि वे किसी काम के लिये दासी को आज्ञा दें तो भी तुम उठ कर उस काम को स्वतः करने लग जाया करो। तुम्हारे पति तुम्हारी इस प्रकार भक्ति देख कर समझ लेंगे कि सत्यभामा मेरी सर्व प्रकार से सेवा करती है-

"त्वत्संनिधौ यत्कथयेत्पतिस्ते, यद्यप्यगुह्यं परिरक्षितव्यं।
काचित्सपत्नी तव वासुदेवं प्रत्यादिशेत्तेन भवेद्विरागः॥
प्रियांश्च रक्तांश्च हितांश्च भर्त्तुस्तान् भोजयेथा विविधैरुपायैः।
द्वेष्यैरुपेक्ष्यैरहितैश्च तस्य भिद्यस्व नित्यं कुहकोद्यतैश्च॥
मदं प्रमादं पुरुषेषु हित्वा संयच्छ भावं प्रतिगृह्य मानं।
प्रद्युम्नसाम्बावपि ते कुमारौ नोपासितव्यौ रहिते कदाचित्॥
महाकुलीनाभिरपापिकाभिः स्त्रीभिः सतीभिस्तव सख्यमस्तु।
चण्डाश्च शौण्डाश्च महाशनाश्च चौराश्च दुष्टाश्च चपलाश्च वर्ज्याः॥
एतद्यशस्यं भगदैवतं च स्वर्ग्यं तथा शत्रुनिबर्हणं च।
महार्हमाल्याभरणाङ्गरागा भर्त्तारमाराधय पुण्यगन्धा॥

भावार्थ-तुम्हारे पति यदि तुम्हें कोई बात कहें और उसे गुप्त रखने के लिये नहीं भी कहें तो भी तुम उस बात को गोप्य समझ किसी को भी मत कहा करो। कारण यदि तुम्हारी कोई सपत्नी उस बात को सुन कर तुम्हारे पति से कह देगी तो तुम उन के मन से उतर जाओगी। जो तुम्हारे पति के सच्चे शुभ चिन्तक और प्रीति पात्र हों उन से तुम राजी रहा

करो, और उन को खुश रक्खा करो, परन्तु जो तुम्हारे पति के साथ द्वेष रखते हों अथवा जो तुम्हारे पति की बुराई करते हों उन से सदा अलग रहना अच्छा है आदमियों के बीच बेसुध और असावधान कभी नहीं रहना और अपने मन की बात किसीको भी न कहा करो। चुपचाप रहा करो और तुम्हारे बेटा प्रद्युम्न और साम्ब के साथ भी एकान्त में रह कर बात चीत न करना। जो भले घरों की बहू बेटी हैं पाप से रहित हैं, और पति सेवा में मग्न हैं, उन के साथ तुम चाहे मित्रता रखना परन्तु क्रोधवाली, सुधहीन, चटोरी, चोरी करने वाली, खोटे स्वभाव वाली और बकोरी स्त्रियों से सदा दूर रहा करना, इस प्रकार का व्यवहार यशकारी, सुहागदायक शत्रुनाशक और स्वर्गदायक होता है इसलिये पीठी, उबटना कर, सुगंधित तेल, फुलेल लगा सुन्दर माला वस्त्र आभूषण पहन, अपने पति की आराधना किया करना ॥

पति को प्रसन्न करने के विषय में द्रौपदी जी ने सत्यभामा जी को जो उपदेश की माला प्रदान की है वह सब गृह लक्ष्मियों को अपने कण्ठस्थ करनी चाहिये। इस उपदेशामृत के अनुसार चलने से स्त्रियें अपने प्यारे पति को प्रेमपाश में बांध कर अपने वशीभूत करने में सहज ही सफल हो सकती हैं। पति को वशीकृत करने के लिये यही एक सुन्दर और सहज उपाय है कि जिस का प्रकसाध्वी पतिव्रता रमणीगण सदा से आचरण करती आई है, परन्तु जो दुर्भगिनी पति शुश्रूषा में चित्त न देकर दुष्ट स्वार्थी लोगों के बहकाने से मन्त्र यन्त्र अथवा औषध द्वारा पति को अपने वश में करने की चेष्टा करती हैं वे अवश्य ही कुलघ्ना, कुलकज्जला, कुलकंटका, कुलपांसुला, इत्यादि नामों से पुकारने के योग्य हैं। जो दुष्टा निज सुख की इच्छा से शास्त्र विरुद्ध चेष्टा द्वारा पति को वश में करने का यत्न करती है वह कभी भी सुख और यश को प्राप्त नहीं हो सकती ॥

स्त्रियों के लिये यदि स्वर्गप्राप्ति का कोई उपाय है तो केवल पतिशुश्रूषा ही है। तीर्थ व्रत दान यज्ञादिक अन्य धर्म स्त्री के लिये कदापि मंगलकारी नहीं है। यथा बृहद्धर्म पुराणे—

गुरुर्गङ्गा च माता च पिता सूर्येन्दुवन्हयः।

प्रत्यक्षदेवता एताः पतिः स्त्रीणां तथा स्मृतः ॥
अस्वतन्त्रा भवेन्नारी सलज्जा स्मितभाषिणी ।
अनालस्य सदा स्निग्धा मितवाग्लोभवर्जिता ॥
नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।
पतिं शुश्रूषते या तु सैव स्वर्गे महीयते ॥
एक एव हि नारीणां पतिर्विप्रोपदिश्यते ।
उत्कृष्टमपकृष्टं वा नैव नारी पतिं त्यजेत ॥
सधवानां हि नारीणां नोपवासादिकं व्रतम् ।
पत्याज्ञया चरेद्यत्तु तत्तु तासां परं व्रतम् ॥

भावार्थ-गुरु गंगा माता पिता सूर्य चन्द्र और अग्नि जिस प्रकार देवता हैं इसी प्रकार स्त्रियों के लिये पति ही प्रत्यक्ष देवता है । पतिव्रता स्त्री को स्वतन्त्रा अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार चलने वाली कदापि होना अच्छा नहीं । उसे सदा लज्जावती प्रफुल्लवदना आलस्यरहिता स्नेहयुक्ता और लोभ हीना होना चाहिये । स्त्रियों के लिये पति सेवा छोड़ पृथक् यज्ञ व्रत और उपवास नहीं है । जो स्त्री पति सेवा करती है उसे स्वर्ग सुख प्राप्त होता है । जो स्त्री पुत्र की उत्पत्ति के लोभ से अपना पतिव्रत नष्ट करती है उसकी इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में पति लोक से विमुख रहती है ॥

स्त्रियों के लिये एक मात्र पति ही का निर्देश है । पति चाहे उत्कृष्ट, हो वा अपकृष्ट, नारी को कदापि पतिका त्याग नहीं करना चाहिये । सधवा स्त्रियों को उपवास आदि व्रतों के करने का निषेध है । स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही स्त्री के लिये परम व्रत निर्दिष्ट हुआ है ।

विष्णु संहितायाम्-

नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषितम् ।
पतिं शुश्रूषते यत्तु तेन स्वर्गे महीयते ॥

अर्थात् स्त्रियों के लिये यज्ञ व्रत और उपवास का विधान नहीं है सिवाय इसके कि पति की शुश्रूषा करना यही स्वर्ग प्राप्ति का उपाय है ॥

दक्ष संहितायाम्

या हृष्टमनसा नित्यं स्थानमान विचक्षणा ॥
भर्तुः प्रीतिकरी नित्यं साभार्या हीतरा जरा

अर्थात् जो रमणी पति की अवस्था और मान का विचार रखती हुई प्रसन्न मनसे पति की नित्य प्रीति लाभ करतीहै वही वास्तवमें भार्या कहलाने योग्य है ॥ इसके विरुद्ध चलने वाली भर्त्ता की अप्रिय कारिणी नारी पतिके लिये "जरा" नाम राक्षसणी के समान है-

महा भारत

नैव यज्ञ क्रियाः काश्चिन्न श्राद्ध नोपवासकम् ।
या तु भर्त्तरिशुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ॥

अर्थात् स्त्रियों के लिये यज्ञ क्रिया श्राद्ध अथवा उपवास करने की आवश्यकता नहीं, स्त्रीगण पति सेवा द्वारा ही स्वर्ग सुख को पाती हैं ॥

स्त्रियों को यह कदापि न समझना चाहिये कि जब हमारा पति ही दुःशील है तो हम क्योंकर सहनशील होसक्ती हैं । ऐसी कल्पना किये पहिले वैश्य नारी को चाहिये कि वह इस मनु संहिता के वचन के भावार्थ को समझले ॥

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परि वर्जितः ॥
उपचर्य्यः स्त्रिया भर्त्ता सततं देववत् पतिः ॥

अर्थात् स्वामी दुःशील कामासक्त अथवा गुण हीन हो तथापि स्त्री का धर्म है पति की देवता के समान निरन्तर सेवा करे । ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के प्रकृति खण्ड में लिखा है ।

"मितिमं कुरुते भर्तुः विप्रियं कुरुते प्रियम् ।

असत्कुलप्रसूतायाः तत्फलं श्रुयतां सति !॥
कुम्भीपाके व्रजेत्सा च यावच्चन्द्रदिवाकरौ ।
ततो भवति चाण्डाली पति पुत्र विवर्जिता" ॥

अर्थात् जो नारी पति की इच्छा विरुद्ध काम करे अथवा पति को आकरी बात कहे, उस खोटे कुल वाली स्त्री को जब तक सूर्य चन्द्र रहें तब तक कुम्भीपाक नामक नरक में वास करना पड़ता है और नरकयातना यदि किसी पुण्य प्रभाव से छूट भी जाय तब भी चांडाली होकर पति और पुत्र की वियोग सहना पड़ता है । ऐसे ऐसे वचन अनेक शास्त्रों में पाये जाते हैं । यथा कर्म विपाक—

उक्ता प्रत्युत्तरं दद्यात् या नारी क्रोध तत्परा ।
सरमा जायते ग्रामे शृगाली निर्जने वने॥
या हूं कृत्वा प्रियं ब्रूते सा मूका जायते ध्रुवम् ॥
सापत्न्यं लभते सा च दुर्भगा च पुनः पुनः ॥

अर्थात् यदि पत्नी को स्वामी कोई बात कहे और नारी क्रोध कर पति को उत्तर देवे तो वह नारी दूसरे जन्म में ग्राम की कूकरी और शृगाली होती है । इसी प्रकार पति के कुछ कहने पर जो नारी तीज कर बोलती है, वह नारी दूसरे जन्म में गूंगी और पति से ख्वारी होकर "सौक,, प्राप्त करती है

यदि नारी अपने पति को दूजे रिश्तदारों की भांति एक साधारण पुरुष समझती हो और इसी लिये उनका पूजन सत्कार नहीं करती हों तो यह सरासर भूल है । कारण उसी कर्म विपाक का यह वचन है कि:—

"मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः !
अमितस्य च दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥
भर्त्ता देवो गुरुर्भर्त्ता भर्त्ता तीर्थ व्रतानि च ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत् ॥

अर्थात् पिता, भाई, पुत्र, यह जो कुल धन देते हैं अथवा प्यार करते हैं

इसका प्रमाण हो सकता है, परन्तु बेप्रमाण धन का देने वाला और असीम प्यार का करने वाला एक पति ही है। इस लिये पति ही स्त्री का देव, गुरु, तीर्थ और पति सेवा ही स्त्री की व्रतादिक तपश्चर्या भी है। इस लिये सब धर्म त्याग कर केवल पतिदेव की अनन्य आराधना ही स्त्री का मुख्य धर्म है॥

स्त्रियों के लिये पतिव्रत धर्म सर्व धर्मों की अपेक्षा श्रेयस्कर है। पतिव्रत धर्म के आचरण करने से जो अतुल सिद्धि स्त्री को प्राप्त होजाती है, वह बड़े बड़े तपस्वियों को कठिन तपश्चर्या करने से भी नहीं होती। जो ऋषि लोग कोपाग्निद्वारा क्षणमात्र में त्रिलोकी को भस्म करने में समर्थ हैं, ऐसे ऋषियों की कोपाग्नि से भी पतिपरायणा स्त्री को किंचित् भय की आशङ्का नहीं है। पतिव्रता नारी पतिशुश्रूषा द्वारा पूर्ण तत्वज्ञान लाभ कर सकती है और भूमण्डल के स्थानान्तरों में जो जो रचना होती हैं, वे सब कर्म पतिव्रता नारी को प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं, इस बात का प्रमाण महाभारतीय वनपर्व में निम्नलिखित प्रकार से मिलता है—

मार्कण्डेय उवाच॥

कश्चिद्द्विजातिप्रवरो वेदाध्यायी तपोधनः।
तपस्वी धर्मशीलश्च कौशिको नाम भारत॥
साङ्गोपनिषदो वेदानधीते द्विजसत्तमः।
स वृक्षमूले कस्मिंश्चिद्वेदानुच्चारयन्स्थितः॥
उपरिष्टाच्च वृक्षस्य बलाका संन्यलीयत।
तया पुरीषमुत्सृष्टं ब्राह्मणस्य तदोपरि॥
तामवेक्ष्य ततः क्रुद्धः समपध्यायत द्विजः
अकार्यं कृतवानस्मि रोषरागबलात्कृतः॥
इत्युक्त्वा बहुशो विद्वान् ग्रामं भैक्ष्याय संश्रितः।
ग्रामे शुचीनि प्रचरन् कुलानि भरतर्षभ॥
प्रविष्टस्तत्कुलं यत्र पूर्वं चरितवांस्तु सः।

देहीति याचमानोऽसौ तिष्ठेत्युक्तः स्त्रिया ततः
शौचन्तु यावत्कुरुते भाजनस्य कुटुम्बिनी
एतस्मिन्नन्तरे राजन् क्षुधासम्पीडितो भृशम्
भर्त्ता प्रविष्टः सहासा तस्या भरतसत्तम
सातु दृष्ट्वा पतिं साध्वी ब्राह्मणं व्यवसायिनम्
पाद्यमाचमनीयं वै ददौ भर्त्तुस्तथासनम्
प्रह्वा पर्यचरच्चापि भर्त्तारमसितेक्षणा
आहारेणाथ भक्ष्यैश्च भोज्यैः सुमधुरैस्तथा
उच्छिष्टं भाविता भर्त्तुर्भुङ्क्ते नित्यं युधिष्ठिर !
दैवतं च पतिं मेने भर्त्तुश्चित्तानुसारिणी
कर्मणा मनसा वाचा नान्यचिन्ताभ्यगात्पतिम्
तं सर्वभावोपगता पतिशुश्रुषणे रता
साध्वाचारा शुचिर्दक्षा कुटुम्बस्य हितैषिणी
भर्त्तुश्चापि हितं यत्तत् सततं सानुवर्त्तते
देवतातिथिभृत्यानां श्वश्रुश्वशुरयोस्तथा
शुश्रूषणपरा नित्यं सततं संयतेन्द्रिया
सा ब्राह्मणं तदा दृष्ट्वा संस्थितं भैक्ष्यकांक्षिणम्
कुर्व्वती पतिशुश्रूषां सस्माराथ शुभेक्षणा
व्रीडिता साभवत्साध्वी तदा भरतसत्तम !
भिक्षामादाय विप्राय निर्जगाम यशस्विनी

ब्राह्मणउवाच ॥

किमिदं भवति त्वं मां तिष्ठेत्युक्त्वा वराङ्गने
उपरोधं कृतवती न विसर्जितवत्यसि ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥

ब्राह्मणं क्रोधसन्तप्तं ज्वलन्तामिव तेजसा
दृष्ट्वा साध्वी मनुष्येन्द्र ! सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत् ॥

स्त्र्यु वाच ॥

क्षन्तुमर्हसि मे विद्वन् ! भर्त्ता मे दैवतं महत् ।
स चापि क्षुधितः श्रान्तः प्राप्तः शुश्रूषितो मया ।

ब्राह्मणउवाच ॥

ब्राह्मणा न गरीयांसो गरीयांस्ते पतिः कृतः ।
गृहस्थधर्मे वर्त्तन्ती ब्राह्मणानव मन्यसे ॥
इन्द्रोप्येषां प्रणमते किं पुनर्मानवो भुवि ।
अवलिप्ते ! न जानीषा वृद्धानां न श्रुतं त्वया ॥
ब्राह्मणा ह्याग्निसदृशा दहेयुः पृथिवी मपि ॥

स्त्र्युवाच

नाऽहं बलाका विप्रेन्द्र ! त्यज क्रोधं तपोधन !
अनया क्रुद्धया दृष्ट्या क्रुद्धः किं मां करिष्यसि ॥
नावजानाम्यहं विप्रान् देवैस्तुल्यान्मनास्विनः ।
अपराधमिमं विप्र ! क्षन्तु मर्हसि मेऽनघ !
जानामि तेजो विप्राणां महाभाग्यं च धीमताम् ॥
अपेयः सागरः क्रोधात् कृतो हि लवणो दकः ॥
तथैव दीप्ततपसां मुनीनां भावितात्मनाम् ।
येषां क्रोधाग्निरद्यापि दण्डके नोपशाम्यति ॥

ब्राह्मणानां परिभवाद्वातापिः सुदुरात्मवान् ।
अगस्त्यमृषिमासाद्य जीर्णः क्रूरो महासुरः ॥
बहुप्रभावाः श्रूयन्ते ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
क्रोधः सुविपुलो ब्रह्मन्! प्रसादश्च महात्मनाम् ॥
अस्मिंस्त्वतिक्रमे ब्रह्मन्! क्षन्तुमर्हसि मेऽनघ !।
पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज ॥
दैवतेष्वपि सर्वेषु भर्त्ता मे दैवतं परम् ।
अविशेषेण तस्याहं कुर्यां धर्म्मं द्विजोत्तम ! ॥
शुश्रूषायाः फलं पश्य पत्युर्ब्राह्मण! यादृशम् ।
बलाका हि त्वया दग्धा रोषात्तद्विदितं मया ॥
क्रोधः शत्रुः शरीरस्थो मनुष्याणां द्विजोत्तम ।
यः क्रोधमोहौ त्यजति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
यो वदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च ।
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
जितेन्द्रियो धर्म्मपरः स्वध्यायनिरतः शुचिः ।
कामक्रोधौ वशे यस्य तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
यस्य चात्मसमो लोको धर्म्मज्ञस्य मनस्विनः ।
सर्वधर्मेषु चरतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
योऽध्यापयेदधीयीत यजेद्वा याजयीत वा ।
दद्याद्वापि यथाशक्ति तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
ब्रह्मचारी च वेदान्योऽप्यधीयाद् द्विजपुंगव ! ।
स्वाध्याये चाप्रमत्तो वै तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
यद्ब्राह्मणानां कुशलं तदेषां परिकीर्त्तयेत् ।

सत्यं तथा व्याहरतां नानृते रमते मनः ॥
धर्मन्तु ब्राह्मणस्याहुः स्वाध्यायं दममार्जवम् ।
इन्द्रियाणां निग्रहं च शाश्वतं द्विजसत्तम ! ॥
सत्यार्जवे धर्ममाहुः परं धर्मविदो जनाः ।
दुर्ज्ञेयः शाश्वतो धर्मः स च सत्ये प्रतिष्ठितः ॥
श्रुतिप्रमाणो धर्मः स्यादिति वृद्धानुशासनम् ।
बहुधा दृश्यते धर्मः सूक्ष्म एव द्विजोत्तम ! ॥
भगवानपि धर्मज्ञः स्वाध्यायनिरतः शुचिः ।
न तु तत्त्वेन भगवन् ! धर्मं वेत्सीति मे मतिः ॥
यदि विप्र न जानीया धर्म्मं परमकं द्विज !
धर्मं व्याधं ततः पृच्छ गत्वा तु मिथिलां पुरीम् ।
मातापितृभ्यां शुश्रूषुः सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥
मिथिलायां वसन्व्याधः स ते धर्म्मान् प्रवक्ष्यति ।
तत्र गच्छस्व भद्रं ते यथाकामं द्विजोत्तम ! ॥
अत्युक्तमपि मे सर्वं क्षन्तुमर्हस्यनिन्दित !
स्त्रियो ह्यवध्याः सर्व्वेषां ये धर्म मभिविन्दते ॥

ब्राह्मण उवाच

प्रीतोऽस्मि तव भद्रं ते गतः क्रोधश्च शोभने ! ।
उपालम्भस्त्वया ह्युक्तो मम निःश्रेयसं परम् ॥
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि साधयिष्यामि शोभने ! ॥

मार्कण्डेय उवाच ॥

तया विसृष्टो निर्गम्य स्वमेव भवनं ययौ ।

विनिन्दन् स स्वमात्मानं कौशिको द्विजसत्तमः ॥

अर्थ-श्री मार्कण्डेय मुनिजी बोले-किसी देशमें एक अति श्रेष्ठ वेद पाठी तपस्वी धर्मात्मा कौशिक नामक ब्राह्मण रहते थे। वे अंगों के सहित वेद पढ़ते थे। एक दिन वे किसी वृक्ष के नीचे बैठ वेद पढ़ रहे थे और उस वृक्ष के ऊपर एक बगली छिपी हुई बैठी थी। उसने ब्राह्मण के ऊपर बींट करदी उस को देख कर ब्राह्मण ने बहुत क्रोध किया और क्रोध से बगली को देखा। ब्राह्मण के देखने से बगली मर कर पृथ्वी पर गिर पड़ी। बगलीको पृथ्वी पर गिर कर मरी देख ब्राह्मण को बहुत दया आई और शोचने लगे कि मैंने क्रोध के वश में होकर यह बड़ा बुरा काम किया॥

श्री मार्कण्डेय मुनि बोले-ऐसे कह कर वह विद्वान् ब्राह्मण गांव में भीख मांगने चले गये। गांव में जाकर उत्तम कुलों से भीख मांगने लगे मांगते मांगते एक उत्तम कुल के घर जाकर भिक्षा मांगी और कहा कि कुछ देओ। तब घर की स्वामिनी ने कहा खड़े रहो देती हूं। उस समय स्त्री बरतन मांज रही थी, इतने ही में उसका पति भूख से व्याकुल होकर घर में आगया और स्त्री पति को देखकर ब्राह्मण को भीख देना भूल गई और अपने स्वामी के पैर और मुख धोने के लिये जल और आसन देने लगी, उस स्त्री ने अपने पति के खाने योग्य भोजन आदर से दिया। हे राजन् युधिष्ठिर! वह स्त्री सदा अपने पति का झूंठ खाती थी, पति ही को देवता मानती थी, पति ही के चित्त के अनुसार चलती थी, मन वचन और कर्म से कभी दूसरे पुरुष की इच्छा नहीं करती थी, वह सब प्रकार से पति ही की इच्छा करती थी, वह उत्तम कर्म करने वाली, घर के कामों में चतुर और कुटुम्ब का हित करने वाली थी और पति का सदा हित चाहती थी, देवता और अतिथि की सेवा और सास ससुर का अच्छे प्रकारसे आदर करती थी, सदा ही इन्द्रियजित् रहती थी। जब पति भोजन कर चुका तब याद आई कि ब्राह्मण बाहर खड़ा होगा। तब वह पतिव्रता बड़ी लज्जित हुई और भिक्षा लेकर ब्राह्मण के पास गई। ब्राह्मण बोले, हे उत्तम स्त्री! तू मुझे "खड़ा रहो" कहकर चली गई और फिर मुझ को विदा नहीं किया॥

श्री मार्कण्डेय मुनि बोले—हे राजन् ! ब्राह्मण को तेज और क्रोधसे जलते हुए देखकर वह पतिव्रता शान्ति पूर्वक बोली— हे विद्वन् ! आप क्षमा कीजिये । मैं पति को देवता मानती हूं, वह भूखे थे, उन की सेवा करने लगी । ब्राह्मण बोले हे पतिव्रते ! तैने ब्राह्मण को छोटा और पति को बड़ा समझा । ब्रह्मा भी ब्राह्मणों को नमस्कार करते हैं । फिर मनुष्य किस गिनती में है । हे अभिमानिनि ! तैने वृद्धों के बचन नहीं सुने । ब्राह्मण अग्नि के समान होते हैं । पृथ्वी को जला सकते हैं । स्त्री बोली— हे विप्रर्षे । मैं बगली नहीं हूं । हे तपोधन ? आप क्रोध को छोड़िये, आप क्रोध कर के भी मेरा क्या करेंगे, मैं ब्राह्मण का अपमान नहीं करती हूं और ब्राह्मणों को देवताओं के समान मानती हूं । हे पाप रहित ब्राह्मण ! मेरे इस अपराध को क्षमा कीजिये । मैं ब्राह्मणों के तेज को जानती हूं । जिन्होंने क्रोध से समुद्र को खारी और पीने के अयोग्य बना दिया । मैं ऐसे आत्म ज्ञानी महा तपस्वी मुनियों को भी जानती हूं जिनके क्रोध की दण्डक बनकी अग्नि अबतक नहीं बुझी है । ब्राह्मणों के अनादर से दुष्टात्मा महा असुर वातापि अगस्त्य ऋषिके पेट में पच गया । हे ब्राह्मण ! ब्राह्मणों के अनेक प्रभाव सुनने में आये हैं, ब्राह्मणों का क्रोध भी भारी और अनुग्रह भी भारी होता है । हे पापरहित ! मेरी यह भूल क्षमा कीजिये , हे ब्राह्मण ! पति की सेवा करना जो धरम है वही मुझे बहुत ही प्यारा है, मेरे पति देवताओं में भी देव हैं इसी सामान्य धर्म को मैं करती हूं । हे ब्राह्मण ! पति सेवा का जैसा फल है उस को तुम देख लो । तुमने बगली को अपने तेज से जला दिया उस को मैंने जान लिया है । हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! क्रोध ही शरीर में रहने वाला शत्रु है जो क्रोध और मोह को त्याग देता है उसी को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं । जो संसार में सत्य बोले गुरु को सन्तुष्ट करे और मार खाकर भी नहीं मारे; उसी को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं । जो इन्द्रियों को जीतने वाला, धर्म करने वाला ; वेदपाठी; पवित्र और कामदेव का जीतने वाला है उसी को देवतालोग ब्राह्मण कहते हैं जिस धर्मात्मा बुद्धिमान को सब जगत् समान दीखता है उस धर्म करने वाले को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं । जो वेद पढ़े और पढ़ावे, यज्ञ करे और करावे; दान लेकर यथाशक्ति दान दे उस को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं । जो ब्रह्मचारी सत्यवक्ता; वेदपाठी; श्रेष्ठ; पढ़ने पढ़ाने में सावधान रहे उसे देवता लोग

ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण के इतने कर्म हैं; जो सत्य बोलता हो; जिस का मन झूंट में न जाता हो वही ब्राह्मण है। वेद पढ़ना, मन को विषयों से रोकना, शुद्ध रहना, इन्द्रियों को जीतना, ये ब्राह्मण के धर्म हैं। हे उत्तम ब्राह्मण। धर्म को जानने वाले महात्मा सत्य और शुद्धता को ही धर्म कहते हैं धर्म जानना बहुत ही कठिन है। वह धर्म सत्य ही में रहता है। वृद्ध लोगों की आज्ञा है कि धर्म में वेद ही प्रमाण है। हे ब्राह्मण! धर्म बहुत प्रकार का दीखता है। आप भी वेद पाठी पवित्र और धर्मज्ञ हैं परन्तु मेरी बुद्धि में आप वेद को यथावत् नहीं जानते हैं। हे ब्राह्मण! यदि आप धर्म नहीं जानते हैं तो जनक पुरी में जाकर धर्म व्याध से जाकर पूंछिये। जनकपुरी में माता पिता की सेवा करने वाला सत्यवादी जितेन्द्रिय एक व्याध है, वह तुमको धर्म का उपदेश करेगा। हे द्विजोत्तम! हे ब्राह्मण! तुम्हारा कल्याण हो, जो मैंने इतना अधिक कहा है, उसे भी आप क्षमा कीजिये। हे अनिन्दित! जो कोई धर्म करने की इच्छा रखते हैं उनसे स्त्री कदापि मारने के योग्य नहीं है। ब्राह्मण बोले—हे कल्याणि। मेरा क्रोध चला गया। मैं तुम से बहुत प्रसन्न हूं तुम ने मेरे अभिमान को दूर किया। मेरा कल्याण हुआ। तुम्हारा कल्याण हो। मैं जनक पुरी जाऊंगा और अपना कार्य सिद्ध करूंगा। श्री मार्कण्डेय मुनि बोले। उस पतिव्रता से विदा होकर कौशिक ब्राह्मण अपनी निन्दा करते हुये अपने घर को चले गये॥

जिस पतिव्रत धर्म को साधने से स्त्री त्रिकाल की बातें जानने लगे और जिसके सामने बड़े २ योगिराजों का भी गर्व गल जाता है, वह स्त्री के लिये अत्यन्त सहज और सुलभ तपश्चर्या है। जिस पतिव्रता नारी की दैवी शक्ति की योगीश्वर और मुनीश्वर भी श्लाघा करें, उसकी शास्त्रों में जितनी प्रतिष्ठा की जाय उतनी अल्प ही समझिये। पतिव्रता नारी का वास्तव ही में ऐसा विचित्र पराक्रम है कि जिसकी संपूर्ण शास्त्र एक स्वर से प्रशंसा करते हैं॥

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणे प्रकृति खण्डे

सर्वदानं सर्वयज्ञः सर्वतीर्थनिषेवणम्।
सर्वं व्रतं तपः सर्वमुपवासादिकं च यत्॥

सर्वं धर्मश्च सत्यं च सर्वदेवप्रपूजनम् ।
तत्सर्वं स्वामिसेवायाः कलां नार्हति षोडशीम् ॥
सुपुण्ये भारते वर्षे पतिसेवां करोति या ।
वैकुण्ठे स्वामिना सार्द्धं सा याति ब्रह्मण शतम् ॥

अर्थात्– सम्पूर्ण दान, यज्ञ, तीर्थ व्रत, तप, उपवास, सत्य, देवपूजन आदि समस्त धर्म पति सेवा के सोलवें हिस्से की भी बराबरी नहीं करते । इस लिये जो स्त्री इस पवित्र देश में पतिसेवा करती है वह अपने स्वामी के साथ एक ब्रह्मा राज करे तब तक वैकुण्ठ में निवास करती है ॥

ब्रह्मवैवर्त्ते गणेशखण्डे

"महादानानि पुण्यानि व्रतान्यनशनानि च ।
तपांसि पतिसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

तुलापुरुषदान, हिरण्यगर्भदान ब्रह्माण्डदान, कल्पवृक्षदान, गोसहस्रदान, हिरण्मय कामधेनुदान, हिरण्मयाश्वदान, पंचलांगलदान, पृथ्वीदान, रत्नमय धेनुदान, सप्तसागरदान, सुवर्णमय हस्तियुक्तदान, हिरण्मय अश्वरथयुक्त दान, सुवर्णमय सुदर्शनचक्र दान, कल्पलता दान, महाभूतघटदान, यह महापुण्य-कारी सोलह महादान तथा व्रत उपवास और तपस्या यह परलोक में सुख करने वाले संपूर्ण धर्म, पतिसेवा की रत्ती भर भी तुलना नहीं करसकते ॥

श्री कृष्णजन्मखण्डे ॥

हुताशनो वा सूर्य्यो वा सर्वं तेजस्विनां परः ।
पतिव्रता तेजसश्च कलां नार्हति षोडशीम् ॥

अर्थात्– अग्नि और सूर्य्य यह दो पदार्थ सब से अधिक तेजस्वी माने जाते हैं । परन्तु उन का तेज भी पतिव्रता स्त्री के तेज के सोलहवें भाग की बराबरी नहीं कर सकता ॥

देवपूजा व्रतं दानं तपश्चाऽनशनं जपः ।
स्नानं च सर्वतीर्थेषु दीक्षा सर्वमखेषु च ॥
प्रदक्षिणा पृथिव्याश्च ब्राह्मणातिथि सेवनम् ।
सर्वाणि पतिसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

अर्थात्–देवपूजन, व्रत, दान, तप, उपवास, जप, सम्पूर्ण तीर्थों में स्नान, समस्त यज्ञों की दीक्षा, पृथिवी की प्रदक्षिणा, ब्राह्मण और अतिथि की सेवा, सब धर्म पतिसेवा के सोलहवें भाग की भी बराबरी नहीं करते ॥

प्रकृतिखण्ड ॥

स्नानं च सर्वतीर्थेषु सर्वयज्ञेषु दीक्षणम् ।
प्रादक्षिण्यं पृथिव्याश्च सर्वाणिच तपांसि च ॥
सर्वाण्येव व्रतानीति महादानानि यानि च ।
उपासनानि पुण्यानि यान्यन्यानि च विश्वतः ॥
गुरुसेवा विप्रसेवा देवसेवादिकं च यत् ।
स्वामिनःपादसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥

अर्थात्–सब तीर्थों में स्नान करना, समस्त यज्ञों की दीक्षा लेना, संपूर्ण पृथिवी की प्रदक्षिणा करना, सर्व प्रकार के तप करना, विविध प्रकार के व्रत करना और जितने महादान हैं उन का करना और जितनी प्रकार की उपासना और जितनी भांति के पुण्य इस जगत में प्रचलित हैं, वे सब मिलकर भी पति सेवा के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं होसकते ।

और पति सौभाग्य ही से स्त्रियों की बड़ाई दिन दिन बढ़ती है, इसलिये पति सुहाग का सुख भोग करनेके अर्थ धर्मके साथ पतिकी सेवा करनी चाहिये, अच्छे कुल की स्त्रियों के बन्धु, गति, अधिदेव और परमैश्वर्य स्वरूप और सुख स्वरूप केवल पति ही है । सदा धर्म का देने वाला, सुख प्रीति और शक्ति का देने वाला, मान और सन्मान का देने वाला, मान्य योग्य और मानभंग करने

वाला, बन्धुवर्ग में पति के सिवाय दूसरा बन्धु नहीं दीखता, पालन पोषण करने वाला होने ही से 'भर्त्ता' कहलाता है। पालन करने ही से "पति" कहलाता है. स्त्री के शरीर का मालिक है इसी लिये "स्वामी" कहलाता है कामना पूरी करता है तभी "कान्त" कहलाता है सच्चा सुख संबन्ध पति ही के साथ है इसी लिये वह उत्तम "बंधु" कहलाता है। प्रीति का बर्ताव करने से प्रिय कहलाता है। धन आदि ऐश्वर्य के देने ही से 'ईश्वर' कहलाता है। स्त्री के प्राण का स्वामी होने से 'प्राण नायक' कहा जाता है। रति दान करने से 'रमण' कहलाता है। इस लिये पति के सिवाय प्यारे से प्यारा स्त्री को दूसरा कोई नहीं है। यहाँ तक कि स्वामी के वीर्य से उत्पन्न पुत्र भी (आत्मा के समान) प्यारा लगने लगता है। इस लिये कुलवन्ती स्त्रियों को पति १०० पुत्रों से भी अधिक प्यारा है। परन्तु नीच घर की स्त्रियें पति के महात्म्य को नहीं जान सकतीं ॥

गणपति खण्डे

साध्व्याः सद्वंशजातायाः शतपुत्राधिकः पतिः ।
असद्वंश प्रसूता या दुःशीला ज्ञान वर्जिता ॥
स्वामिनं मन्यते नासौ पित्रोर्दोषेण दूषिता ।
कुत्सितं पतितं मूढं दरिद्रं रोगिणं जडम् ॥
कुलजा विष्णु तुल्यं च कान्तं पश्यति सन्ततम् ।

अर्थात् उत्तम कुल में जन्मने वाली पतिव्रता स्त्री पति को सौ पुत्रों से भी अधिक चाहती है परन्तु दुष्ट कुल में जनम लेने वाली ज्ञान रहित दुश्शीला स्त्रियें मा बाप के दोष के कारण पति को नहीं मानती। जो उत्तम कुलवती है, वह अपने पति को चाहे वह कुत्सित हो, मूढ हो, दरिद्र, अथवा रोगी और चाहे जड़ हो उसको सदा विष्णु समान देखती है।

या स्त्री भर्त्तुरसौभाग्या सौभाग्या च सर्वतः ।
शयने भोजने तस्या न सुखं जीवनं वृथा ॥

यस्या नास्ति प्रियप्रेम तस्या जन्मे निरर्थकम् ।
तत्किं पुत्रे धने रूपे सम्पत्तौ यौवनेऽथवा ॥
यद्भक्तिर्नास्ति कान्ते च सर्वप्रियतमे परे ।
साऽशुचिर्धर्महीना च सर्वं धर्म विवर्जिता ॥

अर्थात् जो स्त्री अपने पति से सुख की प्राप्ति नहीं कर सकती वह सौभाग्यवती ही नहीं; कारण उसको न शयन में सुख मिलता है, न भोजन में और वास्तव में उसका जीवन ही व्यर्थ है । जिस स्त्री का पति के साथ प्रेम नहीं उसका जीवन ही व्यर्थ है । जिसका पति के साथ प्रेम नहीं उसके धन पुत्र सुख संपत यौवन हो तौ भी किस काम का ! पति सब से अधिक प्यारा है और जिस स्त्री को पति में भक्ति नहीं वह अपावित्रा धर्म हीना और संपूर्ण धर्मों से विमुखा है ॥

पतिव्रता अपने पुरुष का उद्धार करती है । और पतिवृता का पति समस्त पापों से छूट जाता है । पतिवृता स्त्री के तेजद्वारा उस के पति को अपने शुभ और अशुभ कर्म का फल भी भोगना नहीं पड़ता और अपनी पतिवृता के साथ वह बैकुण्ठ में कर्म रहित होकर आनन्द करता है । पृथ्वीमण्डल में जितने तीर्थ हैं वे सब सती स्त्री के चरण में बिराजमान हैं । और संपूर्ण देवों का और मुनियों का तेज सती स्त्री में विद्यमान रहता है । तपस्वियों का तप और वृतों का और दानों का फल ये सब पतिवृता स्त्री में पाये जाते हैं । स्वयं नारायण शम्भु और ब्रह्मा जी सम्पूर्ण देवता और मुनीश्वर ये सब पतिव्रता स्त्री से सदा ही डरते रहते हैं । सती स्त्री के पाद की रज द्वारा पृथवी माता तुरत पवित्र हो जाती है । और पतिवृता को नमस्कार करने से समस्त पातकों से मनुष्य छूट जाता है । महा पुण्यवती पतिवृता अपने तेज द्वारा त्रिलोकी को क्षणभर में भस्म करने को समर्थ है । सती स्त्री के पति और पुत्र को भी किसी बातकी शङ्का नहीं है । इनको देव अथवा यम की तरफ का कुछ भी भय नहीं रहता । सौ जन्म तक जिन्हों ने लगातार पुण्य किये हैं उन के घरमें पतिव्रता का जन्म होता है । पतिवृता की माता और पिता जीवन मुक्त हैं ॥

भृगु भारतीय कर्म विपाके ॥

पतिव्रतायाश्चरणं यत्र यत्र स्पृशेद्भुवम् ।
तं देशं तीर्थ मित्याहुर्मुनयो दिव्य चक्षुषः ॥
पतिव्रतायाः संस्पर्श वाञ्छत्येव सदा रविः ।
सदा गन्धवहो देवः पवित्रार्थं हि वाञ्छति ॥
यथा गंगावगाहेन शरीरं पावनं भवेत् ।
तथा पतिव्रतां दृष्ट्वा पूतो भवति मानुषः ॥

अर्थात जिस जिस स्थान में पतिव्रता के चरण गिरते हैं, दिव्य नेत्र वाले मुनियों ने उन स्थानों को तीर्थ रूप माना है । पतिव्रता के स्पर्श को सूर्य देव भी नित्य इच्छा रखते हैं । गंगा स्नान से जिस प्रकार शरीर पवित्र होता है । पतिव्रता के दर्शन से भी मनुष्य उसी प्रकार पवित्र हो जाता है ॥

स्कंद पुराणे काशी खण्डे ॥

[illegible]तप्यतेऽत्यन्तं दह्यनापि च दह्यते ।
कम्पन्ते सर्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः ॥
धन्या सा जननी लोके धन्योऽसौ जनकः पुनः ।
धन्यः स च पतिः श्रीमान् येषां गेहे पतिव्रता ॥
पितृवंश्या मातृवंश्याः पतिवंश्यास्तु याः स्त्रियः ।
पतिव्रतायाः पुण्येन स्वर्गसौख्यानि भुञ्जते ॥

अर्थात् जो जगत को तपाने को समर्थ है अथवा जो जगत को दहन कर करता है वह पतिव्रता स्त्री के तेज द्वारा स्वतः संतप्त हो सकता है । और सम्पूर्ण तेज युक्त पदार्थ कांपने लगते हैं । जगत में वह माता धन्य है वह पिता धन्य है और वह भाग्यवान् पति भी धन्य है. कि जिन के घर में पतिव्रता स्त्री विराजती है । पतिव्रता के पीहर ननसाल और सुसराल के सम्पूर्ण स्त्री

पुरुष उस के पुण्य द्वारा स्वर्ग सुख का संभोग करते हैं ॥

स्त्रीणां हि परमश्चैको नियमः समुदाहृतः ।
अभ्यर्च्य चरणौ भर्तुर्भोक्तव्यं कृत निश्चयम् ॥

अर्थात् स्त्री का सब से उत्तम नियम शास्त्र में यही निर्दिष्ट है कि पति के चरण युगल का पूजन करके भोजन करना निश्चय पूर्वक है और पति चाहे पतित है तथापि वह स्त्री का गुरु है। देव पूजन चित्त में रखने वाली भार्या के योग्य पति ही है। स्वामी के साथ प्रेम करने वाली पत्नी सदा सुख प्राप्त करती है, पति सेवा में भार्या को सदा शुद्ध चित्त उसी प्रकार तत्पर रहना चाहिये कि जैसे पुत्रों को अपने मा बाप की सेवा में रहना उचित है। नारी को सब विषयों में लोभ रहित और लज्जा शील रहना चाहिये। किन्तु, शयन में पति के साथ हास्य मुख और लज्जा त्याग कर सदा रहना चाहिये। यदि मन में कोई चिन्ता हो तो स्नेह के साथ पति को दरशा देना चाहिये और अपने पुत्रों का पालन करना और दूसरों के बालकों को अपने बालकों की भांति प्यार करना योग्य है। पति के सुख दुःख में अपना सुख दुःख सम झना चाहिये और पति के परदेश जाने पर नारी को अपना सख त्याग देने ही में कल्याण है। सर्व भांति सावधान होकर घर की चीज वस्तु का रक्षण करना और अन्नादिक पदार्थों का विभाग करना चाहिये। जो नारी इस प्रकार रहती है। वह पूजने के योग्य है। और ऐसी पुण्यवती नारियों के बल ही पर पृथिवी खड़ी है और जगत को धारण करती है। घर का भूषण जिस प्रकार बालकों से है। सम्पत्ति में जिस प्रकार पांडित्य भूषण है। उत्तम बुद्धि जिस प्रकार मनुष्य का भूषण है उसी प्रकार लज्जा स्त्री का भूषण समझा गया है। मूर्ख ब्राह्मण जिस भांति मृत तुल्य समझा जाता है। बिना दक्षिणा के यज्ञ जिस प्रकार मृत माना गया है। और पण्डितहीन सभा जिस प्रकार मृततुल्य है उसी प्रकार लज्जा हीन नारी मृततुल्य जानो। जल हीन नदी; कृष्ण हीनबुद्धी और राज हीन भूमि की नांई पतिहीन स्त्री को जाननी। पतिहीना नारी चाहे जैसी युवति हो– चाहे जैसे वस्त्र भूषण धारण करो–वह शोभा को कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥ इति ॥

ॐ

नीति शिरोमणि

जिसमें

परम शीतल महात्मा विदुरजी का वह सत्योपदेश है जो उन्होंने
विपत्ति ग्रस्त महाराजा धृतराष्ट्र को किया है

जिससे

धर्म की यथार्थ व्यवस्था प्रकट होती है और तदानुसार चलने से
स्वर्ग का सुख मिलता है

जिसको

श्रीमान लाला मन्नीलाल व बाबू हजारीलाल साहिब सेठ वैश्य अग्रवाल
की कृपा से सम्पूर्ण मनुष्यों के हितार्थ

मुझ

चिम्मनलाल वैश्य ने योग्य पण्डितों की सहायता से
मुद्रित कराके प्रकाशित किया

आर्यदर्पण यन्त्रालय शाहजहांपुर में
मुंशी बख्तावरसिंह के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ
सन् १८९४ ई०

प्रथम बार १०००] [मूल्य ।=)

भूमिका

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि
परासुव यद् भद्रन्तन्न आसुव ॥ अ० अ० ३ मं० ३

महाशय गणों में आप की सेवा में नीतिशिरोमणि अर्थात परम नीतज्ञ महात्मा विदुर जी का वह सत्योपदेश जो उन्होंने विपत्त युक्त महाराजा धृतराष्ट्र जी को किया था भेंट करता हूं स्वीकार कीजिये।

यदि आप को संसारिक पारिलौकिक सामाजिक सुखों की अभिलाषा है तो सत्य सनातन धर्म के अनुकूल अपने आचरणों को सुधार आनंद प्राप्त कीजिये जैसा कि महाराज विदुर जी ने कहा है—

द्रुह्यं वचः शच्यसि चेद्यथावन्निशम्य सर्वं प्रति पद्य मेव
यशः परं प्रापस्यासि जीवलोके भयं नचामुत्रन चेहतेस्ति

अर्थात् हे राजन् मैं ने जो आप से सनातन धर्म वर्णन किया यदि आप इसके अनुकूल कार्य करेंगे तो अवश्य आप को यश आनन्द और सुख प्राप्त होगा अन्यथा नहीं।

यही सनातन धर्म यही स्वर्ग का मार्ग यही परमानन्द का द्वार है, सच पूछये तो मनुष्य मात्र के लिये अमृत रस है, जिसके पान करने से शान्ति की धारणा होजाती है और धर्म का अङ्कुर जमजाता है।

प्रियवरों आज दशहरा अर्थात् विजयदशमी है, आज ही के दिन मर्य्यादा पुरुषोत्तम धर्म मूर्ति श्री रामचन्द्र जी ने रावण को मार धर्म की मर्यादा को स्थापन किया था, इसलिये आइये, आप भी प्रसन्न चित्त हो इस नीति शिरोमणि का पाठकर हिंसा, क्रोध, अजितेन्द्रता, द्वेष, ईर्षा, आदि अधर्म रूपी राक्षसों को मार सनातन धर्म नीत्यानुसार आचरणों को सुधार संसार में विजय का डंका बजाइये फिर देखिये चहुंओर कैसा आनन्द आता है।

अन्त में मैं उन पण्डित साहिब महाशय को जिन्हों ने इस पुस्तक के प्रकाशित करने में मुझे बहुत सहायता दी है धन्यवाद देताहूं॥

आपकका शुभचिंतक
चिम्मनलाल वैश्य
कोठी भाई रामचरण मन्नीलाल साहिब रईस,
तिलहर जिला शाहजहांपुर

ॐ

स्वर्गालाप

अर्थं महान्तमासाद्य विद्यामैश्वर्य्यमेव वा ।
विचरत्य समुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ १ ॥
आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २ ॥
निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकःश्रद्दधान एतत् पण्डित लक्षणम् ॥ ३ ॥
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ह्रीःस्तम्भोमान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ४ ॥

भावार्थ

जो धनवान्, विद्वान् और ऐश्वर्यवान् होकर अभिमान को त्यागते हैं वही पण्डित हैं ॥ १ ॥

जिसको आत्मज्ञान और सहनशील हो, जो नित्य धर्म करता हो, यथावत अर्थ जानता हो, और जो सब कार्यों को सोच विचार कर करता हो वही पंडित है ॥ २ ॥

जो आर्य धर्म अर्थात् उत्तम कर्मों का सेवन और निन्दित कर्मों का त्याग करे, आस्तिक धर्म अर्थात् ईश्वर को सत्य माने और जो श्रद्धावान हो वही पण्डित है ॥ ३ ॥

जो क्रोध रहित आनंद युक्त बलवान्, लज्जावान्, धीर्यवान्, और निराभिमान हो वही पण्डित है ॥ ४ ॥

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितंपरे ।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ ५ ॥
यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीत मुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ ६ ॥
यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्त्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥ ७ ॥
यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथा शक्ति च कुर्वते ।
न किञ्चिदवमन्यन्ते नराः पण्डित बुद्धयः ॥ ८ ॥
क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात्।
नासम्पृष्टो ह्युपयुङ्क्ते परार्थे तत्
प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥ ९ ॥

जिसके विचार और उपाय को सिवाय पण्डित और विद्वान के और कोई पुरुष न जाने वही पण्डित है ॥ ५ ॥

जिसके कार्य को शीत, उष्ण, भय और कामादि हानि न पहुंचासके और जिसकी बुद्धि ऐश्वर्य और अनैश्वर्य अर्थात् धनाढ्यता और निरधनता में एक सी रहे वही पंडित है ॥ ६ ॥

जिसके उपदेश को बुद्धिमान मनुष्य धर्म अर्थ और मोक्ष के लिये ग्रहण करें वही पंडित है ॥ ७ ॥

जो यथा शक्ति कार्य करने की इच्छा करके उसे कर दिखाता है, न अपने अपमान से डरता और न किसी का अपमान करता है वही पंडित है ॥ ८ ॥

जो यथार्थ अर्थ को शीघ्र जान लेता है, देर तक सुन कर और विचार करके तात्पर्य को देखकर कार्य करता है, जो काम क्रोध से कोई कार्य नहीं करता और बिना प्रश्न उत्तर नहीं देता वही पंडित है ॥ ९ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डित बुद्धयः ॥ १० ॥

निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः ।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥ ११ ॥

आर्य्यकर्मणि रज्यन्ते भूति कर्माणि कुर्वते ।
हितञ्च नाभ्य सूयन्ति पंडिता भरतर्षभ ॥ १२ ॥

न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमाने न तप्यते ।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पंडित उच्यते ॥ १३ ॥

तत्त्वज्ञः सर्व भूतानां योगज्ञः सर्व कर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नर पंडित उच्यते ॥ १४ ॥

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशुग्रन्थार्थवक्ता च यः स पंडित उच्यते ॥ १५ ॥

जो नष्ट वस्तु की इच्छा नहीं करता और न सोच करता है न आपदा के समय घबराता है वही पण्डित है ॥ १० ॥

जो निश्चय किये हुए कार्यों को सदा करता रहता है और किसी प्रकार से उन कार्यों को नहीं छोड़ता और जो इन्द्रियों को जीतता है वही पण्डित है ॥ ११ ॥

जो आर्य कर्म और ऐश्वर्य के बढ़ानेवाले कर्मों को करते रहते हैं और अच्छे कर्मों की निन्दा नहीं करते वही पंडित श्रेष्ठ हैं ॥ १२ ॥

हे राजन् जिसको न सनमान से बहुत आनन्द और न अपमान से दुःख होता है और जो गंगा जी के जल के समान गंभीर है वही पंडित है ॥ १३ ॥

जो सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय का तत्व सब कर्मों का यत्न और सब मनुष्यों के सुख का उपाय जानता हो वही पंडित है ॥ १४ ॥

जो सत्यवक्ता, मृदुभाषी, बलवान्, तेजवान्, बहुत शास्त्रों का श्रोता और शीघ्र कथा कहनेवाला हो वही पंडित है ॥ १५ ॥

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्य्यमर्य्यादः पंडिताख्यां लभेत सः ॥ १६ ॥
अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चा कर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यतेबुधैः ॥ १७ ॥
स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ १८ ॥
अकामान्कामयतियःकामयानान्परित्यजेत् ।
बलवन्तञ्च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढ चेतसम् ॥ १९ ॥
अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्मचारभते दुष्टं तमाहुर्मूढ चेतसम् ॥ २० ॥

जिसके कथन में ऐसी शक्ति हो कि जिसको सुन कर या पढ कर या जान कर मनुष्य बुद्धिमान होजावे, जो आर्य धर्म अर्थात् सनातन धर्म का विरोधी और मर्यादा का तोडनेवाला न हो वही पंडित है ॥ १६ ॥

जिसने कोई धर्म शास्त्र नहीं सुना, जिसका हृदय शून्य, जिसको शत्रु मित्र का ज्ञान नहीं, जिसकी तृष्णा भारी और जिसको कर्म करने में कुछ प्रेम नहीं उसको पंडित मूर्ख कहते हैं ॥ १७ ॥

जो अपने अर्थ का ध्यान नहीं रखता, दूसरों को झूठी बातों पर चलता है और जो झूठी मित्रता करता है वह भी मूर्ख है ॥ १८ ॥

जो हानि दायक कार्यों को करता और लाभ दायक कार्यों को त्यागता और जो निर्बल होकर बलवान से वैर करता है उसको भी मूर्ख कहते हैं ॥१९॥

जो अयोग्य मित्रों से मित्रता करता, जो योग्य मित्रों को हानि पहुंचाता, और जो खोटे काम करता है वह भी मूर्ख है ॥ २० ॥

संसार प्रति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरंकरोति चिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ २१ ॥
श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति देवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढ चेतसम् ॥ २२ ॥
अनाहूत: प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विस्वसिति मूढ चेता नराधम: ॥ २३ ॥
परं चिपति दोषेण वर्त्तमान: स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशान: स च मूढतमो नर: ॥ २४ ॥
आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थं परिवर्ज्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढ बुद्धिरिहोच्यते ॥ २५ ॥

जो कर्म संसार के दिखाने के अर्थ करता है और कर्म करने में देर करके फल शीघ्र चाहता है वह भी मूढ़ है ॥ २१ ॥

जो पितरों अर्थात् बड़ों को श्रद्धा पूर्वक तृप्त नहीं करता, न देव अर्थात् विद्वानों की यथायोग्य सेवा करता है, और न योग्य मित्र से प्रेम रखता है वह भी मूर्ख कहाता है ॥ २२ ॥

जो बिना बुलाये जाय और बिना पूछे बहुत बकवाद करे, और जो अविश्वासी पुरुष का विश्वास करे उसको मूढ़ और अधम कहते हैं ॥ २३ ॥

जो अपने दोषों को नहीं देखता और आप वैसाही बुरा कर्म करता है, दूसरे के थोड़े दोष पर बहुत दोष लगाता है जो बिना प्रयोजन क्रोध करता है वह भी मूढ़ है ॥ २४ ॥

जो धर्म और अर्थ के बिना अपने बल को बड़ा जान कर खोटे कर्म और न प्राप्त होने योग्य वस्तु की इच्छा करता है उसको मूढ़ अबुद्धिमान कहते हैं ॥ २५ ॥

अशिष्यं शास्ति यो राजन् यश्च शून्यमुपासते।
कदर्य्यं भजतेयश्च तमाहुर्मूढ चेतसम् ॥ २६ ॥
एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम्।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः कोनृशंसतरस्ततः ॥ २७ ॥
एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्र मुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥ २८ ॥
एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टाहन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥ २९ ॥
एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
पञ्चजित्वा विजित्वाषट् सप्तहित्वासुखीभव ॥ ३० ॥

जो सुनता नहीं उसको उपदेश और असत् मनुष्यों का सत्कार करता है, और जो सूमको सेवा करके धन का लाभ चाहता है वह भी मूर्ख है ॥ २६ ॥

जो पुरुष अपने कुटुम्बियों को त्याग कर अकेला भोजन करता और अकेला ही सम्पूर्ण वस्तु को भोगता है उस पुरुष से निर्लज्ज संसार में कोई नहीं ॥२७॥

अकेला ही पुरुष पाप का कर्त्ता और भोगनेवाला होता है उसके साथी सब छूट जाते हैं ॥ २८ ॥

मारनेवाले पुरुषों में जो सर्दार होता है वही मारनेवाला और पाप का भागी होता है, चाहे वह अपने हाथ से मारे वा नहीं, बाण एक ही को मारता है और कभी नहीं भी मारता परन्तु बुद्धिमान की बुद्धि राजा सहित राज्य का नाश करदेती है ॥ २९ ॥

अपनी बुद्धि से मित्र और शत्रु को जान साम दाम दंड भेद इन चार उपायों से मित्र उदासीन और शत्रुओं को अपने वश में कीजिये; इन्द्रियों को वश में कर संधि और विग्रहादि छः अङ्गों को जानकर स्त्री जुआ शिकार, मदिरा कठोर वचन दंड और प्रयोजन इन सात कर्मों को छोड़ कर सुखी हूजिये ॥ ३० ॥

एकं विष रसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च बध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजंहन्ति राजानं मंत्र विप्लवः ॥ ३१ ॥
एक क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ३२ ॥
सोस्य दोषो न मन्तव्यः क्षमाहि परमं धनम् ।
क्षमागुणोह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥ ३३ ॥
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमयाकिंन साध्यते ।
शान्ति खड्गःकरे यस्य किंकरिष्यति दुर्जनः ॥ ३४ ॥
अतृणे पतितो वन्हिः स्वयमेवोप शाम्यति ।
अक्षमावान् परदोषैरात्मानमेव योजयेत् ॥ ३५ ॥

एक विष से संपूर्ण रस बिगड़जाता है, हथियार से एक ही मनुष्य मारा जाता है परन्तु राजा के खोटे मन्त्रियों की सम्मति अथवा अपनी ही खोटी सम्मति से श्रीमानों का भी प्रजा सहित नाश होता है ॥ ११ ॥

क्षमावान पुरुषों में केवल यही एक दोष है कि उनको बहुधा लोग असमर्थवान् जानते हैं ॥ ३२ ॥

क्षमावान पुरुषों में सज्जन पुरुष कोई दोष नहीं मानते क्योंकि चाहे मनुष्य सामर्थवान हों या असमर्थवान, क्षमा ही उनका परम धन और भूषण है ॥ ३३ ॥

क्षमा से सम्पूर्ण जगत बश में और संपूर्ण पदार्थ प्राप्त होजाते हैं क्षमा रूपी खड्ग जिनके हाथ में है उनका कोई दुष्ट मनुष्य क्या कर सकता है ॥३४॥

क्योंकि जब अग्नि के पास घास फूस नहीं होता तो वह आप शांति हो-जाती है, जिनको क्षमा नहीं वह संपूर्ण दुखों में पड़े रहते हैं अर्थात् क्रोधी मनुष्य अपने दोषों से आपही दुख में पड़ा रहता है ॥ ३५ ॥

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ३६ ॥
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाप्ययोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ३७ ॥
द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किञ्चिदसतोऽनर्च्चयंस्तथा ॥ ३८ ॥
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्यय कारिणौ ।
स्त्रियःकामितकामिन्योलोकःपूजितपूजकः ॥ ३९ ॥
द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीर परिशोषणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्य नीश्वरः ॥ ४० ॥

जिसने क्षमा को धारण किया उसने संपूर्ण धर्मों को धारण किया क्योंकि क्षमा ही परम शांति की देनेवाली है, अकेली विद्या ही परम तृप्ति, और अहिंसा ही परम सुख का कारण है ॥ ३६ ॥

क्षमावान् और अहिंसक पुरुष इस पृथ्वी पर राज करते हैं जैसे सांप इस संसार में विलास करते हैं राजा योद्धा और ब्राह्मण आदि सब उनकी आज्ञा को मानते हैं ॥ ३७ ॥

जो पुरुष इन दोनों कर्मों से रहित है वह इस संसार में शोभा नहीं पाते ऐसे असज्जन पुरुष मानने योग्य नहीं ॥ ३८ ॥

क्षमावान् और अहिंसक यही दोनों दूसरे के कामों को करसकते हैं और वे स्त्री पुरुषों के बीच में इस संसार में पूजनीय होते हैं ॥ ३९ ॥

अहिंसक और अक्षमावान् दोनों पुरुष तेज कांटे शरीर के नाश करनेवाले हैं और यह अधम जिस काम के करने की इच्छा करते हैं वह काम बिगड़ जाता है ॥ ४० ॥

द्वाविमौ न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्य्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ४१ ॥
द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमयायुक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ४२ ॥
न्यायागतस्य द्रव्यस्य वोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रेप्रतिपत्तिश्च पात्रे चा प्रतिपादनम् ॥ ४३ ॥
द्वावम्भसि विनि क्षेप्यौ गाढं वद्ध्वा गलेशिलाम् ।
धनिनं चा प्रदातारं दरिद्रं चा तपस्विनम् ॥ ४४ ॥
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्य्य मंडल भेदिनौ ।
परिव्राड् योग युक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ४५ ॥

जो गृहस्थ होकर कुछ कर्म न करे और संन्यासी होकर काम करे इन दोनों विपरीत काम करनेवालों को इस संसार में शोभा नहीं प्राप्त होती ॥ ४१ ॥

जो सामर्थवान् होकर क्षमा करे और दरिद्री होकर दान दे तो दोनों स्वर्ग में राज्य करते हैं ॥ ४२ ॥

न्याय से प्राप्त किया हुआ धन दो ही प्रकार से नाश को प्राप्त होता है अर्थात् अयोग्य को देने और योग्य को न देने से, जो धनी होकर पुण्य और कंगाल होकर तप न करे तो इन दोनों के गले में भारी शिला बांधकर जल में डुबो देना योग्य है ॥ ४३, ४४ ॥

क्षमावान् और अहिंसक ही समस्त पृथ्वी पर राज्य करते हैं, वही परम राजा और योग्य पुरुष हैं, वही रण में शत्रु के सामने से नहीं हटते अर्थात शत्रुओं को जीतते हैं ॥ ४५ ॥

त्रयोपाया मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ ।
कनीयान्मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥ ४६ ॥
त्रिविधाः पुरुषा राजन् उत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ४७ ॥
हरणञ्च परस्वानां परदाराभिमर्षणम् ।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषा भयप्रदाः ॥ ४८ ॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत् ॥ ४९ ॥
भक्तञ्च भजमानञ्च तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान् विषमेपि न संत्यजेत् ॥ ५० ॥
चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन वर्ज्या-
न्याहुः पंडितस्तानि विद्यात् ।
अल्पप्रज्ञैः सहमन्त्रं न कुर्य्यान्न
दीर्घसूत्रैरलसैश्चारणैश्च ॥ ५१ ॥

वेद के जाननेवाले पण्डितों ने श्रेष्ठ मध्यम और कनिष्ट यह तीन भेद मनुष्यों के माने हैं, और इनके भी उत्तम मध्यम और नीच यह तीन भेद हैं, इन तीनों को यथायोग्य कार्य सोंपना चाहिये ॥ ४६, ४७ ॥

दूसरों का धन छीन लेना, अन्य की स्त्रियों से विषय करना, अपने मित्रों को त्याग देना, इन तीन दोषों से मनुष्य का नाश होजाता है ॥ ४८ ॥

काम क्रोध लोभ यही तीनों नर्क के दाता और आत्मा के नाशक हैं इसलिये इन तीनों को सदा त्यागना योग्य है ॥ ४९ ॥

भक्त सेवक और अपने शरणागत आये हुए इन तीनों को महादुःख के समय में भी न त्यागना चाहिये ॥ ५० ॥

कुबुद्धियों और खुशामदियों की सम्मति, आलसी और शीघ्रप्रसन्न होनेवाले पुरुषों की मित्रता से बुद्धिवान और श्रीमानों को अलग ही रहना चाहिये ॥ ५१ ॥

चत्वारि ते तात गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थ धर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः सखा
दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥ ५२ ॥

चत्वार्य्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोधमे ॥ ५३ ॥

देवतानाञ्च सङ्कल्प मनुभावञ्च धीमताम् ।
विनयं कृत विद्यानां विनाशं पाप कर्मणाम् ॥ ५४ ॥

चत्वारि कर्मण्य भयङ्कराणि
भयं प्रयच्छन्त्य यथा कृतानि ।
मानाग्निहोत्र मुतमान मौनं
मानेनाधीत मुतमान यज्ञः ॥ ५५ ॥

ऐश्वर्यवान् राजा जो गृहस्थी धर्म में है वृद्धपुरुष कुलीन मित्र अर्थात् धर्म युक्त इनको कभी न त्यागे चाहे वे निरधन हों, विधवा बहिन और संतान ये शीघ्र यश के दाता हैं ॥ ५२ ॥

बृहस्पति कहते हैं कि बुद्धिमानों से मित्रता (देव) विद्वानों का समागम करना, चतुर पुरुषों से विनय और पापियों अर्थात् अधर्मियों को दंड देने से मनुष्य को यश प्राप्त होता है, ऐसा ही इन्द्र ने (दिवे) विद्वानों से कहा है ॥ ५३, ५४ ॥

अग्निहोत्र करना, मौन रहना अर्थात् मिथ्या भाषण न करना, विद्या पढ़ना और नाना प्रकार के यज्ञों के करने से मनुष्य को सुख प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्य्याः प्रयत्नतः ।
पिता माता निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ५६ ॥
पञ्चैव पूजयन् लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान् पितृन् मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥ ५७ ॥
पञ्चत्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यति ।
मित्राण्यमित्र मध्यस्था उपजीव्योपजीविन ॥ ५८ ॥
पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेक मिन्द्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवतिप्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥ ५९ ॥
षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूति मिच्छता ।
निद्रा तन्द्रीभयं क्रोध आलस्यं दीर्घ सूत्रता ॥ ६० ॥

पंचयज्ञ अर्थात् परमेश्वर की स्तुति प्रार्थना, पिता माता और गुरू का सत्कार, और आत्मा अर्थात् अपने शरीर की रक्षा करना यह कर्म यथायोग्य मनुष्यों को नित्यप्रति करना चाहियें ॥ ५६ ॥

देवता (विद्वान्) भिखारी पितृ (बड़े मनुष्य) और अतिथि इन पांचो का सत्कार करने से संसार में बहुत यश प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

चाहे मनुष्य उत्तम मध्यम वा नीच और चाहे धनवान वा निर्धन हो यह यश उसके साथ ही जहां २ वह रहता है तहां २ जाता है ॥ ५८ ॥

यदि पांच इन्द्रियों में से एक भी इन्द्री बलवान हो तो वह मनुष्य की बुद्धि को ऐसे नष्ट करदेती है जैसे एक छेद से संपूर्ण पात्र का जल निकल जाता है ॥ ५९ ॥

निद्रा अंगड़ाई भय क्रोध आलस्य ढीलापन यह छः दोष मनुष्यों के संपूर्ण ऐश्वर्य को शीघ्र नष्ट करदेते हैं इसलिये इनको त्यागना योग्य है ॥ ६० ॥

षड़िमान् पुरुषोजह्याछिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमन धीयान मृत्विजम् ॥ ६१ ॥
अरचितारं राजानं भार्य्यां चा प्रियवादिनीम् ।
ग्राम कामञ्च गोपालं वन कामञ्च नापितम् ॥ ६२ ॥
षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दान मनालस्य मनसूया क्षमा धृतिः ॥ ६३ ॥
षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्त्तः मन वेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्य्या विद्या वृषलसङ्गतिः ॥ ६४ ॥
षड़ेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्य्यं शिक्षताःशिष्याःकृतदाराश्चमातरम् ॥ ६५ ॥
नारीं विगत कामञ्च कृतार्थाश्च प्रयोजनम् ।
नावं विस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥ ६६ ॥

बिना शिक्षा करनेवाले गुरु, मूर्ख पुरोहित, अन्याई राजा, कुकर्मी स्त्री, गांव के रहनेवाले अहीर, और वन के रहनेवाले नाई इन से सज्जन पुरुषों को कुछ संम्बध न रखना चाहिये, जैसे कि कोई सज्जन पुरुष समुद्र में टूटी नाव से संबंध नहीं रखता ॥ ६१, ६२ ॥

सत्य, दान, सन्मान, शुभभाव, क्षमा, और धीरज इन छः गुणों को मनुष्य कभी न त्यागे ॥ ६३ ॥

गऊ, सेवा, खेती, स्त्री, विद्या, और ज्ञान यह छः बेमन से करने से शीघ्र नष्ट होजाते हैं ॥ ६४ ॥

जो मनुष्य गुरु, शिक्षक, शिष्य, कर्म, स्त्री, माता, पिता की यथायोग्य सेवा करता है उसको सदा सुख मिलता है क्योंकि यह सब परलोक के उपकारी हैं ॥६५॥

स्त्री काम रहित पुरुष का, रोगी वैद्य का, चढ़ाई पर चलनेवाला नाव का, और कृतार्थी (मतलबी) प्रयोजन सिद्ध होजाने पर अपमान करते हैं ॥ ६६ ॥

आरोग्य मानृण्य मविप्रवास:
सद्भिर्मनुष्यैः सहसंप्रयोगः ।
स्वप्रत्यया वृत्तिरभीत वासः
षड्जीव लोकस्य सुखानि राजन् ॥ ६७ ॥

ईर्षी घृणी त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्य दुःखिताः ॥ ६८ ॥

अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्य्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड्जीव लोकस्य सुखानि राजन ॥ ६९ ॥

एषामात्मनि नित्याना मैश्वर्य्यं योऽधिगच्छति ।
न स पापैः कुतोऽनर्थैर्युज्यते विजितेन्द्रियैः ॥ ७० ॥

आरोग्य रहना, ऋणी न होना, परदेश में अधिक न रहना, सत् पुरुषों का सत्संग करना, अपने वृत्ति की आजीविका और निर्भय होकर रहना यह जीव के लिये इस लोक में सुख हैं ॥ ६७ ॥

जो ईर्षा, लज्जा, असंतोष क्रोध, नित्य ही भय अर्थात् शंका करता है और दूसरे के आधीन खाता है अर्थात् निकम्मा है यह छः पुरुष नित्य ही दुखी रहते हैं ॥ ६८ ॥

द्रव्य का आगमन (धन का प्राप्त होना), नित्य आरोग्य रहना, प्यारे वचन कहनेवाली स्त्री, आधीन रहनेवाला पुत्र, धन के देनेवाली विद्या यह छः बातें मनुष्य को सुख की दाता हैं ॥ ६९ ॥

इन छः वासनाओं की इच्छा सब मनुष्य मात्र को रहती है परन्तु यह उसी जितेन्द्री धर्मात्मा को प्राप्त होती हैं जो कभी पाप की वासना मन से नहीं करता और न वह पापियों का संग करता है ॥ ७० ॥

षडिमे षट्सु जीवन्ति सप्तमो नोप लभ्यते ।
चौराः प्रमत्ते जीवन्ति व्याधितेषु चिकित्सकाः ॥ ७१ ॥
प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।
राजाविवदमानेषु निल्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ७२ ॥
सप्त दोषाः सदा राज्ञाहातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशोयैर्विनश्यन्ति कृत मूला अपीश्वराः ॥ ७३ ॥
स्त्रियोऽक्षामृगयापानं वाक् पारुष्यञ्च पञ्चमम् ।
महच्च दण्ड पारुष्य मर्थं दूषण मेवच ॥ ७४ ॥
अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्त्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव सुसुखान्यपि ॥ ७५ ॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्ग सन्निपातश्च मैथुने ॥ ७६ ॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जन संसदि ॥ ७७ ॥

चोर मतवाले मालिक से, वैद्य रोगियों से, स्त्री कामियों से, यज्ञ कराने वाले यजमान से, राजा झगड़ालू पुरुषों से, और पंडित मूर्खों से सदा आजीविका प्राप्त करते हैं ॥ ७१, ७२ ॥

स्त्री, आखेट, मद्‌पान, कठोर वचन, जुआ, कठिन दंड, अर्थ में दूषण (प्रयोजन का नाश) यह सात दोष सदा त्यागने योग्य हैं, क्योंकि यह दुःख के दाता हैं और इनसे वंश सहित श्रीमानों का ऐसे नाश होजाता है जैसे जड़ कटने से वृक्ष का ॥ ७३, ७४ ॥

मित्रों का समागम, बहुत धन का प्राप्त होना, पुत्र का मिलना, मैथुन में सत्यपात होना, समय पर मीठी बातें करना, अपने वंश में उन्नति होना, अभिप्राय का प्राप्त होना, सभा में बड़ाई होना, यह आठ गुण आनन्द के देनेवाले हैं, जिन मनुष्यों में विद्यमान हैं वही सुखी हैं ॥ ७५, ७६, ७७ ॥

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्च साक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः ॥ ७८ ॥
दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोधतान् ।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥ ७९ ॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्येत पण्डितः ॥ ८० ॥

य: काममन्यु प्रजहाति राजा
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनञ्च ।
विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी
तं सर्वं लोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ ८१ ॥

इस शरीर में नव द्वार तीन स्तंभ पांच प्राण और एक जीव मौजूद हैं जो इनको जाने वह विद्वान् है ॥ ७८ ॥

नोट—इस शरीर रूपी घर में नाक, कान, आंख, जीभ, खाल, अहंकार, बुद्धि, मन और स्थूल शरीर के यह नव द्वार हैं, अविद्या काम और कर्म करना यह तीन खम्भे हैं, शब्द स्पर्श रस गन्ध और रूप यही पांच साक्षी और जीव इसमें रहनेवाला है।

मतवाला, प्रमतवाला (नशे का पीनेवाला), उन्मत्त (वेहोश), थका हुआ, क्रोधी, भूखा, शीघ्रता करनेवाला, लोभी, डरपोक, कामी यह दश मनुष्य धर्म को नहीं जानते इसलिये बुद्धिमान इनका कभी संग न करे ॥ ७९, ८० ॥

जो श्रीमान् काम और क्रोध को त्याग कर योग्य अर्थात् सत् पुरुषों को धन देते है, जो सब विषयों के विशेष भाव को जानते और जो अपने कार्यों को शीघ्रता से करते हैं उनका सब लोग सत्कार करते हैं ॥ ८१ ॥

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्
विज्ञात दोषेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्राश्च तथा क्षमाश्च
तं तादृशं श्रीर्जषते समग्रा ॥ ८२ ॥

सुदुर्बलं नावजानाति कश्चि-
द्युक्तो रिपुं सेवते बुद्धि पूर्वम् ।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः
काले च यो विक्रमते स धीरः ॥ ८३ ॥

प्राप्यापदं न व्यथित कदाचि
दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमत्तः ।
दुःखञ्च काले सहते महात्मा
धुरंधरस्तस्य जिताः सपत्नाः ॥ ८४ ॥

उन श्रीमानों को जो विश्वास योग्य मनुष्यों को जानते, दोषों को देख कर दंड देते, सब कर्मों का प्रमाण जानते और क्षमा करते हैं, समस्त लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ ८२ ॥

जो दुर्बल का अपमान और बलवान से लड़ाई नहीं करता। बुद्धि से युक्त शत्रु के पास जाता और समय पर पराक्रम करता है उसको धीर्यवान् कहते हैं ॥ ८३ ॥

जो मनुष्य आपदा में दुखी नहीं होते, परन्तु सावधान होकर उसके दूर करने का उपाय करते हैं और समय पर दुख भी सहलेते हैं वही महात्मा और धुरंधर होते हैं और वही शत्रुओं को भी जीत सकते हैं ॥ ८४ ॥

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः
पापैः सन्धिं परदाराभिमर्षम् ।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं
न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥ ८५ ॥

न संरम्भेणारभते त्रिवर्ग
माकारितः शंसति तत्त्वमेव ।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं
नापूजितः कुप्यपि चाप्यमूढ ॥ ८६ ॥

योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च
न दुर्बलः प्रतिभाव्यं करोति ।
नात्याह किञ्चित् क्षमते वै विवादं
सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥ ८७ ॥

जो निष्प्रयोजन कोई काम नहीं करता, न पापियों से मिलता, न पराई स्त्री का स्पर्श करता, न कपट चोरी चुगली करता, और न मदिरा आदि नशे को पीता है, वही सदैव सुखी होता है ॥ ८५ ॥

जो पुरुष क्रोध से त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और काम को नहीं करता, बिना पूछे तत्व ज्ञान नहीं कहता, मित्रों से विवाद नहीं करता, और निरादर करने पर भी कोप नहीं करता, उसी को बुद्धिमान कहते हैं ॥ ८६ ॥

जो पुरुष निन्दा करने पर भी दया और विवाद की जगह क्षमा करता है दुर्बल का तिरस्कार और बड़ी बात नहीं कहता, उसकी सब जगह प्रशंसा होती है ॥ ८७ ॥

यो भीषतं कुरुतेजातु वेषं
न पौरुषेणापि विकथ्यतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किञ्चित्
प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥ ८८ ॥
न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं
न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्य कार्य्यं
तमार्य्यं शीलं परमाहुरार्य्याः ॥ ८९ ॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्य्यशीलः ॥ ९० ॥
देशाचारान् समयान् जाति धर्मान्
बुभूषते यः स परावरज्ञः ।
स यत्र तत्रापि गतः सदैव
महाजनस्याभिपत्यं करोति ॥ ९१ ॥

जो पुरुष भयंकर रूप नहीं बनाता, पुरुषार्थ का घमंड करके औरों को नहीं धमकाता, क्रोध से भी कड़ा वचन नहीं कहता वह सबका प्यारा बना रहता है ॥८८॥

जो पुरुष और पुरुषों से वैर, हिंसा और आपत्ति पड़ने पर भी अकार्य अर्थात् खोटे कर्म नहीं करता और जो बेहोश भी नहीं होता उसको आर्य लोग भी परम आर्य कहते हैं ॥ ८९ ॥

जो मनुष्य अपने सुख और दूसरों के दुःख में हर्ष, और वस्तु देकर पश्चात्ताप नहीं करता, उसी महात्मा को सज्जन लोग आर्य कहते हैं ॥ ९० ॥

जो पुरुष देशाचार, समय और जाति धर्मों को जानता है वही विद्वान् सज्जनों की सभा को सुशोभित करता और मनुष्यों में प्रतिष्ठित होता है ॥९१॥

दम्भं मोहं मत्सरं पाप कृत्यं
राजद्विष्टं पैशुन्यं पूगवैरम् ।
मोत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं
यः प्रज्ञावान् वर्ज्जयेत्स प्रधानः ॥ ८२ ॥

दमं शौचं दैवतं मङ्गलानि
प्रायश्चित्तान्विविधाल्लोकवादान् ।
एतानि यः कुरुते नैत्यिकानि
तस्योत्थानं देवता धारयन्ति ॥ ८३ ॥

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः
समैः सख्यं व्यवहारं कथाश्च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥ ८४ ॥

जो पुरुष बुद्धिमान् और प्रधान अर्थात् योग्य हैं वह दम्भ अर्थात् अभिमान मोह, ईर्षा, पाप कर्म, राजा से वैर चुगुली, मत्त, उन्मत्त और दुर्जनों से वाद नहीं करते ॥ ८२ ॥

जो पुरुष दम, शौच, देवकार्य अर्थात् विद्वानों की यथावत पूजा, मंगल कार्य, प्रायश्चित्त को करते, और बहुत प्रकार के शास्त्रों को अवलोकन कर रहता है उनकी सज्जन पुरुषों में अच्छे प्रकार प्रतिष्ठा होती है ॥ ८३ ॥

जो पुरुष बराबरवालों से विवाह, मित्रता और व्यवहार करता और नीचों से नहीं करता है और जो पुरुष गुणों को देख कर कार्य करते हैं वही नीतिवान् है ॥ ८४ ॥

मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा।
ददात्यमित्रेष्वभियाचितः स्वं
तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः॥ ९५॥
चिकीर्षितं विप्रकृतञ्च यस्य
नान्य जनाः कर्म्मं जानन्ति किञ्चित्।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः॥ ९६॥
यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्ध भावः।
अतीव सञ्चायते ज्ञाति मध्ये
महामणिर्जात्य इवं प्रसन्नः॥ ९७॥
य आत्मनापत्रपते भृशं नरः
स सर्वं लोकस्य गुरुर्भवत्युत।
अनन्त तेजाः सुमनाः समाहितः
स तेजसा सूर्य्यं इवावभासते॥ ९८॥

जो पुरुष आश्रय वालों को बांटकर थोड़ा खाता थोड़ा सोता और बहुत कर्म करता है, और जो अमित्रों अर्थात् वैरियों को भी मांगने पर धन देता है उसका सदा कल्याण होता है॥ ९५॥

जिसके गुप्त मंत्र को कोई नहीं जानता, विचार करके कार्य करता है उसका छोटा कार्य भी कभी नाश नहीं होता और न वह कभी अनर्थ में पड़ता है॥९६॥

जो पुरुष संपूर्ण जीवों को सुख चाहता, सत्य बोलता, दूसरों का मान करता और प्रसन्न चित्त है वह संपूर्ण मनुष्यों में ऐसे प्रकाशित होता है जैसे महा मणि॥९७॥

जो मनुष्य अपने कर्मों को देख कर आप ही लज्जित होता है वही सम्पूर्ण लोक का गुरू होने योग्य है और वही सूर्य के समान संसार में प्रकाशित होता है॥९८॥

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम् ।
अपृष्टस्तस्य तद्ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत् पराभवम् ॥ ९९ ॥
मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत ।
अनुपाय प्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ १०० ॥
तथैव योग विहितं न सिध्येत् कर्म यन्नृप ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ १०१ ॥
अनुबन्धानपेक्षेत सानुबन्धेषु कर्मसु ।
सम्प्रधार्य्यं च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥ १०२ ॥
अनुबन्धञ्च संप्रेक्ष्य विपाकञ्चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ १०३ ॥
यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोषे जनपदे दण्डे न स राज्येऽव तिष्ठते ॥ १०४ ॥
यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ।
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्य मधि गच्छति ॥ १०५ ॥

जिसकी भलाई चाहे उसको बिना पूछे भी शुभ अशुभ प्रिय अप्रिय सब प्रकार का उपदेश करदे । ९९ ।

जो कार्य झूठ बोलने से उपाय या बिना उपाय सिद्ध हों उनको कदापि न करना चाहिये, इसी प्रकार उत्तम अर्थात् प्रयोजन के देनेवाले कार्यों को जबतक सिद्धि न हों यत्न पूर्वक करता रहे और दोष युक्त कर्मों का दोष सदा जागता रहे, और सावधानी से कार्य करे बहुत शीघ्रता से न करे । १००, १०१, १०२ ।

धीर पुरुष कर्मों का फल दोष और अपना समर्थ देख कर कार्य करते हैं ।१०३।

जो मूर्ख पुरुष स्थान वृद्धि के नाश और धन देश दंड को नहीं जानता वह श्रीमान होने के योग्य नहीं, और जो इन प्रमाणों और धर्म अर्थ ज्ञान को जानता है वही बुद्धिमान श्रीमान् होने के योग्य है । १०४, १०५ ।

न राज्यं प्राप्त मित्येव वर्त्तितव्यमसांप्रतम्।
श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥ १०६ ॥
भक्ष्योत्तम प्रतिच्छन्नं मत्स्यो वाडशमायसम्।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबन्धमपेक्षते ॥ १०७ ॥
यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्चयत्।
हितञ्च परिणामेयत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥ १०८ ॥
वनस्पतरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः।
स नाप्नोति रसंतेभ्यो वीजं चास्य विनश्यति ॥ १०९ ॥
यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम्।
फलाद्रसं स लभते वीजाच्चैव फलं पुनः ॥ ११० ॥

राज्य को पाकर सावधानी से पालन करना चाहिये और जो अनीति अर्थात् अन्याय करते हैं उनकी लक्ष्मी का ऐसे शीघ्र नाश होजाता है जैसे वृद्ध अवस्था में रूप का नाश होजाता ॥ १०६ ॥

जैसे मछली उत्तम भक्ष्य में लपिटे हुए कांटे को खाकर अपने प्राणों का नाश कर देती है वैसे ही जो मनुष्य बिना विचारे कार्य करते हैं उनका भी नाश होजाता है ॥ १०७ ॥

जो खाने योग्य और पचने पर सुख दायक हो बुद्धिमान पुरुष उसी को खावें ॥ १०८ ॥

जो मनुष्य कच्चे फलों को तोड़ लेता है उसको रस और स्वाद नहीं मिलता उनके बीज का भी नाश होजाता है ॥ १०९ ॥

जो पक्के फल तोड़ता है उसको रस और स्वाद प्राप्त होता है और बीज भी मिलता है कि जिस बीज से फिर वृक्ष और फल प्राप्त होते हैं और यही क्रम चला जाता है ॥ ११० ॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥ १११ ॥
पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ ११२ ॥
किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि सञ्चिन्त्य कुर्य्याद्वा पुरुषो न वा ॥११३॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्त्तार मिच्छन्ति षण्डं पतिमिवस्त्रियः ॥११४॥
कांश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलम् ।
क्षिप्रमारभते कर्त्तुं न विघ्नयति तादृशान् ॥ ११५ ॥
ऋजुः पश्यति यः सर्वं चक्षुषा प्रपिवन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ ११६ ॥

जैसे भौंरा फल फूलों की रक्षा करके उसके रस को चूसता है परन्तु वृक्ष की जड़को नहीं काटता, और माली वृक्षों से नाना प्रकार के फल और फूल तोड़ लेता है परन्तु वृक्षों के बीज का नाश नहीं करता, इसी प्रकार मनुष्यों को प्रथम आदि अंत, हानि लाभ और धर्म अधर्म देखकर प्रत्येक कार्य आरंभ करना चाहिये ॥ ११२, ११३ ॥

जिस मनुष्य की प्रसन्नता और क्रोध से कुछ हानि लाभ न हो उसकी सेवा करना व्यर्थ है जैसे नपुंसक मनुष्य की स्त्री का शृङ्गार ॥ ११४ ॥

बुद्धिवान् पुरुष ऐसे कार्यों को जिन में थोड़ा परिश्रम और बहुत फल है शीघ्र ही आरम्भ करदेते हैं क्योंकि ऐसे कार्यों में विघ्न नहीं होता ॥ ११५ ॥

जो पुरुष मौन होकर भी कोमल स्वभाव और प्यारी आंख से देखता है उससे संपूर्ण मनुष्य प्रसन्न रहते हैं ॥ ११६ ॥

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनु प्रसीदति ॥११७॥
यस्मात्त्रस्यन्ति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरांतामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥ ११८ ॥
पितृ पैतामहं राज्यं प्राप्तवान् स्वेन तेजसा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ ११९ ॥
धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्द्धते भूति वर्द्धिनी ॥ १२० ॥
अथ सन्त्यजतो धर्ममधर्मञ्चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौचर्माहितं यथा ॥ १२१ ॥

जो पुरुष मन वाणी कर्म और नेत्र से संसार को प्रसन्न करता है उसको भी सब जगत् प्रसन्न करता है ॥ ११७ ॥

जिस पुरुष से जीव ऐसे डरते हैं जैसे बाघ से मृग, तो वह समस्त पृथ्वी का राजा होकर भी शीघ्र नाश होजाता है ॥ ११८ ॥

अन्यायी अर्थात् अधर्मी मनुष्य को बाप दादे का राज्य या धन मिलने पर भी ऐसे शीघ्र नाश होजाता है जैसे पवन से बादल उड़जाते हैं अर्थात् नाश होजाते है ॥ ११९ ॥

धर्मज्ञ अर्थात् सुकर्म करनेवाले श्रीमान् नाना प्रकार की उन्नति सहित समस्त पृथ्वी का राज करते हैं ॥ १२० ॥

जो मनुष्य धर्म को त्याग कर अधर्म को धारण करता है उसके संपूर्ण वभव का ऐसे नाश होजाता है जैसे चमड़ा अग्नि पर रखने से नाश हो-जाता है अर्थात् जलजाता है ॥ १२१ ॥

य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्द्दने ।
स एव यत्नः कर्त्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ १२२ ॥

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ १२३ ॥

अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ १२४ ॥

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः ॥ १२५ ॥

पर्ज्जन्यनाथाः पशवो राजानो मन्त्रिबान्धवाः ।
पतयो बान्धवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबान्धवाः ॥ १२६ ॥

जो यत्न पराये राज्य के नाश करने में किया जाता है वही यत्न अपने राज्य के पालन करने में करना योग्य है ॥ १२२ ॥

धर्म से प्राप्त किये हुए राज्य और धन का कभी नाश नहीं होता इसलिये श्रीमानों को सदा राज्य को धर्म ही से पालना करनी चाहिये ॥ १२३ ॥

जो मनुष्य उन्मत्त अर्थात् मतवाला होकर बकता और बालभाव से बोलता हो उससे भी श्रीमान् सार निकाले जैसे पत्थर से सोना निकालते हैं ॥ १२४ ॥

गउ सूंघने से ब्राह्मण वेदों से राजा दूतों से जानते हैं, और सब आंखों से देखते हैं ॥ १२५ ॥

पशुओं की मेघों से, राजा की मंत्री से, स्त्री की पति से, ब्राह्मण की वेदों से रक्षा होती है ॥ १२६ ॥

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ १२७ ॥
मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णं दर्शनङ्गाश्च स्त्रियो रक्षेत् कुचेलता ॥ १२८ ॥
न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥१२९॥
य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्य्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनन्तकः ॥ १३० ॥
अकार्य्यं करणाद्भीतः कार्य्याणाञ्च विवर्ज्जनात् ।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत् पिबेत् ॥१३१॥

धर्म की सत्य से, विद्या की योग से, रूप की उबटन से, कुल की वृत्ति अर्थात् आचरण से, धन की आदर से, घोड़ों की फिराने से, गऊ की नित्य देखने से, और स्त्री की शुभ आचरणों से रक्षा होती है ॥ १२७, १२८ ॥

मेरा यह सिद्धांत है कि वृत्त हीन अर्थात् बुरे आचरण वाले पुरुष के कुल का कुछ प्रमाण नहीं होता, क्योंकि नीच होकर भी अच्छे कर्म करे उसकी प्रशंसा होती है ॥ १२९ ॥

जो पराये द्रव्य, कुल, रूप, बल, सुख, सौभाग्य और सत्कार को देख कर ईर्षा करता अर्थात् जलता है वही सदा दुखी रहता है ॥ १३० ॥

जो काम के आरम्भ से प्रथम ही भय खाकर अपने कार्यों को छोड़देते हैं वह महा मूर्ख हैं, इसी प्रकार जिस कार्य से हानि हो उसे कदापि न करे और अपनी सम्मति को भी प्रत्येक पर प्रकाश न करे ॥ १३१ ॥

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनोमदः ।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ १३२ ॥
मन्यन्ते सन्तमात्मानमसन्तमपि विश्रुतम् ।
गतिरात्मवतां सन्तः सन्त एव सतां गतिः ॥ १३३ ॥
असताञ्च गतिः सन्तो न त्वसन्तः सतां गतिः ।
जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥ १३४ ॥
शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बन्धुभि ॥ १३५ ॥
अवृत्तिर्भयमन्त्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् ।
उत्तमानान्तु मर्त्यानामवमानात् परं भयम् ॥ १३६ ॥

मूर्खों के विद्या, सहाय, और धन यह तीनों बड़े मद हैं और यही तीनों मद महात्माओं को सुख देते हैं ॥ १३२ ॥

महात्मा, ज्ञानी और पण्डित दुष्टों के सुधारनेवाले हैं परन्तु दुष्ट इनको नहीं बिगाड़ सकते ॥ १३३ ॥

सुंदर वस्त्र धारी मनुष्य सभा को, और सवारी अर्थात् वाहन मार्ग को जीतता है, परन्तु शीलवान् पुरुष सम्पूर्ण जगत् को जीत लेता है ॥ १३४ ॥

पुरुष में शील ही मुख्य गुण है जिसके नाश होने से जीवन धन बंधु बांधव इन सब का नाश होजाता है ॥ १३५ ॥

नीचों को वृत्ति अर्थात् आजीविका न मिलने से, मध्यमों को मरने से और उत्तम पुरुषों को अपमान से ही महाभय होता है ॥ १३६ ॥

ऐश्वर्य्य मद पापिष्ठा मदाः पान मदादयः ।
ऐश्वर्य्य मदमत्तो हि नापतित्वा विबुध्यते ॥ १३७ ॥
यो जितः पञ्चवर्गेण सहजेनानुकर्षिणा ।
आपदस्तस्य वर्द्धन्ते शुक्लपक्ष इवोडुराट् ॥ १३८ ॥
अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान् वा जितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ १३९ ॥
आत्मानमेव प्रथमं द्वेष्य रूपेण यो जयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ १४० ॥
वश्येन्द्रियं जितात्मानं धृतदण्डं विकारिषु ।
परीक्ष्य कारिणं धीरमत्यन्तं श्रीर्निषेवते ॥ १४१ ॥

ऐश्वर्य का मद, मद से भी अधिक चढता है क्योंकि धन का मतवाला स्वामी और सेवक को कुछ नहीं समझता ॥ १३७ ॥

जिसने अपनी इन्द्रियों को नहीं जीता उसकी आपदा शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह नित्यप्रति बढ़ती जाती है ॥ १३८ ॥

जो मूर्ख अपने मन को बिना जीते अपने कुटुम्ब को वश में करना चाहे और जो बिना कुटुम्ब को वश में किये शत्रुओं को जीता चाहे तो उसके सम्पूर्ण प्रयोजनों का नाश होजाता है ॥ १३९ ॥

जो मनुष्य अपने मन को शत्रु रूप समझ कर प्रथम उसको जीतलेते हैं वही कुटुंब और शत्रुओं को भी जीत सकते हैं ॥ १४० ॥

इन्द्रियों को जीतनेवाले, मन को वश में रखनेवाले, अपराधियों को दंड देनेवाले, परीक्षा करके कार्य करने वाले, और धीर्यवान् पुरुषों को ही लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥ १४१ ॥

रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा
नियतेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखंयाति रथीव धीरः ॥ १४२ ॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥ १४३ ॥

अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थञ्चैवाप्य नर्थतः ।
इन्द्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ १४४ ॥

धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिन्द्रिय वशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः चिप्रं स परिहीयते ॥ १४५ ॥

अर्थानामीश्वरोयःस्यादिन्द्रियाणामनीश्वरः ।
इन्द्रियाणामनैश्वर्य्यादैश्वर्य्याद्भ्रश्यते हि सः ॥ १४६ ॥

मनुष्य का शरीर रथ, मन रथवान् अर्थात् सारथी और इन्द्रियां पराक्रमी घोड़े हैं और इस रथ में बैठनेवाला जो बुद्धिवान इन घोड़ों को वश में रखता है वही सब प्रकार के सुखों को पाता है, जैसे दुष्ट घोड़े मार्ग में सारथी को मार डालते हैं वैसे ही बिना जीती हुई इन्द्रियां मन रूपी सारथी का नाश करदेती हैं ॥ १४२, १४३ ॥

अजितेन्द्री पुरुष अर्थ को अनर्थ अर्थात् लाभ दायक को हानि दायक, अनर्थ को अर्थ अर्थात् हानिदायक को लाभदायक और दुख को सुख समझता है ॥१४४॥

जो पुरुष धर्म अर्थ को त्यागकर इन्द्रियों के वश में होजाता है उसके प्राण धन और पुत्रादि सम्पूर्ण वैभव का शीघ्र नाश होजाता है ॥ १४५ ॥

जो मनुष्य धनवान होकर अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं करते उनके संपूर्ण धन और पुत्रादि वैभव का उनहीं इन्द्रियों के द्वारा नाश होजाता है ॥१४६॥

आत्मनात्मनमन्विच्छेन्मनो बुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनोबन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ १४७ ॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बन्धुः स एव नियतो रिपुः ॥ १४८ ॥
क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपि हितावुभौ ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुंपतः ॥ १४९ ॥
समवेक्ष्येह धर्मार्थौ सम्भारान् योऽधिगच्छति ।
स वै सम्भृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ १५० ॥
यः पञ्चाभ्यन्तरान् शत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥१५१॥
दृश्यन्ते हि दुरात्मानो वध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इन्द्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः ॥१५२॥

बुद्धिमान इन्द्रियों को वश में कर बुद्धि से मन को अपने वश में करे, क्योंकि बुद्धि ही मन की मित्र और शत्रु है ॥ १४७ ॥

जिसने अपनी बुद्धि से मन को अपने आधीन करलिया, मन उसीका मित्र और जिसने उसको वश में नहीं किया उसीका शत्रु है ॥ १४८ ॥

जैसे छोटे छेदवाले जाल से बड़ी मछलियां पकड़ी जाती हैं वैसे ही हे राजन् काम क्रोध लोभ मनुष्य के ज्ञान को लोप करदेते हैं ॥ १४९ ॥

इसलिये जो धर्म अर्थ को विचार कर गृह कार्य करता है उसी को सदा सुख मिलता है ॥ १५० ॥

जो मनुष्य मन से उत्पन्न हुए पांच शत्रुओं को जीतता है वही अन्य शत्रुओं को भी जीत सकता है ॥ १५१ ॥

बहुत से पापी मनुष्य और श्रीमान् जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को नहीं जीता कर्मानुसार दुःख भोगते हैं ॥ १५२ ॥

असन्त्यागात् पापाकृतामपापांस्तुल्यो
दण्डः स्पृशते मिश्रभावात् ।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्
तस्मात् पापैः सह सधिं न कुर्य्यात् ॥ १५३ ॥

निजानुत्पततः शत्रून् पञ्च पञ्च प्रयोजनम् ।
यो मोहान्न निगृह्णाति तमापद्ग्रसते नरम् ॥ १५४ ॥

अनसूयार्ज्जवं शौचं सन्तोषः प्रिय वादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवन्ति दुरात्मनाम् ॥ १५५ ॥

आत्मज्ञान मनायासस्तितिक्षा धर्म नित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानञ्च नैतान्यन्त्येषु भारत ॥ १५६ ॥

अक्रोश परिवादाभ्यां विहिंसन्त्य बुधाबुधान् ।
वक्ता पाप मुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ १५७ ॥

पापियों की संगत से महात्माओं को भी नाना प्रकार के कष्ट होते हैं जैसे सूखे काठ के साथ गीला काठ भी जलजाता है, इसलिये मनुष्य मात्र को दुष्ट अर्थात् खोटे आचरण वाले पुरुषों की संगत न करना चाहिये ॥ १५३ ॥

जो मनुष्य अपने पांच दुःख देनेवाली इन्द्री रूपी शत्रुओं को वश में नहीं करता वह पुरुष नित्यप्रति आपत्ति में पड़ा रहता है ॥ १५४ ॥

दुष्टों को शांति प्रिय वचन कोमलतता पवित्रता संतोष दम सत्य और स्थिरता यह गुण नहीं प्राप्त होते ॥ १५५ ॥

आत्मज्ञान, वचन की रक्षा, सहन, धर्म, विद्या, त्याग और दान करना यह दुष्टों में नहीं होते ॥ १५६ ॥

[नोट — अर्थात् इन्हीं गुणों से आदमी को सज्जन कह सकते हैं]

दुष्ट अर्थात् खोटे आचरण वाले मनुष्य अपने बुरे वचनों से सज्जनों को दुख देते हैं, जिससे वे मूर्ख उस पाप के कारण नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं ॥ १५७ ॥

हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दण्ड विधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमागुणवतां बलम् ॥ १५८ ॥
वाक् संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रञ्च न शक्यं बहुभाषितुम् ॥ १५९ ॥
अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता ।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ १६० ॥
रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥ १६१ ॥
कर्णिनालीकनाराचा निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक् शल्यस्तु न निर्हर्त्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥ १६२ ॥

दुष्टों का हिंसा, राजाओं का दंड, स्त्रियों का पति सेवा और गुणवानों का क्षमा ही बल है ॥ १५८ ॥

वचनों को वश में रखना कठिन है, इसलिये अर्थ से भरे हुए और सुंदर वचनों को बहुत समय तक न कहे ॥ १५९ ॥

जो मनुष्य थोड़ा और सुंदर बोलता है उसको आनंद मिलता है और जो बहुत और असत्य बात कहता है उसको दुख मिलता है ॥ १६० ॥

फर्सों का कटा हुआ वृक्ष हरा और बाण का लगा हुआ घाव भर भी जाता है परन्तु वचन रूपी बाणों से लगा हुआ घाव कभी नहीं भरता ॥ १६१ ॥

धनुष से लगे हुए बाण शरीर से निकल भी आते हैं परन्तु वाणी रूपी बाण नहीं निकल सकते क्योंकि वह हृदय में प्रवेश हो-जाते हैं ॥ १६२ ॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्यनाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नाव सृजेत् परेभ्यः ॥१६३॥
यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ १६४ ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नय सङ्काशो हृदयान्नाप सर्पति ॥ १६५ ॥
यावत् कीर्त्तिर्मनुष्यस्य पुण्यालोके प्रगीयते ।
तावत् स पुरुषव्याघ्र स्वर्गं लोके महीयते ॥ १६६ ॥
तस्माद्राजेन्द्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तु मर्हसि ।
मा गमःससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थ मब्रुवन् ॥ १६७ ॥

मुख से निकले हुए बाण रूपी वचन जो कोमल स्थान पर गिरते हैं मनुष्य को रातदिन सोच में रखते हैं इसलिये बुद्धिमान ऐसे बाण रूपी वचनों को मुख से न निकाले ॥ १६३ ॥

बुद्धि के नाश होने ही से नाना प्रकार के दुःख मिलते हैं अर्थात् बुद्धि के बिगड़ने ही से दुखों के मिलने का आरम्भ होता है जिससे उसके मनमें नीति अनीति और अनीति नीति जान पड़ती है इससे वह खुशामदियों के ही वाक्यों को पसंद कर नीच कर्मों को करने लगता है जिससे उसका नाश होजाता है ॥ १६४, १६५ ॥

मनुष्य की कीर्त्ति जब तक इस लोक में गाई जाती है तब तक वह स्वर्ग लोक में वास करता है ॥ १६६ ॥

जैसे प्रह्लाद ने अपने पुत्र के लिये झूठ नहीं बोला ऐसे ही आपभी भूमि के अर्थ झूठ मत बोलिये क्योंकि झूठ बोलनेवाले का पुत्रों सहित नाश हो जाता है ॥ १६७ ॥

न देवो दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यन्तु रक्षितु मिच्छन्ति बुद्‌ध्या संविभजन्ति तम् ॥१६८॥
यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः॥ १६९ ॥

नैनं छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति
मायाविनं मायया वर्त्तमानम् ।
नीडं शकुना इव जातपक्षा-
श्छन्दांस्येन प्रजहत्यन्तकाले ॥ १७० ॥
मानोग्निहोत्रमुतमान मौनं
मानेनाधीत मुतमान यज्ञः ।
एतानि चत्वार्य्यं भयङ्कराणि
भयं प्रयच्छन्त्य यथाकृतानि ॥ १७१ ॥

सज्जन पुरुष पशुओं की तरह लाठी से मनुष्यों को नहीं हांकते वरन जिसकी रक्षा करने की इच्छा करते हैं उसको सतोपदेश देकर बुद्धिमान करदेते हैं ॥ १६८ ॥

जैसे २ मनुष्य की बुद्धि अच्छे कार्यों की ओर जाती है उसी भांति उस मनुष्य के काम पूर्ण होते जाते हैं ॥ १६९ ॥

जो पुरुष पापी और कपटी हैं उनकी वेद कुछ रक्षा नहीं करते वरन ऐसे छोड़देते हैं जैसे घोसले को पक्षी पंख निकलने पर, अर्थात् सुकर्म ही मनुष्य को दुखों से बचाता है ॥ १७० ॥

जो मनुष्य सन्मान पाने के लिये अग्निहोत्र और यज्ञ करता और विद्या पढ़ता है उसका कभी कल्याण नहीं होता, परन्तु जो बिना लालच के करता है उसी को सुख मिलता है ॥ १७१ ॥

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोम विक्रयी ।
पर्वंकारश्च सूचीच मित्रध्रुक् पारदारिकः ॥ १७२ ॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात्पानपो द्विजः ।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ १७३ ॥
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि ।
रक्षेत्युक्तश्च यो हि स्यात् सर्वे ब्रह्म हभिः समाः ॥१७४॥

तृणोल्कया ज्ञायते जात रूपं
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीर
कृच्छ्रास्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ १७५ ॥

मकान जलानेवाला, विषदेने वाला, कुवासी और यज्ञ के फल का वेचनेवाला शस्त्र बनाने वाला, नक्षत्र सूची अर्थात् थोड़ा ज्योतिष जाननेवाला, मित्र से द्रोह अर्थात् लड़ाई झगड़ा करने वाला पराई स्त्री से अधर्म करनेवाला, गर्भ का नाश करने वाला, गुरू की शय्या पर पैर रखनेवाला, मदिरा पीनेवाला अति तीक्ष्ण, अति क्रोधी, कौवा की तरह वृत्ति करनेवाला, नास्तिक अर्थात् वेद की निंदा करनेवाला, विना यज्ञोपवीत के यज्ञ करानेवाला, दूसरे के भाग को छीन लेने वाला और शरण आये हुए की रक्षा न करनेवाला—इन सब को ब्रह्म हत्या के समान पाप होता है ॥ १७२, १७३, १७४ ॥

अग्नि से सुवर्ण, आचरण से सत्पुरुष, व्यवहार से साधु, युद्ध में शूर-वीर, कठिन कार्यों में धीरता, और विपत्ति के समय मित्र जाने जाते हैं ॥ १७५ ॥

जरा रूपं हरति हि धैर्य्यमाशा
मृत्यु: प्राणान् धर्म्ममर्य्यामसूया ।
क्रोध श्रियः शीलमनार्य्य सेवा
ह्रियं कामः सर्व्वमेवाभिमानः ॥ १७६ ॥

श्रीर्मङ्गलात् प्रभवति प्रागल्भ्यात् संप्रवर्द्धते ।
दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात् प्रतितिष्ठति ॥ १७७ ॥

यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च
चत्वार्य्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः ।
दमः सत्यमार्ज्जवमानृशंस्यं
चत्वार्य्येतान्यनुयान्ति सन्तः ॥ १७८ ॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्य लोके
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शमानि ।
चत्वार्य्येषामन्ववेतानि सद्भि-
स्त्वारि चैषा मनुयान्ति सन्तः ॥ १७९ ॥

जैसे बुढ़ापा रूप को, आशा धीरज को, मृत्यु प्राणों को, दुष्टता धर्म को, क्रोध लक्ष्मी को, दुष्ट सेवा शील को, काम लज्जा को, नाश कर देता है वैसे ही अभिमान सब को नाश करदेता है ॥ १७६ ॥

शुभ कर्मों के करने से धन मिलता है और अच्छे कर्मों में तत्पर रहने से उसकी जड़ जमती है, संयम अर्थात् इन्द्रियों के जीतने से वह सदैव बना रहता है ॥१७७॥

यज्ञ दान विद्या तपस्या यह महात्माओं के जानने योग्य हैं, और इंद्रियों का जीतना सत्य बोलना कोमलता और दयालुता यह संतों अर्थात् सज्जनों के स्वाभाविक गुण हैं ॥ १७८ ॥

इन आठ गुणों में से चार गुण स्वर्ग को पहुंचाते हैं और शेष चार गुणों के होने से मनुष्य महात्मा कहाता है ॥ १७९ ॥

इज्याध्ययन दानानि नयः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्ट विधः स्मृतः॥ १८० ॥
तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति ॥ १८१ ॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा येन वदन्ति धर्मम् ।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥ १८२ ॥

सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम् ।
शौर्यञ्च चित्र भाष्यञ्च दशेमे स्वर्गयोनयः ॥ १८३ ॥

यज्ञ और दान करना, विद्या पढ़ना, नीति से चलना, सत्य बोलना, क्षमा और दया करना, लोभ न करना—यह आठ धर्म के मार्ग हैं ॥ १८० ॥

इनमें से प्रथम के चार दुष्ट मनुष्य नामवरी के लिये भी करते हैं परन्तु अन्त के चार दुष्ट मनुष्य नहीं कर सकते अर्थात् इन चार गुणों से मनुष्य की सज्जनता जानी जाती है ॥ १८१ ॥

हे राजन वह सभा नहीं जहां वृद्ध न हों, और वह वृद्ध नहीं जो धर्म को न कहें, वह धर्म नहीं जो सत्य नहो, और वह सत्य नहीं जिसमें छल हो ॥ १८२ ॥

सत्य, रूप, गुण, विद्या, उत्तम कुल में जन्म, बल, धर्म, शूरता, सभा के योग्य विचित्र वार्त्ता करना, यह बातें मनुष्य को स्वर्ग में लेजाती है ॥ १८३ ॥

पापं कुर्वन् पापकीर्त्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन् पुण्य कीर्त्तिः पुण्यमत्यन्तमश्नुते ॥ १८४ ॥
तस्मात् पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ १८५ ॥
नष्ट प्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्द्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः ॥ १८६ ॥
वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्य मारभतेनरः ।
पुण्यंकुर्वन् पुण्य कीर्त्तिः पुण्यं स्थानंस्म गच्छति ॥ १८७ ॥
तस्मात् पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ।
असूयको दन्दशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः ॥ १८८ ॥
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात् पाप माचरन् ।
अनसूयः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन् सदा ॥ १८९ ॥

जो पाप करता है उसकी अपकीर्त्ति होती है और उसको पाप का फल मिलता है और धर्मात्मा को धर्म युक्त कार्य करने से यश और उसका शुभ फल भी मिलता है ॥ १८४ ॥

इसलिये मनुष्य मात्र को उचित है कि पाप कर्मों को कभी न करे क्योंकि बार बार पाप करने से बुद्धि का नाश होजाता है ॥ १८५ ॥

बुद्धि के नाश होने से मनुष्य नित्य पाप ही करता है, सुकर्म से बुद्धि बढ़ती है और बुद्धि के बढ़ने से मनुष्य सदा शुभ कर्म करता है जिससे उसको कीर्त्ति और जीवन मुक्ति मिलती है ॥ १८६, १८७ ॥

इसलिये उत्तम मनुष्यों को चाहिये कि वे धर्म युक्त अर्थात् शुभ कार्य करें ॥ १८८ ॥

निंदा, डाह, और दूसरे के कार्यों का नाश करनेवाला, और कठोर वचन कहनेवाला दुष्ट मनुष्य का पाप के कारण शीघ्र नाश होजाता है ॥ १८९ ॥

न कृच्छं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते ।
प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पण्डितः ॥ १८० ॥
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम् ।
दिवसेनैव तत् कुर्य्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् ॥ १८१ ॥
अष्टमासेन तत् कुर्य्याद्येन वर्षा सुखं वसेत् ।
पूर्वे वयसि तत् कुर्य्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत् ॥ १८२ ॥
यावज्जीवेन तत् कुर्य्याद्येनामुत्र सुखं वसेत् ।
जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति भार्य्याञ्च गत यौवनाम् ॥ १८३ ॥
शूरं विजित संग्रामं गतपारं तपस्विनम् ।
धनेनाधर्म लब्धेन यच्छिद्रमपि धीयते ॥ १८४ ॥

जो किसी की उन्नति देख कर दुख नहीं मानते, जिसकी बुद्धि सदा सावधान रहती है और जो सदा अच्छे कर्म करता है उसको कभी दुख नहीं मिलता और उसकी सब जगह प्रशंसा होती है, और जो पुरुष अपनी बुद्धि से बुद्धि की उन्नति करता है वही पंडित है ॥ १८० ॥

बुद्धिमान धर्म अर्थ युक्त कार्य करने ही से सुख पाता है, दिन में वह कार्य करे जिससे रात को सुखप्राप्त हो ॥ १८१ ॥

आठ महीने में वह काम करे जिससे वर्षा में, और पहिली अवस्था में वह काम करे जिससे वृद्ध अवस्था में सुख हो ॥ १८२ ॥

आयु भर मनुष्य को वह काम करना चाहिये जिससे मरने के बाद सुख हो ॥ १८३ ॥

अन्न की पचने पर, स्त्री की यौवन बीतने पर, शूर की संग्राम जीतने पर, तपस्वी की तपस्या पूरी होने पर सराहना होती है, परन्तु अधर्म से प्राप्त किये हुए धन के पाप का सदा भय लगा रहता है, वह पाप किसी प्रकार छिप नहीं सकता और बिना दंड दिये भी नहीं छोड़ता ॥ १८४ ॥

असंवृतं तद्भवति ततोऽन्यदवदीर्य्यते ।
गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ॥ १९५ ॥
अथ प्रच्छन्न पापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ।
ऋषीणाञ्च नदीनाञ्च कुलानाञ्च महात्मनाम् ॥ १९६ ॥
प्रभवो नाधिगन्तव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च ।
द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्ज्जवी ॥ १९७ ॥
एतत् कार्य्यममराः संश्रुतं मे
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः ।
ग्रन्थिं विनीय हृदयस्य सर्वं
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ १९८ ॥
आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षितः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥ १९९ ॥

गुरु महात्माओं को, राजा दुष्ट मनुष्यों को, और परमेश्वर छुपकर पाप करनेवालों को दंड देता है। नदी, ऋषि, महात्माओं के कुल, और स्त्रियों के चरित्रों का प्रभाव जानना अति कठिन है, इसलिये क्षत्रियों को चाहिये कि सज्जन ब्राह्मणों की पूजा अर्थात् आदर सत्कार किया करें और शील से सदा रहें ॥ १९५, १९६, १९७ ॥

कपट की गांठ को हृदय से दूर कर सबको समान देखना, धीरज, रखना इन्द्रियों का जीतना, और सत्य कहना यह धर्म है ॥ १९८ ॥

जो कोई निंदा अर्थात् बुराई करे तो आप उसकी निंदा न करे, और जो कोई क्रोध करे तो उसको सहले, क्योंकि वह क्रोध क्रोधकर्ता ही को भस्म करता है और क्षमा करने वाले को कल्याणकारी होता है ॥ १९९॥

नाक्रोशीस्यान्नावमानी परस्य
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी ।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो
रूक्षां वाचमुषतीं वर्ज्जयीत ॥ २०० ॥

मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्
रूक्षा वाचो दिहहन्तीह पुंसाम् ।
तस्माद्वाचमुषतीं रूक्षरूपां
धर्मारामो नित्यशो वर्ज्जयीत ॥ २०१ ॥

अरुन्तुदं पुरुषं रूक्षवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदन्तं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानां
मुखेनिबद्धां निर्ऋतिं वै वहन्तम् ॥ २०२ ॥

कभी मनुष्य बुरी बात, किसी का अपमान, मित्र से वैर, नीच की सेवा, और अभिमान न करे, और अच्छे आचरण को भी कभी न छोड़े ॥ २०० ॥

धर्मात्मा को योग्य है कि दुष्ट बातें अर्थात् रूखी वाणी कभी न कहे, क्योंकि दुष्ट बातें मनुष्य के हृदय हाड़ और प्राणों को दाह करती हैं जिससे धर्म का नाश होजाता है ॥ २०१ ॥

जो चित्त का दुखानेवाला और दुष्ट बचन कहनेवाला पुरुष वाणी रूपी कांटों से श्रोता के हृदय को छेदता है वह मनुष्यों में बुरा समझा जाता है और उसके साथ सदा झगड़ा बना रहता है ॥ २०२ ॥

यश्च देवमभिविध्येत वाचो-
भृशं सुतीक्ष्णैरनलार्कप्रदीप्तैः ।
स विध्यमानोऽप्यतिदह्यमानो
विद्यात् कविः सुकृतं मे दधाति ॥ २०३ ॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रङ्गवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥ २०४ ॥

अतिवादं न प्रवदेन्न वादयेद्यो
नाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत् ।
हन्तुश्च यो नेच्छति पापकं वै
तस्मै देवाः स्पृहयन्त्यागताय ॥ २०५ ॥

बाण रूपी वाणी कहनेवाले को दुःख और श्रोता को सदा सुख होता है ॥ २०३ ॥

चाहें साधु हो वा दुष्ट, चाहें तपस्वी हो वा चोर, इनकी संगत करने से मनुष्य के चित्त पर उसका प्रभाव अवश्य होता है जैसे वस्त्र पर रंग का होता है, अर्थात् मनुष्य खोटों की संगत से खोटा और अच्छों की संगत से अच्छा होजाता है ॥ २०४ ॥

जो मनुष्य अति वाद न करता और न दूसरों से कराता है, न किसी को मारता न किसी से मारखाता और न किसी के मारने की इच्छा करता है उसकी विद्वान् लोग प्रशंसा करते हैं ॥ २०५ ॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद्व्याहृतं तद्द्वितीयम् ।
प्रियं वदेद्व्याहृतं तत्तृतीयं
धर्म्यं वदेद्व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ २०६ ॥
यतो यतो निवर्त्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्त्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ २०७ ॥
न जीयते नानुजिगीषतेऽन्या-
न्न वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निन्दाप्रशंसासु समस्वभावो
न शोचते हृष्यति नैवचायम ॥ २०८ ॥
भाव मिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः ।
सत्यवादी मृदुर्दान्तो यः स उत्तमपूरुषः ॥ २०९ ॥
नानर्थकं सान्त्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च ।
रन्ध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः ॥ २१० ॥

बुरे बोलने से न बोलना, बोलने में भी सत्य, सत्य में भी प्यारा, और प्यारे में भी धर्मयुक्त बोलना अर्थात् प्राणीमात्र को धर्मयुक्त बोलना सर्वोपरि श्रेष्ठ है, और धर्मयुक्त बोलनेवाले को ही प्यारा कहते हैं क्योंकि आत्मा को धर्म ही प्रिय है॥२०६॥

जहां से मनुष्य अपने चित्त को लौटाना चाहता है वहां से लौट आता है और सब से मन हटजाने पर कुछ भी दुःख नहीं होता, और जिसको किसी प्रकार का दुःख नहीं, न किसी के मारने की इच्छा करता, न निंदा प्रशंसा करता है न किसी से प्रसन्न अप्रसन्न होता है, उसका चित्त समान होजाता है ॥२०७, २०८॥

जो पुरुष सब की भलाई और किसी की बुराई नहीं चाहता, और जो सत्य और कोमल बात कहता और इन्द्रियोंको जीतता है वही उत्तम पुरुष है ॥ २०९ ॥

जो किसी के लिये बुराई नहीं चाहता, जिस वस्तु के देने की प्रतिज्ञा करे उसे देदेता है और दोष जानकर बतादेता है वह मध्यम पुरुष है॥ २१० ॥

दुःशासनोस्तूपहतोऽभिशस्तो
नावर्त्तते मन्युवशात् कृतघ्नः।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ २११ ॥

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्म शङ्कितः।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः ॥ २१२ ॥

तपो दमो ब्रह्म वित्तं वितानः
पुण्या विवाहाः सततंचान्न दानम्।
येष्वेवैते सप्त गुणा भवन्ति
सम्यग्वृतास्तानि महाकुलानि ॥ २१३ ॥

येषां वृतं न व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरन्ति धर्मम्।
ये कीर्त्तिमिच्छन्तिकुले विशिष्टां
त्यक्तान्ततास्तानि महाकुलानि ॥ २१४ ॥

जो सदा खोटे वचन कहे, हर समय क्रोधी ही रहे, कृतघ्नी अर्थात् उपकार को न माने, किसी का मित्र न हो अर्थात् सदा दुष्टता करता रहे, किसी से श्रद्धा न करे, मित्रों का निरादर करे, और अपने किये हुए कर्मों में भी शंका करे, ऐसे पुरुषों को नीच और अधम कहतेहैं ॥ २११, २१२ ॥

जिन कुलों में तप करना, इन्द्रियों का जीतना, वेद विद्या का पढ़ना, यज्ञादि का करना, अच्छे कुल में विवाह करना, होम और दान, सदा होता रहता है और जिस कुल में मनुष्यों के अच्छे आचरण हैं खोटे काम नहीं करते, माता पितादि दुख नहीं पाते, प्रसन्न चित्त होकर धर्म करते हैं और झूठ नहीं बोलते वही बड़े कुल हैं ॥ २१३, २१४ ॥

अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यान्ति धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ २१५ ॥
देवद्रव्य विनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्य कुलतां यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च ॥ २१६ ॥
कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसङ्ख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः ॥ २१७ ॥
वृत्ततस्त्व विहीनानि कुलान्यल्प धनान्यपि ।
कुलसङ्ख्यास्च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः ॥ २१८ ॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वृत्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥ २१९ ॥

जिन बड़े कुलों में यज्ञ और उत्तम रीति से विवाह नहीं होते, जिस कुल में वेद नहीं पढ़ते, धर्म को बिगाड़ते, विद्वान् महात्मा धर्मात्मा ब्राह्मणों का धन छीनते और उनकी निंदा करते हैं, वह भी शीघ्र नीच हो जाते हैं ॥२१५, २१६॥

जो कुल धन धान्य से सम्पन्न है परन्तु उसके मनुष्यों के आचरण भ्रष्ट हैं वह उत्तम कुल नहीं होसकते, और जिन कुलों में धन थोड़ा है परन्तु उसके मनुष्यों के आचरण अच्छे हैं तो वह उत्तम कुल कहाते हैं ॥ २१७, २१८ ॥

धन की स्वाभाविक प्रकृति आने और जाने की है इसलिये यत्न पूर्वक आचरणों को सुधारना चाहिये, बहुत धन होने पर भी खोटे आचरणवाला मनुष्य खोटा, और न्यून धन होने पर भी शुभ आचरणवाला पुरुष उत्तम कहाता है ॥२१९॥

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया ।
कुलानि न प्ररोहन्ति यानि हीनानि वृत्ततः॥ २२० ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ २२१ ॥

श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम् ॥ २२२ ॥

सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यन्दनो वै
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवन्ति
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥ २२३ ॥

चलच्चित्त मनात्मानमिन्द्रियाणां वशानुगम् ।
अर्थाः समतिवर्त्तन्ते हंसाः शुष्कं सरो यथा॥ २२४ ॥

धन पशु खेती व्योपार इन सब से कुल की उत्तमता नहीं होती, परन्तु उसके मनुष्यों के उत्तम चाल चलन होने से ही कुल की श्रेष्ठता होती है ॥२२०॥

बिछौना अर्थात् आसन, पृथ्वी, जल, सच्चे वचन—यह चार बातें महात्मा अर्थात् सज्जन पुरुषों के घर में अवश्य होनी चाहिये ॥ २२१ ॥

हे राजन धर्मात्मा लोग श्रद्धा पूर्वक उपरोक्त चार बातों से महात्माओं का सत्कार करते हैं, क्योंकि उपरोक्त चार लक्षण उत्तम कुल के हैं ॥ २२२ ॥

जैसे भारी रथ को घोड़ों के अतिरिक्त और कोई नहीं लेजा सकता वैसे ही कुलीन बुद्धिमान चरित्र रूपी भार को सहलेते हैं और लोग नहीं सह सकते ॥ २२३ ॥

जिसका मन चित्त शरीर स्थिर नहीं और इन्द्रियों के वशीभूत है उस को धर्म अर्थ ऐसे छोड़देता हैं जैसे सूखे सरोवर को हंस छोड़देते हैं ॥ २२४ ॥

अकस्मादेव कुप्यन्ति प्रसीदन्त्यनिमित्ततः ।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा ॥ २२५ ॥

पुनर्नरो म्रियते जायते च
पुनर्नरो हीयते वर्धते च ।
पुनर्नरो याचति याच्यते च
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ २२६ ॥

सुखस्य दुःखस्य भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥२२७॥

चलानि हीमानि षडिन्द्रियाणि
तेषां यद्यद्वर्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमम्भः ॥ २२८ ॥

जिस मनुष्य का चित्त जल में नाव के समान चलायमान हो, जो मनुष्य बिना प्रयोजन क्रोध करे और अप्रसन्न होजावे, यह स्वभाव बुरे मनुष्यों अर्थात् मूर्खों के हैं, जैसे बादल बिना बरसे चलागया ॥ २२५ ॥

यह मनुष्य बार २ मरता और बार २ पैदा होता है, कभी नाश और कभी वृद्धि को प्राप्त होता है, कभी मांगता और कभी देता है, कभी मनुष्यों को शोक बढ़ाता है अर्थात् सुख, दुःख, जन्म, मरण, लाभ, हानि, मनुष्य को सदा लगे रहते हैं इसलिये धीर्यवान् पुरुषों को हर्ष शोक न करना चाहिये ॥ २२६, २२७ ॥

पांचो इन्द्रियां चलायमान हैं इनमें से जो वृद्धि को प्राप्त होती है उसी के बल से बुद्धि खराब होजाती है, जैसे छेदवाले घड़े का जल गिरजाता है ॥२२८॥

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभ संत्यागाच्छान्तिं पश्यामि तेऽनघ॥ २२९ ॥
बुद्ध्याभयं प्रणुदति तपसा विन्दते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शान्तिं योगेन विन्दति ॥ २३० ॥
अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरन्तीह मोक्षिणः ॥ २३१ ॥
स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यान्ते सुखमेधते ॥ २३२ ॥
स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभन्ते ।
न स्त्रीषु राजन्रतिमाप्नुवन्ति
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ २३३ ॥

हे महाराज जैसे इन्द्रियों के बिना रोके विद्या और तपस्या नहीं, ऐसेही लोभ के बिना त्यागे शांति का कोई उपाय नहीं है ॥ २२९ ॥

बुद्धि से भय दूर होता है, तपस्या से महत्व, गुरु की सेवा से ज्ञान, और योग से शांति प्राप्त होती है ॥ २३० ॥

जिन्हों ने दान पुण्य नहीं किया और वेद को नहीं पढ़ा वे पुरुष राग द्वेष से नहीं छूटते हैं और इसी लोक में विचरते रहते हैं ॥ २३१ ॥

विद्या पढ़ने, युद्ध, सुकर्म और उत्तम तपस्या का फल पूर्ण होने पर ज्ञात होता है ॥ २३२ ॥

जिन मनुष्यों का मन दुखी होता है उनको उत्तम शय्या पर सोने, भाटों की स्तुति सुनने, और स्त्रियों से वार्त्तालाप करने पर भी सुख नहीं होता ॥ २३३ ॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मं
न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥ २३४ ॥

तन्तवोऽप्यायता नित्यं तनवो बहुलाः समाः ।
बहून् बहुत्वादायासान् सहन्तीत्युपमा सताम् ॥२३५॥

महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कन्धो मर्दितुं क्षणात् ॥ २३६ ॥

एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषन्तो मन्यन्ते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥ २३७ ॥

अथ ये सहिता वृक्षाः सङ्घशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान् वातान् सहन्तेऽन्योऽन्यसंश्रयात् ॥२३८॥

जिन मनुष्यों के वाणी रूपी बाण लगते हैं वे धर्म को नहीं करसकते, न उनको शांति और सुख मिलता है, और उनका गौरव भी नष्ट होजाता है ॥ २३४ ॥

अंश सदा बढ़ता और घटता, शरीर बहुत वर्षों तक रहता है, मनुष्यों को बहुत प्रकार के दुःख होते हैं, परन्तु महात्मा लोग उनको सदा सहते हैं ॥ २३५ ॥

जैसे अकेले वृक्ष को चाहे वह बड़ा, बलवान, और प्रतिष्ठित हो आंधी उखाड़ डालती है वैसे ही अकेला मनुष्य चाहे वह गुणवान और बलवान हो तो भी शत्रु के हाथ से माराजाता है ॥ २३६, २३७ ॥

जिस वन में बहुत से वृक्ष होते हैं वहां के वृक्ष बड़ी आंधी आने पर भी नहीं टूटते क्योंकि वहां एक वृक्ष दूसरे की सहायता करता है ॥ २३८ ॥

अन्योऽन्यसमुपष्टम्भादन्योऽन्यापाश्रयेण च ।
ज्ञातयः सम्प्रवर्द्धन्ते सरसीवोत्पलान्युत ॥ २३९ ॥
अवध्यो ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः ।
येषाञ्चान्नानि भुञ्जीत ये च स्युः शरणागताः ॥२४०॥
न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन् सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद्भद्रन्ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥ २४१ ॥
अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि
पापानुबन्धं पुरुषं तीक्ष्ण मुष्णम् ।
सताम्पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युंमहाराज पिब प्रशाम्य ॥ २४२ ॥
रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते
न वै लभन्ते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव
न बुध्यन्ते धनभोगान्न सौख्यम् ॥ २४३ ॥

आपस के मेल से अर्थात् एक दूसरे के आश्रय से जातवाले वृद्धि को ऐसे प्राप्त होते हैं जैसे तालाब में कमल ॥ २३९ ॥

ब्राह्मण, गऊ, जातवाले, बालक, स्त्री, जिसका खावे, और जो शरणागत आवे इनको कभी न मारना चाहिये ॥ २४० ॥

मनुष्य में सामर्थ्य के सिवाय और कोई गुण नहीं वह भी निरोग पुरुषों में होता है क्योंकि रोगी पुरुष मरे हुए के समान होता है ॥ २४१ ॥

इसलिये निरोग और बलवान पुरुषों को अधर्म के बढ़ाने वाली, तेज, गर्म, कडुई रोग दूर करनेवाली और बुद्धिमानों के पीने योग्य, क्रोध रूपी अग्नि को पीकर शांति होना चाहिये ॥ २४२ ॥

रोगी को किसी प्रकार का आनंद और आदर नहीं मिलता, विषयों के तत्व को नहीं जानता। वह रोग के दुःख के समान कुछ नहीं समझता ॥२४३॥

न तद्बलं यन्मृदुना विरुध्यते
सूक्ष्मो हि धर्मस्तरसा सेवितव्यः ।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीर्मृ-
दुप्रौढ़ा गच्छति पुत्र पौत्रान् ॥ २४४ ॥

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
वैचित्रवीर्य्यं पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः ॥ २४५ ॥

दानवेन्द्रस्य हि धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत् ।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्ण तस्तथा ॥२४६॥

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्ये
यश्चातिवेलं भजते द्विषन्तम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमस्तुते
यश्चायाच्यं याचते कथ्यते च ॥ २४७ ॥

जो क्षमावान् पुरुष से वैर करता है वह बली नहीं, मनुष्य को योग्य है कि सदा सूक्ष्म धर्म को करे, अन्याय से कमाया हुआ धन वंश सहित नाश होजाता है और जो धर्मानुसार धन मिलता है वह पुत्र पौत्रादि तक बढ़ता और सुख देता है ॥ २४४ ॥

स्वयम्भू मनु ने कहा है कि जो कोई मुट्ठी से आकाश को पीते इन्द्र धनुष को नवाना चाहे सूर्य की ओर देखना, और चन्द्रमा की किरणों को पकड़ना चाहे जो अशिष्य को शिक्षा करे, जो कुसमय प्रसन्न हो, जो शत्रु की सेवा करे, जो स्त्री की रक्षा करके भलाई चाहे, जो अजाच को जांचे, जो किये काम को बार २ कहे ॥ २४५, २४६, २४७ ॥

यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्य्यं
यश्चावलो वलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति
यश्चाकाम्यं कामयते नरेन्द्र ॥ २४८ ॥
बध्वावहासं श्वशुरो मन्यते यो
बध्वावसन्नभयो मानकामः ।
परक्षेत्रे निर्वपति यश्च बीजं
स्त्रियश्च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ २४९ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीतिवादी
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः ।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत
एतान्नयन्ति निरयं पाशहस्ताः ॥ २५० ॥
शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।
नाप्नोत्यथ च तत् सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ २५१ ॥

जो कुलीन होकर बुरा काम करे, जो निरवल होकर बली से वैर करे, जो अश्रद्धालु से बात करे, जो न करने योग्य कामों को करे, जो ससुर होकर बहू से हंसी करे, जो बधू के संगवास करे जो अभय होकर मान की चाहना करे, जो पराये क्षेत्र में बीजबोवे अर्थात् जो अपने वीर्य को परस्त्री वेश्या गमनादि में व्यय करे, जो स्त्रियों से हर समय झगड़ा करे, जो वस्तु पाकर कहे कि याद नहीं दी है या नहीं, जो भीख मांगनेवालों से अपनी प्रशंसा करे, जो देकर बार २ कहे, जो दुष्टों को साधू बनाने के लिये यत्न करे—ऐसे पुरुषों को अवश्य नरक प्राप्त होता है ॥ २४८, २४९, २५० ॥

धृतराष्ट्र ने विदुर से पूछा कि वेदों में मनुष्य की आयु सौ वर्ष की लिखी है परन्तु अब सौ वर्ष तक नहीं पहुंचता इसका क्या कारण है ॥ २५१ ॥

अतिमानोतिवादश्च तथात्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ॥ २५२ ॥
एत एवासयस्तीच्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ।
एतानि मानवान् घ्नन्ति नमृत्युर्भद्रमस्तु ते ॥ २५३ ॥
मार्द्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चापि मानना ॥ २५४ ॥
विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।
वृषली पतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ २५५ ॥
आदेशकृद्वृत्तिहन्ता द्विजानां प्रेषकश्च यः ।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः ।
एतैः समेत्य कर्त्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः ॥ २५६ ॥

अति मान अर्थात् घमंड अति वाद अर्थात् लड़ाई झगड़ा, क्रोध, अपनी आत्मा का दुख अर्थात् धर्म अर्थ के बिना विचारे मनमाने कार्य करना, मित्र से द्रोह करना, किसी को वस्तु को न देना, इन छः बातों से मनुष्य की आयु घटती है और इन्हीं से वह नाश को प्राप्त होती है, अर्थात् यही छः बातें मनुष्य की आयु को शीघ्र नाश करती हैं ॥ २५२, २५३ ॥

कोमलता, अहिंसा, क्षमा, धारणा, मित्र को मानना, इन कर्मों से आयु बढ़ती है ॥ २५४ ॥

जो विश्वासवाले की स्त्री से कुकर्म करता है, जो गुरु की शय्या पर जाता, जो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य होकर वेश्या से संगत करता, जो मदिरा पीता, जो किसी की नियत आजीविका का नाश करता, जो ब्राह्मणों को नौकर रखता, और जो शरणागत आयेहुए को मारता है, उसे ब्रह्महत्या के तुल्य पाप होता है, वेदमें यह भी लिखा है कि इनको छूकर प्रायश्चित्त करना चाहिये ॥२५५, २५६॥

गृहीतवाक्यो नयविद्वदान्यः
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च ।
नानर्थकृत्याकुशलः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ २५७ ॥
सुलभाः पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ २५८ ॥
यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्त्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ २५९ ॥
द्यूत मेतत् पुराकल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् ॥ २६० ॥
आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ २६१ ॥

जो सत अर्थात् विद्वानों के वचन को ग्रहण करता हो, जो प्रत्येक विषयों को अच्छे प्रकार कहसकता हो, जो अपने कुटुम्बियों को भोजन कराकर आप भोजन करता हो, जो किसी प्रकार की हिंसा न करता हो, जो बिना अनर्थ किये न घबड़ाता हो, जो चतुर और सत्यवक्ता उपकार का माननेवाला और कोमल स्वभाववाला हो ऐसा सज्जन स्वर्ग को जाता है ॥२५७॥

मुंहपीछे मीठी बात करनेवाले बहुत हैं, परन्तु अप्यारी और सत्य बात के कहने और सुननेवाले बहुत कम हैं ॥ २५८ ॥

जो धर्मानुकूल स्वामियों के प्यार और क्रोध को छोड़कर कडुई और हितकारी बात कहता है वही स्वामियों का सच्चा सहायक है ॥ २५९ ॥

जुआ पहले समय में भी हानि कारक था और अब भी है इसलिये बुद्धिमानों को उचित है कि जुआ हंसी के लिये भी न खेलें ॥ २६० ॥

आपत्ति के अर्थ धन को, धन से कुटुंब को, और आत्मा को इन दोनों से रक्षा करे ॥ २६१ ॥

यस्मात न क्रुध्यति सर्वकालं
भृत्यस्य भक्तस्य हितेरतस्य ।
तस्मिन् भृत्या भर्त्तरि विश्वसन्ति
न चैनमापत्सु परित्यजन्ति ॥ २६२ ॥

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन
राज्यं धनं सञ्चिनुयाद्पूर्वम् ।
त्यजन्ति ह्येनं वञ्चिता वै विरुद्धाः
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः ॥ २६३ ॥

कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा
ण्यायव्यये चानुरूपाञ्च वृत्तिम् ।
सङ्गृह्णीयादनुरूपान् सहायान्
सहाय साध्यानि हि दुष्कराणि ॥ २६४ ॥

जो श्रीमान अपने नौकरों पर हर समय क्रोध नहीं करता और जो अपने भक्त के हित में रहता है अर्थात् योग्य सेवक के साथ भलाई करता है उस श्रीमान का सेवक लोग विश्वास करते हैं और आपत्ति के समय में भी नहीं त्यागते ॥ २६२ ॥

नौकरों की नौकरी काट कर श्रीमान धन इकट्ठा न करें क्यों कि इससे उनके सब सुखों का नाश होजाता है जिससे वह नाना प्रकार के झगड़े करते हैं ॥ २६३ ॥

मनुष्य को चाहिये सब कामों को सोच विचार कर और लाभ हानि पर भी दृष्टि डाल कर काम करे तत्पश्चात् सहायता लेने योग्य पुरुषों की ही सहायता लेवे क्योंकि अपने कार्य के शुभ सहायक बहुत कम मिलते हैं ॥ २६४ ॥

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्त्तुः
सर्वाणि कार्य्याणि करोत्यतन्द्रीः ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्य्यः
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोऽनुकम्प्यः ॥ २६५ ॥

वाक्यन्तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः ॥ २६६ ॥

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्य्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं
भृत्यं वदन्त्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २६७ ॥

जो सेवक श्रीमानों के अभिप्राय को जान आलस्य को छोड़ कर स्वामी की भलाई और हितकारी बात कहते हैं अर्थात् अच्छे कार्य करनेवाले हैं और श्रीमानों के बल को जानते हैं उन सेवकों को श्रीमानों को अपने कुटुंब के समान रक्षा करनी चाहिये ॥ २६५ ॥

जो सेवक अपने स्वामी की सत् आज्ञाओं का अपमान करता हो, और अपनी बुद्धि का अभिमान कर बात को काटता होतो ऐसे मूर्ख नौकर को तुरन्त त्यागदेना चाहिये ॥ २६६ ॥

जो कठोर नपुंसक और अहंकारी नहो, जो समयानुकूल कार्य करने वाला, चतुर कोमल आरोग्य और उदार वाक्य हो, और जिसको कोई अपने वश में न करसके, ऐसे मनुष्य को दूत बनाना चाहिये ॥ २६७ ॥

घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव
व्यवहारेषु वर्ज्जनीयाः स्युरेते ॥ २६८ ॥

अष्टौगुणास्तात पुरुषन्दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यञ्च श्रुतन्दमश्च ।
पराक्रमश्चा बहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ २६९ ॥

गुणा दश स्नानशीलं भजन्ते
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः ।
स्पर्शश्च गन्धश्च विशुद्धता च
श्रीः सौकुमार्य्यं प्रवराश्च नार्य्यः ॥ २७० ॥

लज्जावान राजा, कुटिला स्त्री, राजा का नोकर, पुत्र, भाई, विधवा स्त्री, फौज का सरदार और जिसका अधिकार छीना गया हो इन लोगों से व्यवहार न करना चाहिये ॥ २६८ ॥

बुद्धि, कुलीनता, वेद विद्या का पढ़ना, पराक्रम, यथायोग्य वार्त्ता और दान करना, कृतज्ञता अर्थात् उपकार को मानना, दम अर्थात् इन्द्रियों का जीतना, इन आठ गुणों से श्रीमान् यश पाते हैं। बल, रूप, स्वर, वर्ण की शुद्धता, स्पर्श अर्थात् पवित्र वस्तुओं का छूना, सूंघना, उज्जलता, धन, सुकुमारता, सुंदर स्त्री, यह आठ गुण महात्माओं को ही मिलते हैं ॥ २६९, २७० ॥

गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजन्ते
आरोग्यमायुश्च बलं सुखञ्च ।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं
न चैनमाद्यून इति क्षिपन्ति ॥ २७१ ॥
अकर्मशीलञ्च महाशनञ्च
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम् ।
अदेशकालज्ञमनिष्ट वेश-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥ २७२ ॥
कदर्य्यमाक्रोशकमश्रुतं च
वनौकसं धूर्त्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठुरिणं दृढ़वैरं कृतघ्नमेतान्
भृशार्त्तोऽपि न जातु याचेत् ॥ २७३ ॥

आरोग्यता, आयु, बल, सुख, संतान बलवान होना, क्षीण वीर्य न होना, यह छः गुण कम भोजन करनेवालों को मिलते हैं ॥ २७१ ॥

इसीलिये महात्मा लोग बहुत खानेवालों की निन्दा करते हैं, बहुत खानेवाला, लोक का बैरी, छली, देशकाल न जाननेवाला और कुरूप, इनको सज्जन पुरुष अपने घर में न रहने दे ॥ २७२ ॥

कुकर्म करनेवाला, गाली देनेवाला, जिसने वेद न पढ़ा हो न सुना हो, वनवासी, धूर्त्त माननीय पुरुषों का मान न करनेवाला, निठुर दृढ़ बैरी, कृतघ्नी अर्थात् जो उपकार को न माने ऐसे पुरुषों से अत्यन्त दुख पड़ने पर भी याचना न करे ॥ २७३ ॥

सहायबन्धना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबन्धनाः ।
अन्योऽन्यबन्धनावेतौ विनान्योऽन्यं न सिध्यतः ॥ २७४ ॥

उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा
वृत्तिञ्च तेभ्योऽनुविधाय काञ्चित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा
अरण्यसंस्थोऽयमुनिर्बुभूषेत् ॥ २७५ ॥

हितं यत् सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत् कुर्य्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ २७६ ॥

वुद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात् तस्यावृत्तिभयं कुतः ॥ २७७ ॥

धन से सहायक मिलते हैं और सहायकों से धन मिलता है, इन दोनों का आपस में ऐसा संबंध है कि एक के बिना दूसरा सिद्ध नहीं होता ॥ २७४ ॥

मनुष्यों को चाहिये कि पुत्रों को उत्पन्न कर विद्या पढ़ावे फिर उनको सब ऋणों से उद्धार कर किसी व्योपार में लगादे, और लड़कियों का अच्छे घर विवाह करके वन में जाकर तपस्या करे ॥ २७५ ॥

मनुष्य को उचित है कि ऐसा काम करे जिससे अपना और सब जगत का कल्याण हो, अपने आत्मा का सुख परमेश्वर के अर्पण करने से मनुष्य के सब कार्य सिद्ध होते हैं ॥ २७६ ॥

जिन मनुष्यों को अपनी उन्नति करने का ध्यान, प्रकाश, बल साहस है जो धर्मानुकूल कार्य और उद्योग करते हैं, वह कभी निरधन नहीं होते ॥ २७७ ॥

अर्थं सिद्धं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम् ॥ २७८ ॥
यस्यात्मा विरतः पापात् कल्याणे च निवेशितः ।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ २७९ ॥
यो धर्ममर्थं कामञ्च यथाकालं निषेवते ।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विन्दति ॥ २८० ॥
सन्नियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन् यश्चापत्सु न मुह्यति ॥२८१॥
बलं पञ्चविधं नित्यं पुरुषाणांनिबोध मे ।
यत्तुबाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ २८२ ॥
अमात्यलाभोभद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभन्तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ २८३ ॥
यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहंबलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥ २८४ ॥

जो मनुष्य अपने कल्याण की इच्छा करे तो वह आदि से धर्म ही करे, क्योंकि धर्मात्मा मनुष्यों का प्रयोजन कभी नष्ट नहीं होता, जैसा स्वर्ग लोक से अमृत नहीं नष्ट होता ॥ २७८ ॥

जो सदा पाप कर्मों से भागता है और अपने मन को धर्म में लगाता है वही मनुष्य जगत और आत्मा को जानता है ॥ २७९ ॥

जो पुरुष धर्म, अर्थ काम को समयानुकूल करता है वह अवश्य इन तीनों के प्रभाव से मोक्ष पाता है ॥ २८० ॥

जो क्रोध और आनंद के वेग को रोकता और आपत्ति पड़ने पर डर नहीं करता वही सुखी होता है। योग्य मंत्री, धन, अपने पुरुषों का अधिकार, जाति और बाहुबल यह पांच बल हैं ॥ २८१, २८२, २८३, २८४ ॥

येनत्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत।
यद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत् प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ २८५ ॥

प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जन्तो
श्चिकित्सकाः सन्ति न चौषधानि।
न होममन्त्रा न च मङ्गलानि
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ २८६ ॥

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽति तेजसः ॥ २८७ ॥

अग्निस्तेजो महल्लोके गूढ़स्तिष्ठति दारुषु।
न चोपयुङ्क्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ २८८ ॥

स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते।
तद्दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ २८९ ॥

जो इन पांचो बलों को ग्रहण करता है उसको सब से श्रेष्ठ बुद्धि बल भी मिलता है ॥ २८५ ॥

जो अपने बुद्धिरूपी बाण से शत्रु का नाश करता है उसकी कोई वैद्य चिकित्सा नहीं करसकता, और न औषधी, होम, मंत्र, मंगल अथर्वण वेद के मंत्र उसका रोग दूर करसकते हैं ॥ २८६ ॥

सर्प अग्नि सिंह और कुलीन लड़का इनका मनुष्य कभी अपमान न करे, यह बड़े तेजस्वी होते हैं ॥ २८७ ॥

क्योंकि अग्नि का तेज इस लोक में बड़ा है, वह लकड़ीमें गुप्त रूप से रहता है परन्तु लकड़ी को नाश नहीं करता जब तक कि अग्नि न निकालीजाय, उसी अग्नि का तेज जब मथकर निकालाजाता है तो वह अग्नि अपने तेज से सब बन को भस्म करदेती है ॥ २८८, २८९ ॥

पीठं दत्वा साधवोऽभ्यागताय
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः ॥ २९० ॥

यस्योदकं मधुपर्कञ्च गाञ्च
न मन्त्रवित् प्रतिगृह्णाति गेहे ।
लोभाद्भयादर्थकार्पण्यतो वा
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्य्याः ॥ २९१ ॥

चिकित्सकः शल्यकर्त्तावकीर्णी
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ २९२ ॥

साधु लोगों के पास जो अभ्यागत आजाता है उसको वे आसन देकर जल से उसके पैर धोते हैं फिर उसकी कुशल क्षेम पूछकर और कहकर उसको भोजन कराते हैं ॥ २९० ॥

जिसके घर से वेद का जाननेवाला ब्राह्मण वा अतिथि लोभ भय और दुष्टता से बिना मधुपर्क और भोजन के चलाजावे उसका जीवन महात्माओं ने वृथा ही कहा है ॥ २९१ ॥

घाव करनेवाला वैद्य, चोर, भ्रष्ट ब्रह्मचारी, दुष्ट, मद्यादि पीनेवाला गर्भ का गिरानेवाला, वेद का बेचनेवाला अर्थात् धन लेकर वेद का पढ़ानेवाला, और जिसकी रुचि पाप में रहती हो—यह मनुष्य अतिथि भी हों तो भी इनको जल मात्र न देना चाहिये ॥ २९२ ॥

अविक्रेयं लवणं पक्वमन्नं
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतञ्च ।
तिलामांसं फलमूलानि शाकं ।
रक्तं वासः सर्वगन्धा गुड़ाश्च ॥ २९३ ॥

अरोषणाय: समलोष्टाश्मकाञ्चनः
प्रहीणशोको गतसन्धिविग्रहः ।
निन्दाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ २९४ ॥

नीवारमूलेङ्गुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्य्येषु चोद्यः ।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो
धुरन्धरः पुण्यकृदेष तापसः ॥ २९५ ॥

नमक, दूध, सहत, तेल, घी, तिल, मांस, फल, फूल, शाक, कपड़ा, गुड़, अन्न, और सम्पूर्ण सुगंधों के बेचनेवाले ब्राह्मण के पैर भी न धोना चाहिये ॥ २९३ ॥

जो क्रोध नहीं करता, जो मिट्टी के ढेले के समान सोने आदि को जानता हो जो दुख और सुख से अलग हो, जिसको मिलाप और झगड़े से कुछ प्रयोजन न हो, जो निंदा और प्रशंसा से अलग हो, जो प्यारे अप्यारे को समान देखे वही साधु है ॥ २९४ ॥

जो जल और शाकादि का भोजन करता मन को रोकता और हवनादि करने में तत्पर रहता है और वन में बसकर साधुओं का आदर करता है, ऐसे पुरुष को तपस्वी कहते हैं ॥ २९५ ॥

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ॥ २९६ ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निक्तन्तति ॥ २९७ ॥
अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागो प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् ॥ २९८ ॥
पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः ॥ २९९ ॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारञ्च पुत्रैः सेवेत च द्विजान् ।
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ॥ ३०० ॥

जो मनुष्य बुद्धिमानों से बैर करके यह समझता है कि मैं उससे बहुत दूर हूं वह मेरा क्या करसकता है यह उसकी भूल है क्योंकि बुद्धिमान के बुद्धि रूपी हाथ बहुत लंबे हैं कि जिससे वह अपने शत्रु को दूर ही से नाश करदेता है ॥ २९६ ॥

विश्वास करने योग्य मनुष्यों ही का विश्वास करना चाहिये, अन्यथा अयोग्य मनुष्यों का विश्वास करने से सर्वनाश होजाता है ॥ २९७ ॥

मनुष्यों को उचित है कि किसी की हंसी न करें, स्त्रियों को वश में रक्खें, किसी का भाग न छीनें, सुंदर वचन युक्त स्त्रियों का सदा आदर करते रहें, क्योंकि स्त्रियां घर का धन और उसकी शोभा हैं इसीलिये उनकी सदा रक्षा करना चाहिये ॥ २९८, २९९ ॥

नौकरों से व्योपार, पुत्रों से ब्राह्मणों की सेवा, जल से अग्नि की सेवा, सत्य से राजा की सेवा, और पत्थर से लोहे का काम, जो करता है उसका तेज सब जगह जासकता है ॥ ३०० ॥

स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्य्यमश्नुते ।
करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ २०१ ॥
धर्मकामार्थकार्य्याणि तथा मन्त्रो न विद्यते ।
गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ २०२ ॥
अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोविधीयते ।
नासुहृत् परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ २०३ ॥
एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छे दध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥ २०४ ॥
अपण्डितो वापि सुहृत् पण्डितो वाप्यनात्मवान् ।
नापरीक्ष्य महीपालः कुर्य्यात् सचिवमात्मनः ॥ २०५ ॥
अप्रशस्तानि कार्य्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद्भ्रश्यते जीवितादपि ॥ २०६ ॥

जिस राजा की सम्मति को कोई न जानसके वही राजा सब को देख और बहुत दिनों तक सुख पूर्वक राज्य करसक्ता है, श्रीमानों को उचित है कि काम पूरा होने के पहले किसी से न कहे और जब सिद्ध होजावे तो प्रकाशित करदे ॥ २०१, २०२ ॥

श्रीमानों को योग्य है कि धर्म कार्यों का विचार पहाड़ की चोटी एकांत अटारी और बिना तिनके के जंगल में करें जहां कोई न जासके ॥ २०३ ॥

मनुष्य अकेला स्वादिष्ट भोजन और विचार न करे न अकेला मार्ग चले और न सबके सोने पर अकेला जागता रहे ॥ २०४ ॥

मूर्ख मित्र और बुद्धिमान शत्रु को भी बिना परीक्षा मंत्री न बनावे ॥ २०५ ॥

जो मूर्ख भूल से भी बुरा काम करता है वह उन कार्यों के नष्ट होने से आप भी नष्ट होजाता है ॥ २०६ ॥

कर्मणान्तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २०७ ॥

अनधीत्य यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ २०८ ॥

स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप ॥ २०९ ॥

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्यवेक्षिणः ।
आत्मप्रत्ययकोषस्य स्वाधीनेयं वसुन्धरा ॥ २१० ॥

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महीपतिः ।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत् ॥ २११ ॥

श्रेष्ठ कर्मों के करने से मनुष्यों को सुख मिलता है और जो उन कामों को नहीं करता वह पीछे पछताता और क्लेश उठाता है ॥ १०७ ॥

जैसे बिना वेद पढ़ा ब्राह्मण शुभ कार्य नहीं करसकता वैसे ही बिना छः नीति जाने हुए राजा मन्त्रियों के वचन सुनने योग्य नहीं होता ॥ १०८ ॥

जो हानि लाभ को समझता छः नीतों को जानता और उत्तम मनुष्यों का आदर करता है उसी के वश में पृथ्वी रहती है ॥ २०९ ॥

जिस श्रीमान का हर्ष और क्रोध निष्फल नहीं होता और किये हुए कामों को आप देखता और खजाने को अपने वश में रखता है उसी के वश में पृथ्वी रहती है ॥ ११० ॥

जो राजा राज्य से प्रसन्न होकर संतोष करता और नौकर को सुख देता और किसी का कुछ नहीं छीनता है वही राजा कहाने योग्य है ॥ २११ ॥

अहताद्धि भयं तस्माज्जायते न चिरादिव ।
दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ॥ ३१२ ॥
नियन्तव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ।
निरर्थकलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ॥ ३१३ ॥
कीर्त्तिञ्च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ।
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ॥ ३१४ ॥
न तं भर्त्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव स्त्रियः ।
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ॥ ३१५ ॥
लोकपर्य्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ।
विद्याशील वयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ॥ ३१६ ॥

देवता अर्थात् विद्वान ब्राह्मण, बालक, रोगी और राजा इन पर कभी क्रोध न करे और न उनसे लड़ाई झगड़ा करे क्योंकि लड़ाई करना मूर्खों का काम है ॥ ३१२, ३१३ ॥

जो कोई अनर्थ नहीं करता वह संसार में कीर्त्ति पाता है और जिसकी प्रसन्नता और क्रोध निष्फल होता है उस राजा की प्रजा प्रतिष्ठा नहीं करती, जैसे नपुंसक पति की स्त्री, बुद्धि धन के लाभ के लिये नहीं है और न मूर्खता धन के नाश के लिये, वरन इस लोक और परलोक की रीतों को बुद्धिमान ही जानता है मूर्ख नहीं जानता, विद्या शील और बुद्धि से बड़ों को बुद्धिमान ही जानता है परन्तु धन और आदमियों से बड़ों को मूर्ख भी जानता है ॥ ३१४, ३१५, ३१६ ॥

धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते।
अनार्य्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ॥ २१७ ॥
अनर्थाः क्षिप्रमायान्ति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा।
अविसंवादनन्दानं समयस्याव्यतिक्रमः ॥ २१८ ॥
आवर्त्तयन्ति भूतानि सम्यक् प्रणिहिता च वाक्।
अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ॥ २१९ ॥
अपिसङ्क्षीणकोषोऽपि लभते परिवारणम्।
धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ॥ २२० ॥
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः।
असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ॥ २२१ ॥
तादृङ्नराधमो लोके वर्ज्जनीयो नराधिप।
न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि ॥ २२२ ॥

अन्यायवृत्ति अर्थात बुरे आचरणवाला, मूर्ख निंदक, क्रोधी और अधर्मी सदा आपत्ति में पड़े रहते हैं। बोलना भी एक प्रकार का दान है इसलिये समयानुकूल बोलना योग्य है॥ २१७, २१८ ॥

जो अच्छी और सत्य वाणी बोलता है उसके पास सब लोग बैठते हैं और वह सद्भाषी, चतुर उपकार का माननेवाला बुद्धिमान और कोमल स्वभाव कहलाता है॥ २१९ ॥

धीरज, मन और इन्द्रियों को वश में रखना, शौच, दया, सद्भाषणता और मित्रों से प्रेम करना, यह सात बातें लक्ष्मी देनेवाली हैं और जिसके पास धन है लेकिन परोपकार में नहीं लगाता वह कृतघ्नी है ऐसे अधम मनुष्य को छोड़देना योग्य है क्योंकि वह रात को भी आराम से नहीं सोता और सांप की तरह सांस लेता रहता॥ २२०, २२१, २२२ है॥

यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यन्तरं जनम् ।
येषु दुष्टेषु दोषः स्याद्योगक्षेमस्य भारत ॥ ३२३ ॥
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ।
येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ॥ ३२४ ॥
ये चानार्य्यसमासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः ।
यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ॥ ३२५ ॥
मज्जन्ति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव ।
प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ॥ ३२६ ॥
प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मन्त्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३२७ ॥

जो मनुष्य निर्दोष को दोष लगाता है और जिन दुष्टों में दोष है उनको निर्दोष बताता है वह आप ही दोषी होता है ॥ २२३ ॥

वह सांप के समान रात को सुख से नहीं सोता जो निर्दोष हों उनको सदा प्रसन्न रक्खे अर्थात् चाहें राज्य और धन की हानि भी हो परन्तु धर्मात्मा की सदा सेवा करनी चाहिये ॥ २२४ ॥

जो मनुष्य स्त्री, दुष्ट, अर्थात् काम से वशीभूत हो पागल और नीचों से खान पान रखता और दुष्टों के संग बैठता हो उन सब से सदा संदेह रखना योग्य है ॥ २२५ ॥

जिस घर में कपटी की बालक स्वामी हो वह घर ऐसे डूबजाता है जैसे नदी में पत्थर ॥ १२६ ॥

कभी मनुष्य दान से कभी मीठी बात और कभी उत्तम सम्मति देने से जगत का प्यारा होता है, अर्थात् समयानुकूल कार्य्य करना चाहिये ॥ १२७ ॥

द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः ।
प्रिये शुभानि कार्य्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ॥१२८॥
न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मन्तव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ॥१२९॥
समृद्धा गुणतः केचिद्भवन्ति धनतोऽपरे ।
धनवान् गुणैर्हीनान् धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ १३० ॥
अतीवगुणसम्पन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १३१ ॥
परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च यतन्ते सततोत्थिताः ॥ १३२ ॥
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद्भयम् ।
अर्थादाने महान् दोषः प्रदाने च महद्भयम् ॥ १३३ ॥

साधू पंडित और बुद्धिमान से बैर न करना चाहिये, मेल से शुभकार्य और बैर से पाप कार्य होते हैं ॥ १२८ ॥

जिस हानि से पीछे बढ़ती हो वह हानि नहीं, हानि वही है जिससे बहुत हानि हो ॥ १२९ ॥

हे राजन् कोई गुण से और कोई धन से धनाढ्य कहाता है, गुण रहित धन के धनाढ्यों को त्याग देना चाहिये ॥ १३० ॥

बहुत गुणवान् होने पर भी जिसको नम्रता नहीं उसका शीघ्र नाश हो जाता है ॥ १३१ ॥

जो मनुष्य दूसरों की बुराई चाहते हैं, जो दूसरों के दुख को अपना सुख समझते हैं, और जो प्रतिदिन विरोध का उपाय सोचते हैं, ऐसे मनुष्यों का दर्शन भी न करना चाहिये, उनके साथ रहने और द्रव्य लेने और देने दोनों में भय होता है ॥ १३२, १३३ ॥

आदावेव न तत् कुर्य्याद‌ध्रुवे जीविते सति ।
न कश्चिन्नापनयति पुमानन्यत्र भार्गवात् ॥ २२४ ॥
अध्यवस्यति कार्य्येषु चिरं यशसि तिष्ठति ।
असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ॥ २२५ ॥
उपलभ्यञ्चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ।
पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्द्धते ॥ २२६ ॥
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृष्यानुवर्त्तते ।
अगाधपङ्के दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥ २२७ ॥
मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ।
अर्थ सन्ततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ॥ २२८ ॥
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसम्भवम् ।
दुष्टामात्येषु विश्रम्भं दूताच्चाकुशलादपि ॥ २२९ ॥

जीवन अनित्य है इसलिये पहिले ही से ऐसा काम न करना चाहिये जिससे बुढ़ापे में चारपाई पर लेट कर सोच करना पड़े ॥ २२४ ॥

जो मनुष्य विचार पूर्वक कार्य करता है वह बहुत दिन तक यश पाता है और उसको कुशल मनुष्य ज्ञानवान कहते हैं ॥ २२५ ॥

जो प्रथम आदि अंत देखकर कार्य नहीं करता और धर्म त्यागता है उसकी सदा हानि होती है ॥ २२६ ॥

जो पूर्व किये पाप को बिना विचारे फिर भी वैसाही करता है वह दुर्बुद्धि अथाह कीच में गिरजाता है ॥ २२७ ॥

धन की इच्छा, थोड़ा सोना, अज्ञानता, अपना कर्म, दुष्ट मंत्रियों और मूर्खदूत का विश्वास, यही छः राज के द्वार हैं, जो इन छः को बंद करके राज्य करता है वही बुद्धिमान कहाता है ॥ २२८, २२९ ॥

द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृपः ।
त्रिवर्गचरणेयुक्तः स शत्रू नधितिष्ठति ॥ ३४० ॥
नवे श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ।
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ३४१ ॥
नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृणुति ।
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥३४२॥
अकीर्त्तिं विनयो हन्ति हन्त्यनर्थं पराक्रमः ।
हन्ति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥ ३४३ ॥
परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्य्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन् भोजनाच्छादनेन च ॥ ३४४ ॥

जो कोई राजा इन द्वारों को जानकर इन बातों को त्यागता है और धर्म अर्थ काम में युक्त रहता है वह अपने शत्रुओं को जीत लेता है ॥ ३४० ॥

मनुष्य को बिना वेद पढ़े वा बिना बड़ों की सेवा किये कोई काम न करना चाहिये क्योंकि धर्म अर्थ को बृहस्पिति के समान बुद्धिवाले मंत्री ही जान सकते हैं अन्य नहीं ॥ ३४१ ॥

समुद्र में जो गिरता है, वाक्य जो सुना नहीं जाता वा वेहोशी में सुनाजाता है, और राख में किया हुआ हवन, नष्ट होजाता है ॥ ३४२ ॥

विनय करना योग्य है, क्योंकि विनय से अपकीर्ति का, पराक्रम से अनर्थ का, क्षमा से क्रोध का, और उत्तम आचरण से बुरे लक्षणों का, नाश होजाता है ३४३ ॥

भोजन असबाब मकान कपड़े आदि से कुल की रक्षा करनाचाहिये क्योंकि इससे मनुष्यों के कुल की परीक्षा होती है ॥ ३४४ ॥

उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥ ३४५ ॥
राजोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवन्तं सुवाक्यञ्च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ३४६ ॥
दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्य्यादां यो न लङ्घयेत् ।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान् स कुलीनशताद्वरः ॥ ३४७ ॥
ययोश्चित्तेन वा चित्तं नैभृतं निभृतेन वा ।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्य्यति ॥ ३४८ ॥
दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव ।
विवर्ज्जयीत मेधावी तस्मिन्मैत्री प्रणश्यति ॥ ३४९ ॥

जैसे मरे हुए पुरुषों की प्रशंसा करने से कुछ लाभ नहीं होता ऐसे ही काम होजाने के पश्चात् उपाय करने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता ॥३४५॥

पंडित की सेवा करनेवाले, वैद्य, धार्मिक, सुमित्र, सुवाक्य, राजा के पास रहनेवाले और अपने प्रेमी की सदा रक्षा करनी चाहिये ॥ ३४६ ॥

जो पुरुष अच्छे वा बुरे कुल में उत्पन्न होकर धर्म की मर्यादा को दूर न करे जितेन्द्री बुद्धिमान और कोमल स्वभाव हो वह सौ कुलीनों से श्रेष्ट है ॥ ३४७ ॥

जिनका चित्त से चित्त, मन से मन, बुद्धि से बुद्धि मिलजाती है और जो दोनों के सुख से सुख मानते हैं उनकी मित्रता कभी नष्ट नहीं होती ॥ ३४८ ॥

जो मूर्ख तिनकों से छिपे हुए कुए के समान कपट से मित्रता करता है उसको दूर से ही छोडदेना योग्य है, क्योंकि उसकी मित्रता बुद्धिमान से नहीं निभती ॥ ३४९ ॥

मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या सम्भाव्य चासकृत् ।
श्रुत्वाऽदृष्ट्वा विज्ञाय प्राज्ञै मैत्री समाचरेत् ॥ ३५० ॥
कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ।
जितेन्द्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ॥३५१॥
उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेत्भूतिमात्मनः ॥ ३५२ ॥

प्राप्नोति वै वित्तमयं बलेन
नित्योत्थानात् प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग्लभते प्रशंसां
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ ३५३ ॥

बुद्धिमान को योग्य है कि बुद्धि से परीक्षा करके और बुद्धि से विचार सुन और देख कर फिर भी अच्छी तरह सोच विचार कर धार्मिक सत्यवादी गंभीर प्रेमी जितेन्द्री विद्वान महात्मा और उपकार के माननेवालों से मित्रता करे ॥ ३५०, ३५१ ॥

मनुष्यों को सदा उत्तम पुरुषों ही की संगत करना चाहिये और किसी कार्य के कारण मध्यम पुरुषों की संगत करे, परन्तु सुख का चाहनेवाला पुरुष नीचों की संगत कभी न करे, क्योंकि मनुष्य खोटे की संगत से खोटे होजाते हैं जिससे उनकी बुद्धि और मन का नाश होजाता फिर उनकी उन्नति और प्रशंसा भी नहीं होती, और प्रशंसा के नाश होने से कुल का गौरव भी जाता रहता है ॥ ३५२, ३५३ ॥

नतन्मित्रं यस्य कोपाद्बिभेति
यद्वा मित्रं शान्तितेनोपचर्य्यवम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत
तद्वै मित्रं सङ्गतानीतराणि ॥ ३५४ ॥
यः कश्चिदप्यसम्बद्धो मित्रभावेन वर्त्तते ।
स एव बन्धुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत् परायणम् ॥ ३५५ ॥
चलच्चित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३५६ ॥
ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।
ते पापा इति विख्याता संवासे परिगर्हिताः ॥ ३५७ ॥

जिस के भय से मित्र डरें और जिसके कामों से मित्र को शंका हो वह मित्र नहीं, मित्र वही है जिस पर पिता के समान विश्वास हो और वह भी मित्रता करता हो ॥ ३५४ ॥

जो पुरुष बिना सम्बन्ध के मित्रभाव से बर्ते वही मित्र बंधु रचक और प्रिय है उसी की सेवा करना योग्य है ॥ ३५५ ॥

जिस पुरुष का चित्त चलायमान् और जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है और जिसने बड़ों की सेवा नहीं की उसकी मित्रता का कुछ ठीक नहीं ॥ ३५६ ॥

परस्पर बैर करनेवाले, निर्लज्ज, अपने प्रयोजन के निकालनेवाले, पापी, छली, दुष्ट, लोभी, मूर्ख, अभिमानी इनका साथ न करना चाहिये ॥ ३५७ ॥

सक्लिष्ट कर्माणमतिप्रसादं
निल्या व्रतस्था दृढ़ भक्तिश्च।
विसृष्टर्या पटुमानि नश्चा-
प्येतान्न सेवेत नराधमान्षट् ॥ ३५८ ॥
युक्तास्चान्ये महा दोष य नरास्तान विवर्ज्जयेत्।
निवर्त्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥ ३५९ ॥
या चैव फलनिर्वृत्तिः सौहृदे चैव यत् सुखम्।
यतते चापवादाय यत्नमारभये चये ॥ ३६० ॥
अल्पे प्यपकृतेर्मोहान्नशान्तिमधि गच्छति।
तादृशैः संगतं नीचैर्न्नशंसैरकृतात्मभिः ॥ ३६१ ॥
निशम्यनिपुणं बुद्या विद्वान् दूराद्विवर्ज्जयेत्।
यो ज्ञातिमनुगृह्णाति दरिद्रं दीन मातुरम् ॥३६२॥
स पुत्र पशुभिर्वृद्धिं श्रेयश्चानन्त्य मश्नुते।
ज्ञातयोवर्द्धनीयास्तैर्य इच्छत्यात्मनः शुभम् ॥ ३६३ ॥

शीघ्रता करनेवाले, अधमों, जिसका प्रेम स्थिर न हो, जो झूठ बोलता हो, जो अपने आप को बहुत चतुर माने, कामी आदि, और इनके उपरांत बहुत से दोष युक्त मनुष्यों का संग छोड़ना योग्य है, क्योंकि जब प्रेम नष्ट होजाता है तो सब बातें नष्ट होजाती हैं, इसलिये बुद्धिमान को चाहिये कि बुद्धि से विचार कर इन मनुष्यों को पहिले ही से छोडदे क्योंकि दुष्ट के प्रेम से मित्रता का सुख नहीं मिलता दुष्ट मित्र अर्थात् खोटे आचरणवाला अपकीर्त्ति का उपाय करता और उसकी हानि चाहता थोड़ा दोष होने पर भी दुष्ट मित्र शांति नहीं होता ॥३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२ ॥

जो अपनी जाति, दरिद्री, दास, बीमार पर दया करता है वह पशु और पुत्रों की वृद्धि सहित कल्याण को प्राप्त होता है, जो अपने कल्याण ही की इच्छा करे वह अपने जातिवालों की वृद्धि का उपाये करे ॥ ३६३ ॥

सत कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवन्ति ये।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोप भुञ्जते ॥ २६४ ॥
अर्चयेदेव मित्राणि सति वासति वा धने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥२६५॥
सन्तापाद्भ्रश्यते रूपं सन्तापाद्भ्रश्यते बलम्।
सन्तापाद्भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद्व्याधि मृच्छति ॥२६६॥
अनवाप्यञ्च शोकेन शरीरं चोपतप्यते।
अमित्राश्च प्रहृष्यन्ति मास्म शोके मनः कृथाः ॥२६७॥
इन्द्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद्दैवतान्यपि ॥ २६८ ॥

जो पुरुष अत्यन्त सत्कार पाकर भी मित्र का कार्य नहीं करते उनका मांस मरने के पीछे मांसखानेवाले जानवर भी नहीं खाते क्योंकि वह कृतघ्नी है ॥ २६४ ॥

मित्रों का सत्कार करता रहे चाहे धन हो वा नहीं, जो सतमित्रों के साथ अनर्थ करता है उसको मित्रों की संगत का सुख नहीं प्राप्त होता ॥ २६५ ॥

मित्रों के छुटने से रूप बल ज्ञान नष्ट होजाते हैं, और नानाप्रकार के रोग होजाते हैं ॥ २६६ ॥

मित्र के शोक से शरीर जलता है, और वैरी हंसते हैं ॥ २६७ ॥

अपनी इन्द्रियों को विषयों से रोकना अर्थात् जितेन्द्री होना सब धर्मों से श्रेष्ठ है, क्योंकि इन्द्रियों के न रोकने से अत्यन्त बुद्धि मान का भी नाश होजाता है ॥ २६८ ॥

कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात् कल्याणमाचरेत् ॥ ३६९ ॥
मङ्गलालम्भनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वन्ति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ॥ ३७० ॥
अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान् भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानन्त्यमश्नुते ॥ ३७१ ॥
नातः श्रीमत्तरं किञ्चिदन्यत् पथ्यतमं तथा ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥ ३७२ ॥
क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता ॥ ३७३ ॥
यत् सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ३७४ ॥

जो मनुष्य मन, वचन, कर्म से बुरा काम करता है उसका अवश्य नाश होजाता है, इसलिये मनुष्य मात्र को सदा अच्छे ही काम करना चाहिये ॥ ३६९ ॥

योग करने, वेद विद्या के पढ़ने, कोमलता, महात्माओं के दर्शन, और उत्तम कर्मों से सम्पदा बढ़ती है ॥ ३७० ॥

उद्योग के समान कोई उत्तम कर्म नहीं क्योंकि उद्योग से सुख और धन मिलता है, औरउद्योगी ही सच्चा सुखी है, उन्नति चाहने वाले पुरुष को चाहिये कि सदा क्षमा ही करे ॥ ३७१, ३७२ ॥

असक्त तो सब ही पर क्षमा करते हैं परन्तु जो सामर्थवान होकर क्षमा करे वही धर्मात्मा कहाता है और जो हानि लाभ को समान देखता है वही क्षमा करसकता है ॥ ३७३ ॥

जिस सुख की प्राप्ति में धर्म और यश की हानि नहीं वही काम मनुष्य को करना चाहिये अन्यथा भूल कर भी अधर्म का काम कदापि न करे ॥ ३७४ ॥

दुःखार्त्तेषु प्रशान्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदान्तेषु येचोत्साहविवर्ज्जिताः ॥ ३७५ ॥
आर्ज्जवेन नरं युक्तमार्ज्जवात् सव्यपत्रपम् ।
अशक्तं मन्यमानास्तु धर्षयन्ति कुबुद्धयः ॥ ३७६ ॥
अत्याढ्यमतिदातारमतिशूरमतिव्रतम् ।
प्रज्ञाभिमानिनञ्चैव श्रीर्भयान्नोपसर्पति ॥ ३७७ ॥
रतिपुत्रफला नारी दत्तभुक्तफलं धनम् ।
अधर्मोपार्ज्जितैरर्थैर्यः करोत्यौर्द्धदेहिकम् ॥ ३७८ ॥
न स तस्य फलं प्रेत्य भुंक्तेऽर्थस्य दुरागमात् ।
कान्तार वनदुर्गेषु कृच्छ्रास्वापत्सु संभ्रमे ॥ ३७९ ॥

मूर्ख नशों का पीनेवाला, आलसी, अजितेन्द्री और रोगी के पास धन कभी नहीं रहता ॥ ३७५ ॥

कोमल लज्जावान और सत्यवादियों को अज्ञानी लोग असमर्थ कहते है परन्तु उन्नति उन ही की होती है ॥ ३७६ ॥

जो उद्योगी दानी है और युद्ध से नही हटता अपनी प्रतिज्ञाओं को नही छोड़ता और सब कामों को विचार कर करता है उसी मनुष्य को सुख मिलता है ॥ ३७७ ॥

स्त्री का पुत्र और धन का दान और भोग फल है, जो अधर्म से प्राप्त किये हुए धन से पितरों अर्थात् विद्वानों की सेवा करता है उस सेवा का कुछ फल कर्त्ता को नहीं प्राप्त होता है क्योंकि वह अधर्म से पैदा किया हुआ है । बन जल दुःख और युद्ध में धर्मात्मा को भय नहीं होता ॥ ३७८, ३७९ ॥

उद्यतेषु च सर्वेषु नास्ति सत्त्ववताम्भयम्।
उत्थानं संयमो दाक्ष्यमप्रमादो धृतिःस्मृतिः।
समीक्ष्य च समारम्भो विद्धि मूलं भवस्य तु ॥३८०॥
जयेत् कदर्य्यं दानेन जयेत् सत्येन चानृतम्।
स्त्रीधूर्त्तकेऽलसे भीरौ चण्डे पुरुषमानिनि ॥ ३८१ ॥
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्य्यो न च नास्तिके ।
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ॥ ३८२ ॥
चत्वारिसम्प्रवर्द्धन्ते कीर्त्तिरायुर्यशो बलम्।
अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण च ॥ ३८३ ॥
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः।
अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ॥ ३८४ ॥

सावधानी, धीरज, धारण, इन बातों को धारण करके जो कार्य करने का आरम्भ करता है उसको उन्नति होती है और यही सुख के मूल हैं ॥ ३८० ॥

क्षमा से क्रोध को, साधुता से दुष्ट को, दान से मूर्ख को, सत्य से झूठ को जीतना चाहिये ॥ ३८१ ॥

स्त्री, धूर्त्त, आलसी, भयंकर, घमंडी, चोर, कृतघ्नी, नास्तिक, इनका विश्वास कभी न करे ॥ ३८२ ॥

कीर्त्ति, आयु, यश, बल – यह चार बातें धर्म और वृद्धों की सेवा करने से बढ़ती हैं ॥ ३८३ ॥

जो धन बड़े क्लेशों, अधर्म और वैरी से निवेदन करने से मिले उसकी कदापि इच्छा न करना चाहिये, मूर्ख, मनुष्य बिना संतान का मैथुन, निर्धन प्रजा और राजा से रहित राज्य का सोच करना योग्य है ॥ ३८४ ॥

निराहारा: प्रजा: शोच्या: शोच्यं राष्ट्रमराजकम् ।
अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ॥ ३८५ ॥

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिता: ।
अन्नपानजिता दारा: सफलं तस्य जीवितम् ॥ ३८६ ॥

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुञ्चेच्छां न कथञ्चिन्न जीव्यते ॥ ३८७ ॥

योऽभ्यर्चित: सद्भिरसज्यमान:
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा ।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति सन्त
मलं प्रसन्ना हि सुखाय सन्त: ॥ ३८८ ॥

महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं य: सन्त्यजत्यनपाकृष्ट एव ।
सुखं सुदु:खान्यवमुच्य शेते जीर्णां त्वचं सर्प इवाव मुच्य ॥३८९॥

देह धारियों को मार्ग चलना, पर्वतों को जल, मैथुन करना स्त्रियों को, और बुरा वचन मनुष्यों के लिये बुढ़ापा है ॥ ३८५ ॥

जिसने मित्र को दान से, शत्रु को युद्ध से और स्त्रियों को अन्नपान से जीता उसी का जीना सफल है ॥ ३८६ ॥

हजार रुपये वाले भी जीतते हैं और सौ रुपयेवाले भी, इसलिये तृष्णा को छोड़ने ही से सुख मिलता है ॥ ३८७ ॥

जिसकी महात्मा लोग प्रशंसा करते हैं और जो शक्त्यानुसार कार्य्य करता है परन्तु उस कार्य में लीन नहीं होता जो उसी को संत कहते हैं वह शीघ्र यश को प्राप्त होता है, और वही संसार का उपकार करसकता है ॥ ३८८ ॥

जो मनुष्य अधर्म युक्त कामोंको छोड़ता है वह मनुष्य सुख को पाकर और दुख को छोड़ कर ऐसे सुख से सोता है जैसे सांप किंचुली छोड़ कर ॥ ३८९ ॥

अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम् ।
गुरोश्चालीकनिर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥२९०॥
असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः ।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः ॥ २९१ ॥
आलस्यं मद मोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च ।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च ॥२९२॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिनां मताः ।
सुखार्थिनः कुतो विद्या नास्ति विद्यार्थिनः सुखम् ॥२९३॥
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम् ।
नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ २९४ ॥

झूठ बोलना, राजा के यहां जाकर चुगली खाना, और गुरु से कपट करना; यह सब काम ब्रह्म हत्या के तुल्य हैं ॥ २९० ॥

यथार्थ न कहने से आयु का तथा बकवाद करने से लक्ष्मी का, आदर करने से अभिमान का, और कामों में शीघ्रता करने से विद्या का नाश होता है ॥ २९१ ॥

आलस्य, मद, मोह चंचलता, बुरी सलाह, अभिमान, कठोरता, और भूल यह सात दोष विद्यार्थियों में होते हैं, सुख चाहनेवाले को विद्या और विद्या चाहने वाले को सुख नहीं मिलता ॥ २९२, २९३ ॥

सुखार्थी हो तो विद्या को और विद्यार्थी हो तो सुख को त्यागदे, काठ से अग्नि, नदियों से समुद्र पुरुषों से स्त्री और काल सब प्राणियों के मारने पर भी तृप्त नहीं होता ॥ २९४ ॥

आशा धृतिं हन्ति समृद्धिमन्तकः
क्रोधः श्रियं हन्ति यशः कदर्य्यताम् ।
अपालनं हन्ति पशूंश्च राज-
न्नेकः क्रुद्धो ब्राह्मणो हन्ति राष्ट्रम् ॥ ३९५ ॥

इदञ्च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम्
न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः॥३९६॥

नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः।
त्यक्त्वानित्यं प्रतिष्ठस्व नित्ये
सन्तुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ ३९७ ॥

महाबलान् पश्य महानुभावान्
प्रशास्य भूमिं धनधान्य पूर्णाम् ।
राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्
गतान्नरेन्द्रान् वशमन्तकस्य ॥ ३९८ ॥

जैसे आसा धीरज को, काल उन्नति को, क्रोध लक्ष्मी को, यश दुष्टता को, और न पालनो पशुओं को नाश करता है ऐसे ही एक धर्मात्मा ब्राह्मण अन्यायी राजा का नाश करदेता है ॥ ३९५ ॥

मनुष्यों को योग्य है कि थोड़े जीवन के लिये काम क्रोध भय से धर्म को न छोड़ें क्योंकि धर्मही सब से उत्तम और श्रेष्ट हैं ॥ ३९६ ॥

धर्म नित्य और सुख दुःख अनित्य है, जीव नित्य परन्तु इसका हेतु अर्थात् अविद्या अनित्य है, इसलिये आप अनित्य को छोडकर इन धर्मरूप तत्व पदार्थों को नित्य ही ग्रहण कीजिये क्योंकि सन्तोष ही परम लाभ है ॥ ३९७ ॥

हे राजन् यदि आप विचार दृष्टि से देखोगे तो प्रत्यक्ष प्रकट होगा कि कैसे २ योधा और गुणवान धनधान्य से भरे पूरे महाराजा जिनका डंका समस्त पृथिवी पर बजता था वह भी सब सुख छोड़कर चले गये अर्थात मरगये ॥३९८॥

मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरन्ति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदन्ति
चितामध्ये काष्ठमिवक्षिपन्ति ॥ ३९९ ॥
अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ॥ ४०० ॥
उत्सृज्य विनिवर्त्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः ।
अपुष्पानफलान् वृक्षान् यथा तात पतत्त्रिणः ॥ ४०१ ॥
अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयं कृतम् ।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद्धर्मं सञ्चिनुयाच्छनैः ॥ ४०२ ॥

मनुष्य अपनी प्रिय संतान को जिसका नाना दुखों से पालन पोषण करते हैं मरने पर जंगल में गाड़ और चिता के बीच में लकड़ी के समान जलाकर नाना प्रकार से रोतेहुए चले आते हैं ॥ ३९९, ४०० ॥

हे राजन् उस मरे हुए पुरुष के साथ उसको की पुत्र मित्र पिता माता कोई नहीं जाता किन्तु उसको ऐसे छोड़ देते हैं जैसे फल रहित वृक्ष को पक्षी, उसके कमाये हुए धन का कोई और ही स्वामी होजाता है और उसके शरीर की हड्डी रुधिर मांस को अग्निभक्ष करदेती है उस जीव के साथ केवल उसका किया हुआ धर्म और अधर्म ही जाता है, इसलिये मनुष्य को उचित है कि परमात्मा सर्वव्यापक का भय करके यत्न पूर्वक धर्म ही करे, जो जीव का सच्चा मित्र है जो अनेक जन्मों में भी उसका साथ नहीं छोड़ता, शोक है उन मनुष्यों पर जो ऐसे हितैषी परम मित्र को संसारी पदार्थों की लालसा और मनुष्यादि के भय से त्याग कर पाप के भागी बनते हैं ॥४०१, ४०२॥

अस्माल्लोकादूर्द्ध्वममुष्य चाधो
महत्तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम् ।
यद्दै महामोहनमिन्द्रियाणां
बुध्यस्व मों त्वां प्रलभेत राजन् ॥ ४०३ ॥

आत्मा नदी भारत पुण्यतीर्था
सत्योदका धृति कूला दयोर्मिः ।
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा
पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव ॥ ४०४ ॥

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ॥ ४०५ ॥

प्रज्ञा वृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्य्याकार्य्ये पूजयित्वा प्रसाद्य
यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित् ॥ ४०६ ॥

इस लोक के ऊपर और नीचे महा अंधकार है और वहां अधर्मी मनुष्य जाते हैं इसलिये आप अभी से विचार कर कार्य कीजिये नहीं तो उसी अंधकार में आप को जाना होगा। ॥ ४०३ ॥

देखिये इस शरीर में आत्मा रूपी नदी है जिसमें सत्यरूपी तीर्थ पांचो इन्द्रिरूपी जल धारणा किनारे हैं, दया की लहरें उठती हैं, काम क्रोध बड़े २ मगर मच्छ हैं, इस नदी में स्नान करने से ही परम आनन्द प्राप्त होता है, और धीरज की नाव पर सवार होकर इस नदी से पार हूजिये अर्थात् जन्म मरण के दुखों से छूटकर मोक्ष प्राप्त कीजिये ॥ ४०४, ४०५ ॥

जो मनुष्य विद्वान्, धर्मात्मा, बुद्धिमान और अपने मित्रों से सत असत का निर्णय कर कार्य्य करते हैं वह कभी आपत्ति में नहीं पड़ते ॥ ४०६ ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादञ्च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाकञ्च कर्मणा॥ ४०७॥
नित्योदकी नित्य यज्ञोपवीती
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्ज्जी।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्न-
ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ ४०८॥
अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य्य चाग्नी
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।
गोब्राह्मणार्थे शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति॥ ४०९॥
वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुंक्ते॥ ४१०॥

जो धारणा से लिंग और उदर को नेत्र से हाथ और पैर को मन से नेत्र और कान को, औरजो तन मन वचन से कर्म की रक्षा करता है उसको कभी दुःख नहीं होता॥ ४०७॥

जो ब्राह्मण नित्य स्नान करता और वेद पढ़ता है जो पतित का अन्न त्यगता सत्य बोलता और गुरू की सेवा करता है वह ब्राह्मण अपने धर्म से कभी नष्ट नहीं होता॥ ४०८॥

जो क्षत्री वेद को पढ़ता यज्ञ करता, प्रजा के पालन में तत्पर रहता और गुऊ ब्राह्मण के अर्थ युद्ध में माराजाता है वह स्वर्ग में जाता है॥ ४०९॥

जो वैश्य वेदों को पढ़ते हैं और यज्ञ के धुएं की सुगंध से नित्य पवित्र होते हैं और समय पर सुयोग्य ब्राह्मणादि और अपने सेवकों की सहायता करते हैं वह स्वर्ग पाते हैं॥ ४१०॥

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णांश्च शूद्रः
क्रमेणैतान् न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्ता देहं स्वर्गसुखानि भुंक्ते ॥ ४११ ॥
इदं वचः शक्ष्यसि चेद्यथा-
वन्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीव लोके
भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥ ४१२ ॥

जो शूद्र ब्राह्मण क्षत्री वैश्यों को न्याय से सेवा कर उनको प्रसन्न करता है तो वह मरने पर क्लेश और पाप से छूट कर स्वर्ग का सुख पाता हैं ॥४११॥

हे राजेन्द्र मैंने जो आप से सनातन धर्म वर्णन किया है यदि आप उसके अनुसार कार्य करेंगे तो अवश्य आप को यश, आनंद, और सुख मिलेगा अन्यथा नहीं ॥ ४१२ ॥

— इति —

आर्यदर्पण यन्त्रालय शाहजहांपुर में
मुंशी बख्तावरसिंह के प्रबन्ध से मुद्रित हुआ ॥

ओ३म्

क्रूराः कृतोऽञ्जलिरयं बलिरेष दत्तः।
कार्यो मया प्रहरतात्र यथाऽभिलाषम्॥
अभ्यर्थये वितथवाङ्मयपांशुवर्षै-
र्मा माविलीकुरुत कीर्त्तिनदीः परेषाम्॥
(वाचस्पति मिश्र)

बड़े हर्ष का विषय है कि भारतवासियों की षोडश संस्कारों की ओर विशेष रुचि बढ़ रही है और ईश्वर करे कि यह रुचि सदा इसी प्रकार बढ़ती रहे। आज कल इन सोलह संस्कारों में से उपनयन संस्कार की ओर लोगों का अधिक ध्यान प्रतीत होता है। जिधर देखो उधर उपनयन संस्कार की भीड़ मच रही है। ऐसे अवसर पर मैंने कई कारणों से "संस्कारविधि" से इस संस्कार को पृथक् कराकर छपाना उचित समझा है। प्रथम तो यह कि संस्कारविधि को देख कर इस संस्कार के कराने वाले को बड़ी कठिनाई पड़ती है। दूसरे यह कि पत्रे आदि के उलट पलट करने के रगड़े में संस्कार सफ़ाई से नहीं करा सकता व विलम्ब भी होजाता है। इस "प्राचीनोपनयनपद्धति" से दोनों दिक्कतें मिट जावेंगी। इस में जहां का कार्य तहां लिख दिया है, इस से पत्रे आदि उलटने का रगड़ा न रहेगा, संस्कार कराने में सफ़ाई रहेगी। इस से यह भी लाभ होगा कि इस संस्कार कराने के लिये पूरी संस्कारविधि लेजाने की कोई आवश्यकता न रहेगी। "प्राचीनोपनयन पद्धति" यह नाम इस लिये रक्खा गया है कि यह सचमुच प्राचीन ही है। पौराणिक अंश का लेशमात्र भी इस में नहीं है। आशा है कि सज्जन महाशय इस को अवलोकन कर व इस से यथार्थ लाभ उठा, मेरे परिश्रम को सफल करेंगे। बाबू रघुवरदयाल जी गुप्त ओवरसियर प्रयाग ने मुझे इस पद्धति के छपाने में द्रव्यसम्बन्धि सहायता देकर मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है इसलिये उक्त गुप्त महाशय जी को कोटिशः धन्यवाद हैं-शम्॥

आर्यों का सेवक—

शङ्करदत्त शर्मा
पुस्तकाध्यक्ष गुरुकुल सिकन्दराबाद जिला बुलन्दशहर

E. I. R.

ओ३म् नमोनमः सर्वविधात्रे जगदीश्वराय

अथोपनयनसंस्कारविधिं वक्ष्यामः

ओं सहनाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै । ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ तैत्तिरीयारण्यके । अष्टमप्रपाठके । प्रथमानुवाके ॥

अत्र प्रमाणानि—

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् ॥ १ ॥ गर्भाष्टमे वा ॥ २ ॥ एकादशे क्षत्रियम् ॥ ३ ॥ द्वादशे वैश्यम् ॥ ४ ॥ आषोडशाद् ब्राह्मणस्यानतीतः कालः ॥ ५ ॥ आद्वाविंशात्क्षत्रियस्य, आचतुर्विंशाद्वैश्यस्य, अतऊर्ध्वं पतितसावित्रीका भवन्ति ॥ ६ ॥

यह आश्वलायन गृह्यसूत्र का प्रमाण है । इसी प्रकार पारस्करादि गृह्यसूत्रों का भी प्रमाण है ॥

अर्थः—जिस दिन जन्म हुआ हो अथवा जिस दिन गर्भ रहा हो उस से आठवें वर्ष में ब्राह्मण के, जन्म वा गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में क्षत्रिय के और जन्म वा गर्भ से बारहवें वर्ष में वैश्य के बालक का यज्ञोपवीत करें तथा ब्राह्मण के १६ सोलह, क्षत्रिय के २२ बाईस और वैश्य के बालक का २४ चौबीस वर्ष से पूर्व २ यज्ञोपवीत होना चाहिये । यदि पूर्वोक्त कालमें इन का यज्ञोपवीत न हो तो वे पतित माने जावें ॥

श्लोकः—

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ १ ॥

यह मनुस्मृति का वचन है कि जिस को शीघ्र विद्या, बल और व्यवहार करने की इच्छा हो और बालक भी पढ़ने में समर्थ हुवे हों तो ब्राह्मण के लड़के का जन्म वा गर्भ से पांचवें, क्षत्रिय के लड़के का जन्म वा गर्भ से छठे और वैश्य के लड़के का जन्म वा गर्भ से ८ आठवें वर्ष में यज्ञोपवीत करें, परन्तु यह बात संभव है कि जब बालक की माता और पिता का विवाह पूर्ण ब्रह्मचर्य के पश्चात् हुआ होवे, उन्हीं के ऐसे उत्तम बालक श्रेष्ठबुद्धि और शीघ्र समर्थ (बढ़ने वाले) होते हैं, जब बालक का शरीर और बुद्धि ऐसी हो कि अब यह पढ़ने के योग्य हुआ, तब ही यज्ञोपवीत करा देवें। यज्ञोपवीत का समय उत्तरायण सूर्य और—

वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत्। ग्रीष्मे राजन्यम्।
शरदि वैश्यम्। सार्वकालमेके॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है॥

अर्थः-ब्राह्मण का वसन्त, क्षत्रिय का ग्रीष्म और वैश्य का शरद् ऋतु में यज्ञोपवीत करें अथवा सब ऋतुओं में उपनयन हो सकता है और इस का प्रातःकाल ही समय है॥

पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्यः आमिक्षाव्रतो वैश्यः॥

यह शतपथ ब्राह्मण का वचन है॥

जिस दिन बालक का यज्ञोपवीत करना हो, उस से तीन दिन अथवा एक दिन पूर्व तीन वा एक व्रत बालक को कराना चाहिये। उन व्रतों में ब्राह्मण का लड़का एक वार वा अनेक वार दुग्ध पान, क्षत्रिय का लड़का (यवागू) अर्थात् यव को मोटा दलके गुड़ के साथ पतली जैसी कि कढ़ी होती है वैसी बनाकर पिलावें और आमिक्षा अर्थात् जिस को श्रीखण्ड वा सिखरण कहते हैं, जो दही चौगुना दूध एक गुना तथा यथायोग्य खांड केशर डालके कपड़ेमें छान कर बनाया जाता है उस को वैश्य का लड़का पीके व्रत करे अर्थात् जब २ लड़कों को भूख लगे तब २ तीनों वर्णों के लड़के इन तीनों पदार्थों का ही सेवन करें अन्य पदार्थ कुछ न खावें पीवें॥

विधिः

अब जिस दिन उपनयन करना हो उस के पूर्व दिन में सामग्री इकट्ठी कर याथातथ्य शोधन आदि कर लेवे और उस दिन तक सब कुण्ड के समीप

*सामग्री धर प्रातःकाल बालक का क्षौर करा शुद्ध जल से स्नान कराके उत्तम वस्त्र पहिना यज्ञमण्डप में पिता वा आचार्य बालक को मिष्टान्नादि का भोजन कराके वेदी के पश्चिम भाग में सुन्दर आसन पर पूर्वाभिमुख बैठावे और बालक का पिता और ऋत्विज् लोग भी पूर्वोक्त प्रकार अपने २ आसन पर बैठ यथावत् आचमनादि क्रिया करें ॥

इन मन्त्रों से तीन २ आचमन करें अर्थात् एक २ से एक २ बार आचमन करें। वे मन्त्र ये हैं-

ओम् अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा ॥ १ ॥

इस से एक

ओम् अमृतापिधानमसि स्वाहा ॥ २ ॥

इस से दूसरा

ओं सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयतां स्वाहा ॥ ३ ॥

इस से तीसरा आचमन करके तत्पश्चात् नीचे लिखे मन्त्रों से जल करके अङ्गों का स्पर्श करें ॥

ओं वाङ्मऽआस्येऽस्तु ॥

इस से मुख

ओं नसोर्मे प्राणोऽस्तु ॥

इस से नासिक के दोनों छिद्र

ओम् अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु ॥

इस मन्त्र से दोनों आंखें

ओं कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु ॥

इस मन्त्र से दोनों कान

ओं बाह्वोर्मे बलमस्तु ॥

इस से दोनों बाहु

ओम् ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु ॥

इस मन्त्र से दोनों जंघा और—

ओम् अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सह सन्तु।

इस मन्त्र से दहिने हाथ से जलस्पर्श करके मार्जन करना पश्चात् कार्यकर्त्ता बालक के मुख से-

ब्रह्मचर्यमागाम्, ब्रह्मचार्यसानि।

ये वचन बुलाके, आचार्य-

ओं येनेन्द्राय बृहस्पतिर्वासः पर्यदधादमृतम्।
तेन त्वा परिदधाम्यायुषे दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे॥

इस मन्त्र को बोलके बालक को सुन्दर वस्त्र और उपवस्त्र पहिनावे पश्चात् बालक आचार्य के सम्मुख बैठे और यज्ञोपवीत हाथ में लेके-

ओं यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥१॥
यज्ञोपवीतमसि यज्ञस्य त्वा यज्ञोपवीतेनोपनह्यामि॥२॥

इन मन्त्रों को बोलके आचार्य बांये स्कन्धे के ऊपर कण्ठ के पास से शिर बीच में निकाल दाहिने हाथ के नीचे बग़ल में निकाल कटि तक धारण करावे तत्पश्चात् बालक को अपने दाहिने ओर साथ बैठा के निम्नलिखित प्रकार से ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्तिवाचन और शान्तिकरण का पाठ करे॥

अथेश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाः

आ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रन्तन्न आसुव॥ १॥ यजुः० अ०। ३०। मं० ३॥

अर्थः-हे (सवितः) सकल जगत् के उत्पत्तिकर्त्ता समग्र ऐश्वर्ययुक्त (देव) शुद्धस्वरूप सब सुखों के दाता परमेश्वर आप कृपा करके (नः) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुर्गुण, दुर्व्यसन और दुःखों को (परा, सुव) दूर करदीजिये (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक गुण कर्म स्वभाव और पदार्थ है (तत्) वह सब हम को (आ, सुव) प्राप्त कीजिये॥ १॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥२॥
यजुः० । अ० । १३ । मं० ४ ॥

अर्थः—जो (हिरण्यगर्भः) स्वप्रकाशस्वरूप और जिस ने प्रकाश करने हारे सूर्य चन्द्रादि पदार्थ उत्पन्न करके धारण किये हैं जो (भूतस्य) उत्पन्न हुवे सम्पूर्ण जगत् का (जातः) प्रसिद्ध (पतिः) स्वामी (एकः) एक ही चेतनस्वरूप (आसीत्) था जो (अग्रे) सब जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व (समवर्त्तत) वर्त्तमान था (सः) सो (इमाम्) इस (पृथिवीम्) भूमि (उत) और (द्याम्) सूर्यादि को (दाधार) धारण कर रहा है हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) शुद्ध परमात्मा के लिये (हविषा) ग्रहण करने योग्य योगाभ्यास और अतिप्रेम से (विधेम) विशेष भक्ति किया करें॥२॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ॥
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥३॥
य० । अ० । २५ । मं० १३ ॥

अर्थः—(यः) जो (आत्मदाः) आत्मज्ञान का दाता (बलदाः) शरीर, आत्मा और समाज के बल का देने हारा (यस्य) जिस की (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (उपासते) उपासना करते हैं और (यस्य) जिस का (प्रशिषम्) प्रत्यक्ष सत्यस्वरूप शासन और न्याय अर्थात् शिक्षा को मानते हैं (यस्य) जिस का (छाया) आश्रय ही (अमृतम्) मोक्ष सुख-दायक है (यस्य) जिस का न मानना अर्थात् भक्ति न करना ही (मृत्युः) मृत्यु आदि दुःख का हेतु है हम लोग उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकल ज्ञान के देने हारे परमात्मा की प्राप्ति के लिये (हविषा) आत्मा और अन्तःकरण से (विधेम) भक्ति अर्थात् उसी की आज्ञापालन करने में तत्पर रहें ॥ ३ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशेऽअस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥४॥
य० । अ० । २३ । मं० ३ ॥

अर्थः—(यः) जो (प्राणतः) प्राण वाले और (निमिषतः) अप्राणिरूप (जगतः) जगत् का (महित्वा) अपने अनन्त महिमा से (एक इत) एक ही (राजा) विराजमान राजा (बभूव) है (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) मनुष्यादि और (चतुष्पदः) गौ आदि प्राणियों के शरीर की (ईशे) रचना करता है हम उस (कस्मै) सुखस्वरूप (देवाय) सकलैश्वर्य के देने हारे परमात्मा के लिये (हविषा) अपनी सकल उत्तम सामग्री से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥ ४ ॥

येन॒ द्यौरु॒ग्रा पृ॑थि॒वी च॑ दृ॒ढा येन॒ स्वः॑ स्तभि॒तं येन॒ नाकः॑ ।
यो अ॒न्तरि॑क्षे॒ रज॑सो वि॒मानः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम॥५॥

य० । अ० । ३२ । मं० ६ ॥

अर्थः-(येन) जिस परमात्मा ने (उग्रा) तीक्ष्णस्वभाव वाले (द्यौः) सूर्यादि (च) और (पृथिवी) भूमि का (दृढा) धारण (येन) जिस जगदीश्वर ने (स्वः) सुख को (स्तभितम्) धारण और (येन) जिस ईश्वर ने (नाकः) दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है (यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजसः) सब लोक लोकान्तरों को (विमानः) विशेषमानयुक्त अर्थात् जैसे आकाश में पक्षी उड़ते हैं वैसे सब लोकों का निर्माण करता और भ्रमण कराता है हम लोग उस (कस्मै) सुखदायक (देवाय) कामना करने के योग्य परब्रह्म की प्राप्ति के लिये (हविषा) सब सामर्थ्य से (विधेम) विशेष भक्ति करें ॥५॥

प्रजा॑पते॒ न त्वदे॒तान्य॒न्यो विश्वा॑ जा॒तानि॒ परि॒ ता ब॑भूव ।
यत्का॑मास्ते जुहु॒मस्तन्नो॑ऽअस्तु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो रयी॒णाम्॥६॥

ऋ० । मं० । १० । सू० । १२१ । मं० १० ॥

अर्थः-हे (प्रजापते) सब प्रजा के स्वामी परमात्मा (त्वत्) आप से (अन्यः) भिन्न दूसरा कोई (ता) उन (एतानि) इन (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न हुए जड़चेतनादिकों को (न) नहीं (परि, बभूव) तिरस्कार करता है अर्थात् आप सर्वोपरि हैं (यत्कामाः) जिस २ पदार्थ की कामना वाले हम लोग (ते) आप का (जुहुमः) आश्रय लेवें और वाञ्छा करें (तत) उस २ की कामना (नः) हमारी सिद्ध (अस्तु) होवे जिस से (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनैश्वर्यों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥ ७ ॥
य० अ० ३२ । मं० १० ॥

अर्थः-हे मनुष्यो (सः) वह परमात्मा (नः) अपने लोगों को (बन्धुः) भ्राता के समान सुखदायक (जनिता) सकल जगत् का उत्पादक (सः) वह (विधाता) सब कामों का पूर्ण करने हारा (विश्वा) सम्पूर्ण (भुवनानि) लोकमात्र और (धामानि) नाम स्थान जन्मों को (वेद) जानता है और (यत्र) जिस (तृतीये) सांसारिक सुख दुःख से रहित नित्यानन्दयुक्त (धामन्) मोक्ष स्वरूप धारण करने हारे परमात्मा में (अमृतम्) मोक्ष को (आनशानाः) प्राप्त होके (देवाः) विद्वान् लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छा पूर्वक विचरते हैं वही परमात्मा अपना गुरु, आचार्य, राजा और न्यायाधीश है । अपने लोग मिल के सदा उस की भक्ति किया करें ॥ ७ ॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नमउक्तिं विधेम ॥ ८ ॥
य० । अ० । ४० मं० १६ ॥

अर्थः-हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव) सकल सुखदाता परमेश्वर ! आप जिस से (विद्वान्) सम्पूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) संपूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हम से (जुहुराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये । इस कारण हम लोग ते) आप की (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (नमउक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें ॥ ८ ॥

इतीश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासनाप्रकरणम्

अथ स्वस्तिवाचनम्

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्यं देवमृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥१॥ स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥२॥ ऋ०। मं० । १ । सू० १ । मं०१।९॥

स्वस्ति नो मिमीतामश्विना भगः स्वस्ति देव्यदितिरनर्वणः। स्वस्ति पूषा असुरो दधातु नः स्वस्ति द्यावापृथिवी सुचेतुना ३ स्वस्तये वायुमुपब्रवामहै सोमं स्वस्ति भुवनस्य यस्पतिः। बृहस्पतिं सर्वगणं स्वस्तये स्वस्तय आदित्यासो भवन्तु नः॥४॥ विश्वे देवा नो अद्या स्वस्तये वैश्वानरो वसुरग्निः स्वस्तये। देवा अवन्त्वृभवः स्वस्तये स्वस्ति नो रुद्रः पात्वंहसः ॥५॥ स्वस्ति मित्रावरुणा स्वस्ति पथ्ये रेवति। स्वस्ति न इन्द्रश्चाग्निश्च स्वस्ति नो अदिते कृधि॥६॥ स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव । पुनर्ददता घ्नता जानता संगमेमहि॥७॥ ऋ० । मं० ५ । सू० ५१ ॥ ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः । ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥८॥ ऋ०।मं० ७।सू०।३५

येभ्यो माता मधुमत्पिन्वते पयः पीयूषं द्यौरदितिरद्रिबर्हाः। उक्थशुष्मान् वृषभरान्त्स्वप्नसस्ताँ आदित्याँ अनुमदा स्वस्तये ॥९॥ नृचक्षसो अनिमिषन्तो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः। ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं

वसते स्वस्तये॥१०॥सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिहृता दधिरे दिवि क्षयम्। ताँआ विवास नमसा सुवृक्तिभिर्महो आदित्याँ अदितिं स्वस्तये ॥११॥ को वः स्तोमं राधति यं जुजोषथ विश्वे देवासो मनुषो यतिष्ठन। को वोऽध्वरं तुविजाता अरं करद्यो नः पर्षदत्यंहः स्वस्तये ॥१२॥येभ्यो होत्रां प्रथमामायेजे मनुः समिद्धाग्निर्मनसा सप्त होतृभिः। त आदित्या अभयं शर्म यच्छत सुगा नः कर्त सुपथा स्वस्तये॥१३॥ यईशिरे भुवनस्य प्रचेतसो विश्वस्य स्थातुर्जगतश्च मन्तवः। ते नः कृतादकृतादेनसस्पर्यद्यादेवासः पिपृता स्वस्तये॥१४॥ भरेष्विन्द्रं सुहवं हवामहेऽहोमुचं सुकृतं दैव्यं जनम्। अग्निं मित्रं वरुणं सातये भगं द्यावापृथिवी मरुतः स्वस्तये ॥१५॥ सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्। दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये ॥१६॥ विश्वे यजत्रा अधि वोचतोतये त्रायध्वं नो दुरेवाया अभिह्रुतः। सत्यया वो देवहूत्या हुवेम शृण्वतो देवा अवसे स्वस्तये॥१७॥ अपामीवामप विश्वामनाहुतिमपारातिं दुर्विदत्रामघायतः। आरे देवा द्वेषो अस्मद्युयोतनोरुणः शर्म यच्छता स्वस्तये१८ अरिष्टः स मर्त्तो विश्व एधते प्र प्रजाभिर्जायते धर्मणस्परि। यमादित्यासो नयथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥१९॥ यं देवासोऽवथ वाजसातौ यं शूरसाता मरुतो हिते धने। प्रातर्यावाणं रथमिन्द्र सानसिमरिष्यन्तमा रुहेमा

स्वस्तये ॥ २० ॥ स्वस्ति नः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति । स्वस्ति नः पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्ति राये मरुतो दधातन ॥ २१ ॥ स्वस्ति रिद्धि प्रपथे श्रेष्ठा रेक्णस्वत्यभि या वाममेति । सा नो अमा सो अरणे नि पातु स्वावेशा भवतु देवगोपा ॥२२॥ ऋ० मं० १०।सू० ६३ ॥

इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशंसो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि ॥२३॥ य०अ०१।म० १

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतोऽदब्धासोऽअपरीतास उद्भिदः । देवा नो यथासदमिद्वृधेऽअसन्नप्रायुवो रक्षितारो दिवेदिवे ॥ २४ ॥ देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानांᳬ रातिरभि नो निवर्त्तताम् । देवानांᳬ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥२५॥ तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियं जिन्वमवसे हूमहे वयम् । पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये ॥२६॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥ २७ ॥ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाᳬसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥ २८ ॥ यजुः अ० २५ । मं० १४ । १५ । १८ । १९ । २१ ॥

२३ १ २ ३१२ ३ २ ३१२ १ २ २र

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि

३ १ २   १ २   ३ २ ३   २ ३ १ २   ३र   ३ २
बर्हिषि ॥२९॥ त्वमग्ने यज्ञानाꣳ होता विश्वेषाꣳ हितः। देवे-
३ १२३ १२
भिर्मानुषे जने ॥३०॥ सा० छन्द आ० प्रपा० १। मं० १। २॥

ये त्रिषप्ताः परि यन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ ३१ ॥ अथर्व० कां० १। सू० १। वर्ग १। अनु० १। प्रपा० १। मं० १॥

इति स्वस्तिवाचनम् ॥

—*—

अथ शान्तिप्रकरणम् ॥

शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या। शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥१॥ शन्नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शन्नः पुरन्धिः शमु सन्तु रायः। शन्नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शन्नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु ॥ २ ॥ शन्नो धाता शमु धर्त्ता नो अस्तु शन्न उरूची भवतु स्वधाभिः। शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु ॥ ३ ॥ शन्नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शन्नो मित्रावरुणावश्विना शम्। शन्नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शन्न इषिरो अभिवातु वातः ॥४॥ शन्नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु। शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥५॥ शन्न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः। शन्नो रुद्रो रुद्रेभिर्ज-

त्वाषुः शं नुस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥६॥ शं नुः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणुः शमु सन्तु यज्ञाः । शं नुः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥ शं नुः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु । शं नुः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥ शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वुर्काः । शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥ शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तूषसो विभातीः । शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः ॥ १० ॥ शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु । शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शन्नो अप्याः ॥ ११ ॥ शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः । शं नं ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १२ ॥ शं नो अज एकपाद्देवो अस्तु शं नोऽहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः । शं नो अपांनपात्पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपाः ॥ १३ ॥ ऋ० मं० ७ । सू० ३५ । मं० १ ॥ १३ ॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति शंनोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥१४॥ शं नो वातः पवताᳬ शं नस्तपतु सूर्यः । शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु ॥१५॥ अहानि शं भवन्तु नः शᳬ रात्रीः प्रतिधीयताम् । शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या । शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा

सुवितायु शंयोः ॥ १६ ॥ शं नो देवीरभिष्टयऽआपो भवन्तु पीतये । शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥ १७ ॥ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १८ ॥ तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १९ ॥ यजुः० अ० ३६ मं० ८ । १० । ११ । १२ । १७ । २४ ॥

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति । दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ १ ॥ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः । यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु । यस्मान्नऽऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ३ ॥ येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् । येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ४ ॥ यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः । यस्मिꣳश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ५ ॥ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव । हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ ६ ॥ य० अ० ३४ । मं० १६ ॥

१ २ ३ २उ ३ १ २र ३ १ २र १ २ ३ १ २
स नः पवस्व शङ्गवे शं जनाय शमर्वते। श ॐ राजन्नोष-
धीभ्यः ॥२०॥ साम० उत्तरार्च्चिके० प्रपा० १ मं० ३ ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे । अभयं
पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥२४॥अभयं मित्रा-
दभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरोक्षात् । अभयं नक्तमभयं
दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ २५ ॥ अथर्व०
कां० १९ सू० १५। मं० ५। ६ । इति शान्तिकरणम् * ॥

तदनन्तर–

ओं भूर्भुवः स्वः ॥

इस मन्त्र का उच्चारण करके ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य के घर से अग्नि ला अथवा घृत का दीपक जला उस से कपूर लगा किसी एक पात्र में धर उस में छोटी २ लकड़ी लगा के यजमान वा पुरोहित उस पात्र को दोनों हाथों से उठा यदि गर्म हो तो चीमटे से पकड़ कर अगले मन्त्र से अग्न्याधान करे। वह मन्त्र यह है–

ओं भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्याया-
दधे ॥ १ ॥ य० अ० ३ मं० ५ ॥

इस मन्त्र से वेदी के बीच में अग्नि को धर उस पर छोटे २ काष्ठ और थोड़ा कपूर धर अगला मन्त्र पढ़ के व्यजन से अग्नि को प्रदीप्त करे ॥

ओम् उद्बुध्यस्वाग्ने प्रतिजागृहि त्वमिष्टापूर्त्ते स-
ॐ सृजेथामयं च । अस्मिन्त्सधस्थेऽअध्युत्तरस्मिन् विश्वे
देवा यजमानश्च सीदत ॥ य० अ० १५ मं० ५४ ॥

जब अग्नि समिधाओं में प्रविष्ट होने लगे तब चन्दन की अथवा ऊपर लिखित पलाशादि की तीन लकड़ी आठ २ अङ्गुल की घृत में डुबा उन में से एक २ नीचे लिखे एक २ मन्त्र से एक २ समिधा को अग्नि में चढ़ावें ॥

वे मन्त्र ये हैं---

ओम् अयंत इध्मऽआत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन समेधय स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे–इदन्न मम ॥ १ ॥

इस मन्त्र से एक

ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्नमम ॥ २ ॥

इस से और

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदसे स्वाहा ॥ इदमग्नये जातवेदसे–इदन्नमम ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से अर्थात् इन दोनों मन्त्रों से दूसरी,

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्द्धयामसि । बृहच्छोचाय विष्ठय स्वाहा ॥ इदमग्नयेऽङ्गिरसे–इदन्नमम ॥ ४ ॥

य० अ० ३ मं० १ । २ । ३

इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे । इन मन्त्रों से समिदाधान करके होम का साकल्य जो कि यथावत् विधि से बनाया हो सुवर्ण, चांदी, कांसा आदि धातु के पात्र अथवा काष्ठ पात्र में वेदी के पास सुरक्षित धरें पश्चात् उपरि लिखित घृतादि जो कि उष्णकर छान पूर्वोक्त सुगन्ध्यादि पदार्थ मिलाकर पात्रों में रक्खा हो, उस (घृत वा अन्य मोहनभोगादि जो कुछ सामग्री हो) में से कम से कम ६ मासा भर अधिक से अधिक छटांक भर की आहुति देवे । यही आहुति का प्रमाण है । उस घृत में से चमसा (कि जिस में छः मासे ही घृत आवे ऐसा बनाया हो) भर के नीचे लिखे मन्त्र से पांच आहुति देवें:–

ओम् अयन्तइध्मआत्मा जातवेदस्तेनेध्यस्व वर्धस्व चेद्ध वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेनान्ना-द्येन समेधय स्वाहा॥ इदमग्नये जातवेदसे–इदन्नमम १

तत्पश्चात् अञ्जलि में जल लेके वेदी के पूर्वदिशा आदि चारों ओर छिड़कावे उस के ये मन्त्र हैं:–

ओम् अदितेऽनुमन्यस्व ॥

इस मन्त्र से पूर्व ॥

ओम् अनुमतेऽनुमन्यस्व ॥

इस से पश्चिम ॥

ओं सरस्वत्यनुमन्यस्व ॥

इस से उत्तर और

ओं देव सवित: प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्व: केतपू: केतं न: पुनातु वाचस्पतिर्वाचं न: स्वदतु ॥ यजु: अ० ३० मं० १ ॥

इस मन्त्र से वेदी के चारों ओर जल छिड़कावे, फिर आज्यस्थाली से घी ले आघारावाज्यभागाहुति ४ चार दे । वे ये हैं–

ओम् अग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये–इदन्न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के उत्तरभाग अग्नि में–

ओं सोमाय स्वाहा । इदं सोमाय–इदन्न मम ॥

इस मन्त्र से वेदी के दक्षिण भाग में प्रज्वलित समिधा पर आहुति देनी तत्पश्चात्–

ओं प्रजापतये स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये–इदन्न मम ॥

ओम् इन्द्राय स्वाहा ॥ इदमिन्द्राय–इदन्न मम ॥

इन दोनों मन्त्रों से वेदी के मध्य में दो आहुति देनी, पुनः शुद्ध किये

उसी घृतपात्र में से स्रुवा को भरके प्रज्वलित समिधों पर व्याहृति की चार आहुति देवेः-

ओं भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम ॥
ओं भुववार्यवे स्वाहा ॥ इदं वायवे-इदन्न मम ॥
ओं स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय-इदन्न मम ॥
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः-इदन्न मम ॥

फिर आठ आज्याहुति देवे ये आहुति घृत की देनी चाहिये-

ओं त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेडोऽअव यासिसीष्ठाः। यजिष्ठो वह्नितमः शोशुचानो विश्वा द्वेषांसि प्रमुमुग्ध्यस्मत् स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं स त्वन्नो ऽअग्नेऽवमो भवोती नेदिष्ठोऽअस्या उषसो व्युष्टौ। अवयक्ष्व नो वरुणं रराणो वीहि मृडीकं सुहवो न एधि स्वाहा ॥ इदमग्नीवरुणाभ्याम्—इदन्न मम ॥२॥ ऋ०मं० ४ सू० १ मं० ४।५ ॥

ओम् इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके स्वाहा ॥ इदं वरुणाय-इदन्न मम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १ सू० २५ मं० १९ ॥

ओं तत्त्वा यामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो हविर्भिः। अहेडमानो वरुणेह बोध्युरुशंस मा न आयुः प्रमोषीः स्वाहा ॥ इदं वरुणाय-इदन्न मम ॥४॥ ऋ० मं० १। सू० २४। मं० ११ ॥

ओं ये ते शतं वरुण ये सहस्रं यज्ञियाः पाशा वितता महान्तः । तेभिर्नोऽअद्य सवितोत विष्णुर्विश्वे मुञ्चन्तु मरुतःस्वर्काः स्वाहा॥ इदं वरुणाय सवित्रे विष्णवे विश्वेभ्यो देवेभ्यो मरुद्भ्यः स्वर्केभ्यः–इदन्न मम ॥ ५ ॥

ओम् अयाश्चाग्नेऽस्यनभिशस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि। अया नो यज्ञं वहास्यया नो धेहि भेषजꣳ स्वाहा॥ इदमग्नये अयसे– इदन्न मम ॥ ६ ॥

ओम् उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं विमध्यमं श्रथाय। अथा वयमादित्यव्रते तवानागसोऽदितये स्याम स्वाहा ॥ इदं वरुणायाऽऽदित्यायाऽदितये च–इदन्न मम॥ ७ ॥ ऋ० मं० १। सू० २४। मं० १५॥

ओं भवतन्नः समनसौ सचेतसावरेपसौ । मा यज्ञꣳ हिꣳसिष्टं मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य नः स्वाहा ॥ इदं जातवेदोभ्याम्—इदन्न मम ॥ य० अ० ५ मं० ३ ॥

पश्चात् बालक के हाथ से प्रधान होम जो विशेष साकल्य बनाया हो उस की आहुति निम्नलिखित मन्त्रों से दिलानी–

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्ज्जमिषं च नः। आरे बाधस्व दुच्छुनां स्वाहा॥ इदमग्नये पवमानाय–इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्निर्ऋषिः पवमानः पाञ्चजन्यः पुरोहितः। तमीमहे महागयं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय-इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं भूर्भुवः स्वः । अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयिं मयि पोषं स्वाहा ॥ इदमग्नये पवमानाय—इदन्न मम ॥ ३ ॥ ऋ० मं० ९ । सू० ६६ मं० ११ । २०।२१॥

ओम् भूर्भुवः स्वः । प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणां स्वाहा ॥ इदं प्रजापतये—इदन्न मम ॥४॥ ऋ० मं० १० सू० १२१ मं० १० ॥

तत्पश्चात्—

ओम् अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम् । तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ इदमग्नये—इदन्न मम ॥ १ ॥

ओं वायो व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम् । तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ इदं वायवे—इदन्न मम ॥ २ ॥

ओं सूर्य व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम् । तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ इदं सूर्याय—इदन्न मम ॥ ३ ॥

ओं चन्द्र व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयम् । तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमि स्वाहा ॥ इदं चन्द्राय—इदन्न मम ॥ ४ ॥

ओ३म् व्रतानां व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तत्ते प्रब्रवीमि त-
च्छकेयम् । तेनर्ध्यासमिदमहमनृतात्सत्यमुपैमिस्वाहा
इदमिन्द्राय व्रतपतये-इदन्नमम ॥ ५ ॥

इन पांचों मन्त्रों से पांच आज्याहुति दिलानी । उस के पीछे व्याहृति आहुति देनी चाहियें ॥

ओ३म् भूरग्नये स्वाहा ॥ इदमग्नये-इदन्न मम
भुवर्वायवे स्वाहा ॥ इदंवायवे-इदन्न मम
स्वरादित्याय स्वाहा ॥ इदमादित्याय-इदन्न मम
ओं भूर्भुवः स्वरग्निवाय्वादित्येभ्यः स्वाहा ॥
इदमग्निवाय्वादित्येभ्यः-इदन्न मम ॥

ये चार घृत की आहुति देकर स्विष्टकृत् होमाहुति एक ही है, यह घृत की अथवा भात की देनी चाहिये उस का मन्त्रः-

ओम् यदस्य कर्मणोऽत्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम् ।
अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्यात्सर्वं स्विष्टं सुहुतं करोतु मे ।
अग्नये स्विष्टकृते सुहुतहुते सर्वप्रायश्चित्ताहुतीनां कामा-
नां.समर्धयित्रे सर्वान्नः कामान्त्समर्द्धय स्वाहा॥ इदम-
ग्नये स्विष्टकृते-इदन्न मम ॥

इस एक आहुति को करके प्राजापत्याहुति करे, नीचे लिखे मन्त्र को मन में बोल के देनी चाहिये-

ओं प्रजापतये स्वाहा । इदं प्रजापतये-इदन्न मम

इस के पश्चात् आचार्य यज्ञकुण्ड के उत्तर की ओर पूर्वाभिमुख बैठे और बालक आचार्य के सम्मुख पश्चिम में मुख कर के बैठे तत्पश्चात् आचार्य बालक की ओर देखके-

ओ३म् आगन्त्रा समगन्महि प्रसुमर्त्यं युयोतन ।
अरिष्टाः संचरेमहि स्वस्तिचरतादयम् ॥ १ ॥

इस मन्त्र का जप करे-

माणवकवाक्यम् " ओम् ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व "
आचार्योक्तिः–कोनामासि,बालकोक्तिः "एतन्नामाऽस्मि

तत्पश्चात्–

आपोहिष्ठा मयोभुवस्तानऊर्जेदधातन।महेरणायचक्षसे॥१॥
योवःशिवतमो रसस्तस्य भाजयतेहनः।उशतीरिव मातरः॥२॥
तस्माअरंगमामवोयस्यक्षयायजिन्वथ।आपोजनयथाचनः३

इन तीन मन्त्रों को पढ़ के वटुक की दक्षिण हस्ताञ्जलि शुद्धोदक से भरनी तत्पश्चात् आचार्य अपनी हस्ताञ्जलि भरके—

ओं तत्सवितुर्वृणीमहेवयं देवस्यभोजनम्।श्रेष्ठं सर्वधातमम्।
तुरंभगस्य धीमहि ॥ १ ॥

इस मन्त्र को पढ़के आचार्य अपनी अञ्जलि का जल बालक की अञ्जलि में छोड़ के बालक की हस्ताञ्जलि अङ्गुष्ठ सहित पकड़ के–

ओं देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो
हस्ताभ्यां हस्तं गृह्णाम्यसौ * ॥ १ ॥

इस मन्त्र को पढ़ के बालक की हस्ताञ्जलि का जल नीचे पात्र में छुड़ा देना। इसी प्रकार दूसरी वार अर्थात् प्रथम आचार्य अपनी अञ्जलि भर के बालक की अञ्जलि में अपनी अञ्जलि का जल भर और अङ्गुष्ठसहित हाथ पकड़ के–

ओं सविता ते हस्तमग्रभीत्, असौ ॥ १ ॥

इस मन्त्र में पात्र से छुड़वादे। पुनः इसी प्रकार तीसरी वार आचार्य अपने हाथ में पुनः बालक की अञ्जलि में अङ्गुष्ठ सहित हाथ पकड़–

ओम् अग्निराचार्यस्तव असौ ॥

तीसरी वार बालक की अञ्जलि का जल छुड़वा के बाहर निकल सूर्य के सामने खड़े रह देख के आचार्य—

ओं देव सवितरेष ते ब्रह्मचारी तं गोपाय समामृत १

* असौ इस पद के स्थान में बालक का सम्बोधनान्त नामोच्चारण सर्वत्र करना चाहिये ॥

इस और इस दूसरे मन्त्र को पढ़ के बालक को सूर्यावलोकन करा, बालक सहित आचार्य सभामण्डप में आ, यज्ञ कुण्ड की उत्तर बाज़ू की ओर बैठके—

ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳशृणुयाम शरदःशतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥ १ ॥

इस मन्त्र को बोल के थोड़ा सा वायु में भ्रमण कराके यज्ञशाला में ऊपर लिखी विधि से बैठ के—

ओं युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः । ओं सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्तस्व*असौ १

इस मन्त्र को पढ़ के और बालक आचार्य की प्रदक्षिणा करके आचार्य के सम्मुख बैठे पश्चात् बालक के दक्षिणस्कन्धे पर अपने दक्षिण हाथ से स्पर्श और पश्चात् अपने हाथ को वक्ष से ढक के—

ओं प्राणानां ग्रन्थिरसि मा विस्रसोऽन्तक इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ १ ॥

इस मन्त्र को बोलने के पश्चात्

ओम् अहुर इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ २ ॥

इस मन्त्र से उदर पर और—

ओं कृशन इदं ते परिददामि, अमुम् ॥ ३ ॥

इस मन्त्र से हृदय—

ओं प्रजापतये त्वा परिददामि असौ ॥ ४ ॥

इस मन्त्र को बोल के दक्षिण स्कन्ध और—

ओं देवाय त्वा सवित्रे परिददामि, असौ ॥ ५ ॥

---

* असौ और अमुम् इन दोनों पदों के स्थान में सर्वत्र बालक का नाम उच्चारण करना चाहिये ॥

इस मन्त्र को बोल के वाम हाथ से वाएँ स्कन्ध पर स्पर्श करके बालक के हृदय पर हाथ धर के—

ओं तं धीरा॑सः क॒वय॒ उन्न॑यन्ति स्वा॒ध्यो॒३ मन॑सा दे॒व॒यन्तः॑ ॥ ६ ॥

इस मन्त्र को बोलके आचार्य सम्मुख रहकर—

बालक के दक्षिण हृदय पर हाथ धरके—

ओं मम व्रते ते हृदयं दधामि ममचित्तमनुचित्तं तेऽअस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥ १ ॥

आचार्य्य इस प्रतिज्ञा को बोले अर्थात् हे शिष्य! बालक! तेरे हृदय को मैं अपने आधीन करता हूं। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल सदा रहे और तू मेरी वाणी को एकाग्रमन हो प्रीति से सुन कर उस के अर्थ का सेवन किया कर और आज से तेरी प्रतिज्ञा के अनुकूल बृहस्पति परमात्मा तुझ को मुझ से युक्त करे। यह प्रतिज्ञा करावे। इसी प्रकार शिष्य भी आचार्य्य से प्रतिज्ञा करावे कि हे आचार्य्य! आप के हृदय को मैं अपनी उत्तम शिक्षा और विद्या की उन्नति में धारण करता हूं मेरे चित्त के अनुकूल आप का चित्त सदा रहे आप मेरी वाणी को एकाग्र होके सुनिये और परमात्मा मेरे लिये आप को सदा नियुक्त रक्खे। इस प्रकार दोनों प्रतिज्ञा करके—

आचार्योक्तिः—को नामाऽसि ?

तेरा नाम क्या है ?

बालकोक्तिः—अहम्भोः

मेरा अमुक नाम है ऐसा उत्तर देवे

आचार्यः—कस्य ब्रह्मचार्य्यसि ?

तू किस का ब्रह्मचारी है ?

भवतः— आप का ॥

इन्द्रस्यब्रह्मचार्य्यस्यग्निराचार्य्यस्तवाहमाचार्य्यस्तवअसौ *

इस मन्त्र को बोल के तत्पश्चात्

ओं कस्य ब्रह्मचार्य्यसि प्राणस्य ब्रह्मचार्य्यसि कस्त्वा कमुपनयते काय त्वा परिददामि ॥ १ ॥

ओं प्रजापतये त्वा परददामि । देवाय त्वा सवित्रे परिददामि । अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः परिददामि । द्यावा-पृथिवीभ्यां त्वा परिददामि । विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः परिददामि । सर्वेभ्यस्त्वा भूतेभ्यः परिददाम्यरिष्ट्यै ॥२॥

इन मन्त्रों को बोल, बालक को शिक्षा करे कि तू प्राण आदि की विद्या के लिये यत्नवान् हो अर्थात् गर्भाधानादि संन्यास संस्कारपर्यन्त पूर्वोक्त और निम्नलिखित सामवेदोक्त वामदेव्यगान अवश्य करें । वे मन्त्र ये हैं:—

१ २ ३ १ र २ र ३ २ ३ १

ओं भूर्भुवः स्वः । कया नश्चित्र आभुवदूती सदा-

२ ३ १ २ १ ३ २ ३ २

वृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

१ २ १ १र २र ३ १ २

ओं भूर्भुवः स्वः । कस्त्वा सत्यो मदानां मꣳहिष्ठो

३ १ ३ १ २ ३र ३ १ २

मत्सदन्धसः । दृढा चिदारुजे वसु ॥ २ ॥

३ २उ ३ २ ३ २ ३

ओं भूर्भुवः स्वः । अभीषुणः सखीनामविताजरि-

२ ३ १ २ ३ १र २

तृणाम् । शतम्भवास्यूतये ॥ ३ ॥ महावामदेव्यम् ॥

६
३ २ २ ४र ५ १ र

* असौ इस पद के स्थान में सर्वत्र बालक का नामोच्चारण करना चाहिये ॥

काऽ५ या । नश्चा ३ इत्रा ३ आभुवात् । ऊ । ती
२१ र२ १ २ र २ १ १
सदा वृधः सखा औ ३ हो हाइ कया २३ शचाइ । ष्ट
र २ १ २ १
यौ हो ३ हुम्मा २ । वा २ तों ३ऽ५ हाइ ॥ १ ॥ का
र ४ २ ४ ५ १ २र १
ऽ५स्त्वा सत्यो ३ मा दानाम् । मा । हिष्ठो मात्सा
२ २ र २ १ २ ३र
दन्ध । सा । औ ३ होहाइ । दृढा २३ चिदा । रुजौ
२ १ १ २ ३
हो ३ हुम्मा २ वाऽ३ सो ३ ऽ ५ हायि । (२) आ
र ४ २ ४ ५ २र २र
ऽ ५ भी । षुणा ३ सा ३ खीनाम् आविता जरायि-
१ २
त । णाम् । औ २३ होहायि । शता २३ म्भवा । सि-
र २ १ १ २
यो हो ३ । हुम्मा २ । ताऽ २ यो ३ऽ ५ हायि ॥ ३ ॥
साम० उत्तरार्चिके । अध्याये १ । खं० ३ मं० १ । २ । ३ ॥

इस के पश्चात् संस्कार में आई हुई स्त्रियों का बालक की माता और पिता सत्कार पूर्वक पुरुषों को विदा करे और माता पिता आचार्य्य सम्बन्धी इष्टमित्र सब मिल के—

ओं त्वं जीव शरदः शतं वर्द्धमानः ।
आयुष्मान् तेजस्वी वर्चस्वी भूयाः ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देके अपने २ घर को सिधारें ॥

इत्युपनयनसंस्कारविधिः समाप्तः

* ओ३म् *

॥ पञ्चदेवपूजा ॥

---×÷*÷×---

वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुव नानामभिश्रीः। इतो जातो विश्वमिदं विचष्टे वैश्वानरो यतते सूर्येण॥ ऋ० ॥१।७।६।१॥

(भावार्थः)—हे मनुष्यो! जो हमारा तथा सब जगत् का राजा और सब भुवनों का स्वामी "कम्" सब का सुख दाता और "अभिश्रीः" सबका निधि (शोभाकारक) "है वैश्वानरो यतते सूर्येण" संसारस्थ सब नरों का नेता (नायक) और सूर्य्य के साथ वही प्रकाशक है अर्थात् सब प्रकाशक पदार्थ उस के रचेहैं "इतो जातो विश्व मिदं विचष्टे" इसी ईश्वर के सामर्थ्य से ही यह संसार उत्पन्न हुआ है अर्थात् उसने रचा है वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम" उस वैश्वानर परमेश्वर की सुमती अर्थात् सुशोभन (उत्कृष्ट ज्ञान में) हम निश्चित सुखस्वरूप और विज्ञान वाले हों, हे महाराजाधिराजेश्वर! आप इस हमारी आशा को कृपा से पूरी करो॥

(सज्जनो) उस परब्रह्म परमात्मा सच्चिदानन्द स्वरूप नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव की महती कृपा देखते हुए विचार पैदा होता है कि संसार के संपूर्ण पदार्थ परमात्मा ने किसलिये बनाये और इनका अधिष्ठाता किसे नियत किया है यह तो आप भलेही प्रकार जानते होंगे कि परमात्मा का कोई काम अनर्थक नहीं होता जितने पदार्थ बने दीखते हैं वे किसी प्रयोजन के लिये तो बनाये ही हैं और जब अधिष्ठाता की ओर ध्यान दिया जाताहै तो जितने प्राणी संसार में देखे जाते हैं उन सब का अधिष्ठाता एक मनुष्य ही दिखलाई देता है और यह भी विदित होता है कि इस मनुष्य और प्राणियों के ही लिये परमात्मा ने सृष्टि भी उत्पन्न की है क्योंकि भोग्य और भोक्ता और भुगाने वाला ये तीन सृष्टि में दिखलाई देते हैं परन्तु इनसब में श्रेष्ठ एक मनुष्य ही है जो दुनिया का बादशाह दिखलाई देता है जिस के ही आश्रित सम्पूर्ण प्राणी और सब पदार्थ भी इसी के भोगने में आते हैं और वेदों में भी परमात्मा ने जहां उपदेश किया है सो इसी मनुष्य के ही लिये किया है कहीं ऐसा देखने में नहीं आता कि मनुष्यों के इतर पशु पक्षी आदि को उपदेश करता तो साबित हुआ कि वेद आदि पुस्तकों में और प्रत्यक्ष में एक मनुष्य

ही श्रेष्ठ और सम्पूर्ण प्राणियों का अधिष्ठाता है हम नहीं जानते कि ऐसा क्यों है भला अन्य प्राणियों से क्या इस मनुष्य में आधिक्यता दीखती है कि जो प्रत्यक्ष व वेदादि ग्रन्थों में भी यह श्रेष्ठ माना गया है हम नहीं जानते कि इस मनुष्य में कौनसी शक्ति प्रबल है अब हम इस की शक्तियों की तरफ ख्याल करते हैं तो हमें ये किसी शक्ति में प्रबल नहीं दीखता जब इसकी श्रवण शक्ति की तरफ हम विचार करते हैं कि शायद यह श्रवणशक्ति ही से श्रेष्ठ माना गया हो यही इसमें विशेषता हो तो हमें श्रवण शक्ति में इससे प्रबल दूसरे प्राणी दिखलाई देते कि जिसे सर्प कहते हैं और यदि कहा जाय इसकी देखने की शक्ति प्रबल है जिस से यह श्रेष्ठ माना गया है तो इससे गृद्ध देखने में प्रबल है पुनः यों कहो कि इसकी नासिका की शक्ति प्रबल है इसलिये यह उत्तम है तो सूंघने में हमें च्यूंटी की शक्ति अधिक दिखलाई देती है यदि यों कहा जाय कि इसे रसज्ञान विशेष है इस लिये श्रेष्ठ है तो इस में भी दूसरा श्रेष्ठ है कि जिसे बन्दर कहते और जब हम त्वचा की ओर ध्यान देते हैं तो अन्य प्राणियों की त्वचा तो कुछ काम में भी आजाती है जैसे पशु आदि की त्वचा परन्तु इसकी त्वचा भी किसी काम में नहीं आती फिर यह क्यों श्रेष्ठ है तो क्या नहीं श्रेष्ठ है ? नहीं नहीं श्रेष्ठ तो अवश्य है परन्तु जिन मनुष्यों में चक्षु श्रोत्र रचना त्वचा घ्राण ये ही हैं और इन्हीं से जो काम लेते भला यह कैसे श्रेष्ठ हो सक्ते क्योंकि अब तो आप प्रत्यक्ष में देख रहे हो कि इन सब बातों में दूसरे प्राणी श्रेष्ठ हैं परन्तु जिस विशेषता से मनुष्य श्रेष्ठ है यदि वह विशेषता मनुष्य में है जब तो श्रेष्ठ अन्यथा जैसे ये प्राणी हैं ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी है किसी कवि ने बहुत ही ठीक कहा है कि---

आहार निद्रा भय मैथुनानि। समानि चैतानि नृणां पशूनाम्---॥
ज्ञानं नराणामधिको विशेषा ज्ञानेन हीनः पशुभिः समानः---

क्या कहता है कवि कि खाना और मैथुन ये सब तो पशुओं और मनुष्यों में एक ही तरह होते हैं केवल एक ज्ञान ही अधिक मनुष्य में होता है जो मनुष्य ज्ञान से हीन है वही पशु के समान है॥

प्रकट हुआ कि इस से हमारी श्रेष्ठता है॥

और प्रत्यक्ष में भी प्रतीत होता है कि इस ज्ञान ही से मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों पर अपना अधिकार जमा लेता है और मनुष्यों में भी परस्पर देखा जाता है कि जिस मनुष्य में ज्ञान विशेष है वह न्यून ज्ञान वाले के ऊपर

अधिकार जमा लेता और उससे वह श्रेष्ठ कहलाता है विदित हुआ कि इस ज्ञान ही से संसार में उत्तमता और योग्यता प्राप्त होती है इसी से संपूर्ण जपतप विद्यादान शील संतोष और मोक्ष आदि प्राप्त होते हैं जिस की ही पुष्टि में महाराज भर्तृहरि कहते हैं कि—

येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्यु लोके भुविभारभूता, मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जिन मनुष्यों में न विद्या है न तप है न दान है न ज्ञान है न शील न गुण है न धर्म है वे इसलोक में पृथ्वीपर भाररूप मृगाकी तरह चुग रहे हैं॥

ओहो सज्जनो! इस मनुष्य पद को पाये हुए ही तो हम श्रेष्ठ कहलाये थे और इसी ज्ञान ही को प्राप्त होते हुए ही तो हमारे ऋषि मुनियों ने मोक्षवत् सुख प्राप्त किये थे आज उस मनन शक्ति से हमने बिलकुल काम लेना छोड़ दिया है उसी ज्ञान कि जिस से हमारी श्रेष्ठता थी आज हम लोगों ने उस को ताख में रखकर अपने उद्देश को भूल कर हम केवल इसी को उद्देश मान रहे हैं कि किसी तरह २ या ४सेर अनाज पैदा करना और एक खूब सूरत स्त्री प्राप्त कर लेना उस से बाल बच्चे पैदा करना इस उद्देश को मान और अपने को अजर अमर माने हुए उस सच्चे उद्देश की तरफ ख्याल भी नहीं करते और मोह और प्रमादरूपी मदिरा पीकर मतवाले हो रहे हैं कि जिस के लिये महाराज भर्तृहरि जी कहते हैं॥

आदित्यस्यगतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं,।
व्यापारैर्बहुकार्य्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

सूर्य्य के उदय और अस्त होने से दिनप्रतिदिन आयु घटती जाती है अनेक कार्य्यों कर भारीव्यापार में काल का बीतना नहीं जाना जाता और जन्म वृद्धापन विपत्ति और मरण देख के भय त्रास नहीं होता इस से यह निश्चय हुआ कि मोह मयी प्रमाद रूपी मदिरा पीके जगत् मतवाला होरहा है जब हम दिन प्रतिदिनजरा मरण देखते फिरभी हम अपनेको अजर अमर मानेहुए इन कामों अर्थात् खान पान और मैथुन ही को उद्देश समझे हुए आयु व्यतीत कर रहे हैं जिस वक्त हमारे कुटुम्ब में हमारा कोई बाप दादा भाई आदि मरता है औरजब हम सब लोग उस मृतक पुरुष को लेकर चलते हैं तब तो जितनी

फौज इस मृतक पुरुष के साथ जाती है यदि आप उन की बात चीत सुनें तो यही विदित होगा कि येसबबड़े ज्ञानीऔरत्यागी औरयोगी विरागी पुरुषहैं अब तो यह भी कहते जाते कि सुनो भाई इस शरीर में कुछ नहीं है मिस्ल पानी के बबूले के है देखो तो अभी कलयह पुरुष ऐसी २ बातें करताथा न जाने पलक ही में इसे क्या हो गया इससे दुनिया में शरीर से नेकी करे चाहे वदी जबमृतकशमसान में पहुंचगया और जलाके मृतक की ओर पीठ की और घर की ओर सिर उठाया अब तौ फिर भी उसी अविद्या के गढ़े में आगिरे और सम्पूर्ण ख्याल भुला कर अपने को अजर अमर मानने लगे कभीमृत्यु का ख्याल भी नहीं आता बल्कि मरण सुन चकित होते हैं कि जिस के लिये महाराजभर्तृहरि जी कहते हैं—

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः। समानाः स्वर्य्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः॥ शनैर्यष्ट्योत्थानं घन तिमिररुद्धे च नयने। अहो धृष्टः काय-स्तदपि मरणापायचकितः॥ १॥

विषय भोग की इच्छा न्यून हुई लोगों में अपना मानभी घटा बराबर वाले भी मरगये जो इष्ट मित्र थे वे भी समाप्त होने वाले हैं अथवा अपने समान हैं आप भी लकड़ी टेक कर उठने लगे और आंखों में अंधेरी छाई तौ भी यह काया ऐसी निर्लज्जा है कि अपना मरण सुन चकित हो जाती है और कैसे आश्चर्य्य का विषय है कि इतनी तेज़ी से मनुष्य अपनी आयु रूपी सड़क पर दौड़ा जाता है कि जिस के मरने में कुछ देर ही नहीं लगती कल्पना करो किसी मनुष्य का जन्म ४ बजे हुआ और दूसरे का जन्म ४ बजकर ५ मिनट पर जन्म होता है यदि ४ बजकर ५ मिनट पर जन्म जिनका हुआ है और चाहे कि मैं जिस का जन्म ४ बजे हुआ है आयु में पकड़ लूं यानी उसके बराबर हो जाऊं चाहे जन्म भरक्यों न उस के पीछे दौड़े परन्तु यह सम्भव नहीं कि कभी यह उस के बराबर हो जाय जब इतनी तेजी से मनुष्य अपनी आयु रूपी सड़क पर दौड़ा जा रहा है और फिर अपने को अजर अमर मान और सिर्फ कमाना खाना स्त्री भोग उद्देश मान इस संसार सागर से निकलना चाहे कभी सम्भव हो सक्ता है। और क्या वास्तविक मनुष्य के यही उद्देश हैं इन्हींजन्म मरणादि दुःख निवृत हो सक्ता है यद यही उद्देश है तो उपरोक्त उदाहरण फिर भी यहां घटेगा और ये होगा कि अगर आप लोग कुछ उद्देश ही न मानें जब तो कहा जायगा कि यह दुनियां है या पागलखाना है इस लिये मनुष्य का

उद्देशतो कुछ अवश्यमेव है यह कभी सम्भव नहीं जिस को दुनियां में हम इतना श्रेष्ठ देखते और वेदों में भी हम उस के लियेउपदेश पाते फिर यह कैसे सम्भव हो सक्ता कि कुछ उद्देश ही नहीं

और यदि हम केवल कमाना खाना ही उद्देश मानलें तो ऐसे तो जंगली जानवर भी अपना उद्योग कर कुछ न कुछ खाय ही लेतेहैं और यदि यह कहाजाय कि बार बार स्त्री भोग आदि ही मनुष्य का उद्देश है तो फिर मनु ने ये क्यों कहा:—

ऋतुकालाभिगामीस्यात्स्वदारनिरतस्सदा ।

पर्व वर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रती रति काम्यया ॥ मनुः ॥ ३ ॥

इसलिये ऋतु काल में भोग कहा अन्यथा यदि ऐसा उद्देश मानाजाय कि बार बार भोगकरना यही उद्देश है तो फिर कुत्ता कुत्तियों में और हम में क्या फर्क रहा यदि कहा जाय कि (मद्यं मांसंच मीनंच मुद्रा मैथुनमेवच) ये उद्देश है तो फिर हम में औरग्रद्धों में क्या फर्क रहा इसलिये सज्जनोंअवहमें सोचनाचाहिये कि हमारा इतने श्रेष्ठ और ज्ञानवान हुये क्या उद्देश है और यह भी याद रहना चाहिये कि अनुकूल पदार्थ अर्थात् अपने सदृश पदार्थ प्राप्त होते हुये ही हमें सुख होसक्ता है अन्यथाकभी सुख नहीं प्राप्त होसक्ता तथापि आप कहेंगे कि आप घंटों से गोलमालकरते परंतु और कौनसे सच्चे उद्देश हैं कि जिनसे ही हम जन्म मरणादि दुःखों से निवृत्त हो सक्ते हैं और इस भयानक संसार सागर से निकलसक्ते हैं

पहिला उद्देश विद्या, सत असत आचार अनाचार का ज्ञान होना क्यों कि बिना विद्या के कभी मनुष्य को इन बातों का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सक्ता और विद्या वह वस्तु है कि जो कुरूपों को सुरूप और नीचों को कुल पात्र बना देती है और यही तो नहीं बल्कि बड़े और छोटे से वर्त्ताव करने के लिये भी ज्ञान उत्पन्न करादेती है औरइससे ही मोक्ष आदि सुख प्राप्त होते हैं—तथापि जो मनुष्य विद्या पढ़के और वेदानुकूल आचरण नहीं करता उसके शरीर में विद्या यों है—

यथा खरश्चन्दन भारवाही । भारस्य वेत्ता नतु चन्दनस्य–एवंहि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा खरवद्वहन्ति ॥

जैसे गधे पर बोझ लादने से वह बोझ को जानता है नकि चंदन को ऐसेही बहुत से शास्त्र और वेद को पढ़कर विद्या को जानकर समझेयथार्थ अर्थों को

को न जानता हुआ उसपर आचरण ठीक २ जोमनुष्य नहीं करता है वह गधे के समान भार वाही है इस लिये जो मनुष्य विद्या और अविद्या के रूप को ठीक २ जानता हुआ अविद्या के गढ़ो से निकल कर विद्या को प्राप्त होता हुआ उद्देशों को समझ सक्ता है और उनके अनुकूल आचण कर सकता है अन्यथा मनुष्योद्देश कोई खिलौना तो नहीं है और विद्या मनुष्य को जभी प्राप्त हो सक्ती है जबकि बालकपन से पूर्ण ब्रह्मचर्य्य को धारण करतेहुये अनेकानेक कुसंग और कुसंस्कारों से बचतेहुये केवलविद्या ही का व्रत और तन मन धन उसी के अर्पण करना जो मनुष्य विद्या को इस प्रकार ग्रहण करता है उसे विद्या भी अपना सच्चारूप प्रगट कर देती है जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति के सामने सम्पूर्ण अंगों को खोल देती है किसीअंग को नहीं छिपाती है ठीक इसी प्रकार विद्या भी जो मनुष्य उपरोक्त लेखानुसार ग्रहण करता है उस के आगे सम्पूर्ण अंगों को प्रगट कर देती है यही मनुष्य का प्रथम उद्देश है अब दूसरा उद्देश यह है—

मातृ मान, पितृमान, आचार्य्य मान पुरुषो वेद अथवा मातृ देवो भव । पितृ देवो भव आचार्य्य देवो भव अतिथि देवो भव

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः

प्रथम तो मातृमान इस लिये कि ज्यों ही पुत्र गर्भाशय में आया माता को उसी दिन से क्लेश उत्पन्न हो चलता है कि गर्भ ठहरने केही दिन से माता भली भांति भोजन नहीं कर सक्ती स्वाद तो एक तरफ़ रहा बलिक पेट भर खा भी नहीं सक्ती उसे तो यह पड़ती है कि मेरे लड़के का बढ़ना मारा जायगा और यह भी बिचार किया करती है कि अमुक २ पदार्थ गर्भाशय में जाकर मेरे पुत्र को दुख का कारण होगा फिर आपको तो ९ महीना पेट में लादे रहना कि जिससे माता को उठना बैठना लेटना सोनाआदि सभी व्यवहारों में माता को महाक्लेश मिलता है फिर जिस समय पुत्र का जन्म होता है उस समय तो माता को जान की ही आकर अटकती है उस क्लेश से तो मरना ही अच्छा है यहां तक अधिक क्लेश होता है पुत्रका जब जन्म होचुकता है उस समय में भी माता को कुछ शारीरिकक्लेश तो रहता ही है परन्तु पुत्र की हिफ़ाज़त के कारण अपने क्लेशको कुछ भी न समझती हुई तुम्हारी रक्षा में प्रवृत होती है यदि शीत का मौसिम है तो इधर तो माता का शारीरिक क्लेश है ही उधर शीत के कारण दांत कटा कट बोलरहे हैं शरीर कम्पाय मान और जाड़ों के मारे ठिठुर

रहा है और तुमने ज्योंही चारपाई पर कुछमल मूत्रकिया त्योंही माता आ गीले में लेटती परन्तु आप को सूखे में लेटाती है क्या ही विचित्र प्रेम माता का तुम्हारे ऊपर है अब तुम किसी दुःख या किसी कारण से रोतेहो तो माता तुम्हारे चुप करने के हेतु अनेक प्रकार के उपाय रचने पड़तेहैं बहुत से खिलौने रंग बिरंगे तरह तरह के तुम्हारे चुपहोने के हेतु दरज़ियों से चिड़ियां कपड़े की बनवाती मनिहारों सेझालरें बनवा चिटकोने चटुई इत्यादि—यदि अब भी नहीं चुप होते तो झुनझुने इत्यादि बहुप्रकार से बजाती और गाती कि किसी तरह से बच्चा चुपहोजाय अगर आप फिर भी नहीं चुप होते तबतो माता बहुत घबड़ाती है कि मालूम होता है कि बच्चे को कोई रोग होगया तब तो कहती कि बच्चातुम्हारा पेट तो नहीं दर्द करता हर्र निमक खा पेट पर फेरती यदि कफ घुड़घुड़ाता देखा तो कटोकी चूकरिया दे आप की रक्षा करती यदि आंखों से दर्द होता तो फटकरी आदि के बहुत से लेपन बना आप का पालन करती है यदि कोई रोग प्रत्यक्ष नहीं और आप रोते पेट पेट पर दवा फेरने से नहीं चुप होते तो मातायें कि जो जन्म से अभी नोचों से पैर मारना कहां बल्कि बात तक नहीं की थी आप हीके सबब (चाहे वह झूठ हो चाहे कुछ उससे हो या न हो तथापि आप अपने ऊपर उन बेचारियों की प्रेम रूपी श्रद्धा तो देखो कितनी है कि नाना प्रकार के) झरवैये फुकवैये न्यावते बुला तुम्हारी रक्षा करती है पुनः तुम्हारा पाखाना पेशाब दिन रात उठाने में भी किंचित घृणा नहीं करती फिर तुम जिस वस्तु के लिये रोते माता का चाहे सर्व सुख जायँतथापि जहां तकउसका उपाय चलता है तुम्हारे लिये वह पदार्थ पैदाकरती है अपने सम्पूर्ण सुखों को तिलांजली दे देती है मगर तुम्हारी रक्षा करती इसी लिये तो जिस सन्तान की माता नहीं रहती उसका पालन पोषण तो एक तरफ़रहा बल्कि उसका जीनाभी दुस्तर हो जाता है इस लिये प्रथम पात्री मातृमात्र है और मूर्तिमती माता को ही पहिलादेवता माना है और उसीकी पूजा बतलाई है कहां तक इस शिक्षा के पालन करने वाले वर्तमान समय में दिखलाई देते हैं

क्या जो मनुष्य ऐसी मूर्ति मती माता साक्षात देवी स्वरूपको छोड़ कर संख घड़ि याल टूं टूं पूं पूं आदि कुलाहल करता और घंटा आदि बजाता उस के लिये फलभी घंटाही है सिवा घंटा के उसे भी कुछ नहीं प्राप्त हो सक्ता बड़ेशोक की बात है कि इन्हें ज़रा भी शरम नहीं आती कि माता तो गलियों में भिक्षा

मांगती फिरती और एक एक टुकड़े को तरसती और ये दुष्ट वन्दनस्नान कर के और एक लिंग आगे रखके यदि पत्थर का लिङ्ग हुआ तो माटी का बनाया और उस के आगे खूब घंटा हिलाते और १०८ गुरियां की माला धारण कर भस्म लगा और फरिका सी मुख रखा वाह २ निकलते शरम भी नहीं मालूम होती उन जड़ पत्थरों के आगे नैवेद्य रख घंटा हिलाते और माता गलियों में टुकड़े को रोती फिरती है हा दुष्टो! तुम्हारी क्या दशा होगी तुम ईश्वरको भी नहीं डरते क्यों इतनी कृतघ्नता करते तुम्हें पूर्व का स्मरण भी नहीं आता कि इस माता ने हमारे साथ कैसे कैसे व्यवहार कियेथे बल्कि प्रायः आज कल ऐसा भी देखाजाता फिर ज्योंहीं लोगों का ब्याह हुआ और हमारी स्त्री घर में आई अब माता से तो हम चक्की पिसवाते और स्त्री बैठी है क्यों ऐसा कि स्त्री के हाथों में कहीं छाले न पड़जांय कुल काम माता ही करती जिस पर भी हमारी स्त्रियों और डाट भी दिखलाती हैं और रात में अपने पति से झूठी सांची शिकायत भी बहुत सी जोड़ी कि तुम्हारी माता हमें यों कहती यों कहती गरज बांट हो जाये ताकि जब बांट के अलहिदा मकान बना के रहेंगीं तो उसमकान में माता बहिन भाई आदि कोई न होंगे और हम स्त्री पुरुष खूब विषय कुत्ताकुत्तियों की तरह करेंगे येसब बाल विवाह का कारण है कि बाल्यावस्था में जो स्त्री पुरुष के साथ प्रसंग करती उस की अग्नि कभी शान्त नहीं होती फिर वे धूर्त उस स्त्री का वाक्य मान वैसाही करने लगते और माता के उपकारों का कुछ भी ख्याल नहीं करते कहिये तो मित्रवर जो मनुष्य ऐसे ऐसेमाता के उपकारों को भूलता हुआ और जड़ पाषाण या मट्टी की मूर्तियों से मुक्ती की आशा रखता है क्या वह अग्नि से जलनिकालना नहीं चाहता क्या वह मृग तृष्णा में अपनी प्यास बुझाने के सदृश नहीं क्या वह आकाश के फूल का दर्शन करना नहीं चाहता बन्ध्या के पुत्रके दर्शन नहीं चाहता जैसे उपरोक्त सब उदाहरण असंभव हैं ठीक इसी प्रकार मूर्तिमतीदेवी रूपमाता की पूजा छोड़ जड़ पाषाण व मट्टी आद से मुक्तीदुर्लभी है द्वितय पितृ मान अपनी माता के ही सदृश पिता भी पूजनीय है क्यों सोचो कि वीर्य्य ही से पुरुष का शरीर बनता है यदि आपका पिता आपकी माता वीर्य्यदान नदेतीतो कभी आप की पैदाइश हो सक्ती थी परन्तु इसजगह कितने ही मनुष्य आज हम को ऐसा उत्तर देते हैं कि पिता ने हमारे उत्पन्न करवाने को थोड़ा वीर्य्य दान दिया था बल्कि उन्होने तो अपने मज़ाके वास्ते या विषय में तो सुख होता है

उसके लिये ऐसा किया था इसलिये हम क्यों उनकी सेवा करें हां हम उन पुरुषों का भी वाक्य किन्हीं अंशों में ठीक मानसक्ते हैं यदि इतना विषय भोग न बढ़ता तो या विषय के ही अर्थ प्रसंग करने वाले न होते तो यह वाक्य आज दृष्टि गत न आता—जिस का बीज होता है उस का ही वृक्ष होसक्ता है अन्यथा कभी बिना बीज के वृक्ष का होना संभव नहीं इसलिये मनुष्यों को चाहिये कि यदि वे अपने पुत्र पौत्रों से सेवा कराना चाहते तो कुत्ता और कुत्तियों की तरह विषय न करें और न विषय में मस्त हो विषय करें बल्कि (ऋतु कालाभिगामी०) के अनुकूल पुत्र प्राप्त की इच्छा रखते हुए स्त्री से विषय करना चाहिये और सृष्टि की आदि से लेकर आजपर्य्यन्त ऐसाही ऋषि मुनि और पुरुषा लोग करते चले आये हैं तो सज्जनो जिस पिता ने पुत्र की इच्छा करते हुए और हमारी माता को वीर्य्य दान दिया है किजिससे हमारा शरीर बना है बाद में शरीर की नीव तो वीर्य्य परन्तु उस नीव के ऊपर दीवार यों चलती है कि जिस प्रकार के पदार्थ हमारी माता खाती उन से जो रक्त मांस आदि बनता है उसी से हमारा शरीर बनता है इसीलिये तो बतलाया गया है कि जिस समय से स्त्री के गर्भ रहे उस समय से स्त्री को उत्तम पदार्थ खिलाना चाहिये जैसे कि रोगनाशक पुष्टिकारक मिष्टकारक बल कारक जिससे कि शरीर उत्तम बने (अब उस पिता का प्रथम तो ये उपकार होही गया कि वीर्य्य दान दिया दूसरा यदि अब इन अच्छे२ पदार्थों को पिता अब माता को लाकर खिलाता है तबभी तो हमारा शरीर बनता है जब हम पैदाहोजाते उस समय में भी हमारे लिये औषधि खिलौने खाने के पदार्थ जो हमें माता देती है उनका लाने वाला कौन है—पिता, फिर जब और कुछ बड़े हुये तो जिस वक्त तुम्हारा पिताकहीं हाट बाजार जाता उसे ख्याल है कि घर में छोटा लड़का मौजूद है उसके लिये कुछ लियेचलें क्योंकि देखते ही कहेगा दादा क्या लाये तो क्या उत्तर दूंगा चाहे तमाम दिन की मज़दूरी में =) दोही आने पाये हों और चाहे उनको दो आनों में ४ मनुष्य क्यों न खाने वाले हों और भूके क्यों न रहें परन्तु लड़के के वास्ते ज़रूर पैसा दो पैसा की चीज लायेंगे जब लड़का साथ बाज़ार आदि जाने के लायक़ हुआ और यदि कभी साथ गया तो कहताहै दादा हमतो टोपी लेंगे हम जूते लेंगे हम मीठा लेंगे हम पुस्तक लेंगे हम फल पदार्थलेंगे पिता को चाहे खाने को न रहे परन्तु सब करना पड़ता पुन तुम्हेंविद्या पढ़ाने मेंतन मन धन से प्रयत्न करता

चाहे सो खर्च हो जितना खर्च पुस्तक क़लम काग़ज़ स्याही फ़ीस आदि काहोता चाहे खावें नहीं परन्तु तुम्हारे खर्च को नहीं हिचकते फिर इतना ही तो नहीं पिताको तो यहभी फ़िकर पड़ी रहती कि हम अपने जीवन में कुछ पुत्र के वास्ते रिआसत घर बाग़ बग़ीचा ज़िमीदारी आदि भी करदें ताकि हमारे पुत्र को दुख नहो यदि हमने ऐसा न किया तो हमारे लड़के बिना मकान के दूसरे के दरवाज़े बैठते फिरेंगे और कहेंगे कि लो हमारे पिता हमें मकान तक न बनवागये बाग़ तो जरूर ही लगादें नहीं तो दूसरों के बाग़ में घूमते फिरेंगे और कहेंगे क्या हमारे पिता ने हमारे साथ किया एक बिरवा (पेड़) न लगागये कुछ धन ज़िमींदारी आदि करदूं नहीं मारे फिरेंगे और कहेंगे कि लो पिता हमारे लिये कुछ न करगये विद्या तोज़रूर ही पढ़ादें नहीं तो चिट्ठी लिये बच वाते फिरेंगे और कहेंगे हमारे बाप ने हमें एक अक्षर भी न पढ़ाया चाहे पिता मज़दूरी ही क्यों न करते हों चाहे गाड़ी ही क्यों न जोतते हों चाहे घोड़ा ही क्यों न लादते हों परन्तु ये बातें अवश्य सूझतीं और करते भी आप चाहे १ पैसे के चने चाब चाब क्यों न रहजावें मगर पुत्रों के वास्ते घर बाग जि-मीदारी धन आदि जरूर कर जायें उन पिताओं बिचारोंने तो एक एक पैसे के चने चाब चाब कर इन्हें ये रिआसत जोड़ीथी जेष्ठ मास की धूपनंगे पैर सिर पर कपड़ा नहीं और दौड़े २ फिरे जब ये रिआसत जोड़ी या घरैयन को पाला बदन पर कपड़ा नहीं भूख के मारे पेट में कल्ल पड़ी मगर पुत्र के लिये एकत्र करने के लिये खा न सके उस धन को हम लोग आतिशबाजी रण्डी आदि में एक एक रात में हज़ारों रुपये फूंक देते हमे तरस नहीं आता कि हमारे पिताने एक एक पैसे के चने चाब चाब कर शीत धूप खा खा कर ये पैसा जोड़ा था हम कैसे बिना मोह इसे फूंके देते हैं ऐसे देवस्वरूप साक्षात देवता पिता को छोड़ जो मनुष्य पत्थरों में सिर टेक और घंटा हिलाते उनके लिये भी पत्थर और घंटा ही है इसके सिवा और कुछ उन्हें फल नहीं प्राप्त होसक्ता है शोक शोक शोक कि उन पिता के सब उपकारों को भूल और ऐसा करते क्या वे कृतघ्नी नहीं क्या वें कभी मुक्ति के भागी होसक्ते हैं अब इसके आगे बतलाया गया था कि आचार्य्य वान् सोचो किस लिये

(आचार्य्य वान्)

सज्जनों सोचने के योग्य है कि प्रथम हम किस अविद्या अंधकार में प्रवृत थे न तो हमें बात करने का ज्ञान न उठने बैठने बोलने चालने आदि के

वस्तोओं से बिलकुल अनभिज्ञ थे बल्कि जिस समय हम ने प्रथम पाठशाला में विद्या अध्ययन के लिये प्रवेश किया था मालिन वस्तु धारण किये हुए आंखों में कीचड़ नाक में रालटपकती थी महा प्रक्षित हाथमुंह धोने तक की तमीज़ न थी जिस समय हम आचार्य्य के पास जाते हैं आचार्य्य बड़े प्रेमसे हमसे कुछ घृणा न करता हुआ और न हमारी बातों पर आचार्य्य को किसी प्रकार क्रोध है बल्कि बड़ी शांति के साथ हमें पास बुला अक्षराभ्यास कराता परन्तु आचार्य्य जिस प्रकार बतलारहा है वैसे हमें लिखने बोलने की तमीज़ न थी आचार्य्य कुछ कहाता हम कुछ बकते हैं आचार्य्य अक्षर की किसी दूसरी प्रकारसे शकल बतलाता है हम दूसरे प्रकार खीचते हमें अपने आप का ज्ञान ही नहीं फिर भला अक्षर का बोध होना जीव ब्रह्म प्रकृति धर्माधर्म सत्यासत्य कर्त्तव्याकर्तव्य आदि का जानना तो महा कठिन है और जब तक मनुष्य सम्पूर्ण मात्रों का ज्ञान न प्राप्त करले तबतक ऐसी बातें जानना असम्भव हैं जिनकी पुष्टि में महात्मा कणादि जी वैशेषिक दर्शन के अन्तर गत बतलाते हैं (धर्म विशेष प्रसूताद् द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाया नाम्पदार्थानां साधर्म्य वैधर्म्याभ्यां तत्व ज्ञानान्निः श्रेयसम्)

अर्थ—साधर्म्य व वैधर्म्य से जो धर्म जाना जाता है व द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय पदार्थों के ज्ञान से मुक्ति होती है योंहीं इसकी ही पुष्टि में महर्षि गौतमाचार्य्य अपने न्यायदर्शन के अन्तर गत बतलाते हैं कि (प्रमाण प्रमेय संशयः प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयवतर्क निर्णय वाद जल्प वितण्डा हेत्वा भासच्छल जाति निग्रह स्थाना नाम अ तत्वा न ज्ञाना निः श्रेय साधिगम

अर्थ—प्रमाण—प्रमेय संशय—प्रयोजन दृष्टान्त—सिद्धान्त अवयव तर्कनिर्णय वाद जल्प—वितण्डा—हेत्वा—भास—छल—जाति—निग्रह स्थानों के तत्वज्ञान से निः श्रेयस अर्थात् मुक्तिप्राप्त होती है

बिनाइन के जाने मनुष्य को यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता एवं इस जगह से पुष्टहोता है कि बिना आचार्य्य के विद्या प्राप्त नहीं हो सकती और ब्रह्मयज्ञ से ले कर अतिथि यज्ञ पर्यन्त या यूंकहा जाय अग्नि होत्र से लेकर अश्वमेध सोम वाजपेयइत्यादियज्ञ पर्यन्त का बतलाने वाला आचार्य्य ही है योग उपासना ज्ञान आदि का भी बतलाने वाला दूसरा नहीं दीखता और सृष्टी की आदि से आज पर्यन्त किसी को बिना गुरु के विद्या प्राप्त नहीं हुई देखो ईश्वर से अग्नि वायु आदित्य अंगिरा उन से ब्रह्मा पुनः ब्रह्मा से अन्य

मनुष्यों ने जाना है इसी प्रकार कृष्णादि ने संदीपन से दशरथ ने वशिष्ठ से इसी तरहसे नचकेता आदि ने मृत्यु– नामक आचार्य्य से और रामचन्द्रने विश्वामित्र से विद्या जानी है जब शिष्य सत्याकांक्षी हो हाथ में लकड़ियां लिये हुये सुशील जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी सर्वथा संसार के सुख पर लात मार वेद की पोथी बगल में दबी हुई वेदज्ञ ब्रह्म निष्ट बन गुरु की शरण में जावे तो इस को ज्ञान की प्राप्ति वह गुरु करादेता है अन्यथा संसारिक व्यवहार व पारमार्थिक व यज्ञादि कर्म व जीव ब्रह्म प्रकृति इत्यादि विषयों का जानना असम्भव है और इनके न जानते हुये मुक्ति का प्राप्त होना असम्भव है और मुक्ति के न प्राप्त हुये यह मनुष्य जन्म निरर्थक है इसी लिये उपरोक्त देव व विद्वानों ने आचार्य्य वाम् बतलाया है और इनसबों ने विद्या पढ़ किस प्रकार गुरु पूजा की है और गुरु आज्ञाओं को मान गुरुदक्षिणायें दीहैं देखो राम चन्द्र जी गुरु पूजार्थ जनक की वाटिका में पुष्प तोड़ने गये थे साबित हुवा कि चैतन्य ही की पूजा आजतक होती आई है–बाज़ २ लोग यह कहते हैं कि वह ज़माना ऐसा था कि उन ज़मानों में गुरु पूजा होने का कारण सतयुगादि युगों का होना है आज कल कलियुग के कारण पूजा लोग नहीं करते क्या कलियुग करने नहीं देते हैं:—

नहीं २ ऐसा कहना आपकी भूल है क्योंकि कलियुगादि युग जो हैं वह सब जड़ हैं इससे जड़ होते हुए किसी को कर्माकर्म करते हुए व धर्माधर्म चाल पर चलने पर रोक नहीं सकते हैं देखो अभी थोड़ा ही ज़माना हुआ होगा आपको स्मरण होगा सम्भव है कि भूले न होंगे कि एक गुरु का शिष्य कि जो श्रीमत् परि ब्राजिकाचार्य्य स्वामी बिरजानन्द सरस्वती की सेवामें पढ़ कर विदा होने के लिये हाथ जोड़कर खड़ा होता है कि हे महात्मन्! आज्ञा कीजिये मैं आप की गुरु दक्षिणा देने को मुस्तैद हूं वह स्वामी बड़े ज़ोर शोर के साथ आज्ञा देता है कि जाव देश में जो वेदों का आज कल बड़ा अभाव हो रहा है जाकर दुनिया में अगर शिष्यता से उऋण होना चाहो तो प्रचार करो वह महर्षि गुरुआज्ञा मानकर वेद रूपी खड्ग हाथ में लेता हुए नाना प्रकार के मत मतान्तरों को नष्ट करता हुवा यानी सब दीपकरूपी मजहबों को गुलकरता हुवा वेदरूपी सूर्य्य का प्रकाश करता है आज उसी का प्रताप सारी दुनियां में नगर २ व ग्राम २ मनुष्य २ में उसी की रोशनी छाई हुई है यह उसी गुरु आज्ञा के पालन करने का कारण है कि जिससे

तमाम संसार में उसी के गीत गाये जारहे हैं ज़ियादा क्या लिखूं लिखने से किताब का बहुत ही बढ़ जाना सम्भव है इससे ऐ मित्रो! आवो वेद रूपी विद्या को हासिल करते हुए और कलियुगादि युगों पर आक्षेप न करते हुए वेदानुसार कार्य्य करते हुए ही मोक्ष के भागी बनसक्ते हो अन्यथा नहीं क्यों ऐसे आचार्य्य की पूजा छोड़ते हो जो मोक्ष के द्वारतक पहुंचादेता है एक महात्मा बड़े ज़ोर शोर से बतला रहा है कि (श्लोक)

आचार्यो ब्रह्मणोमूर्ति पितामूर्ति प्रजापति माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वोमूर्ति रात्मनः—

मित्रो ऐसी मूर्ति श्री गुरू जी की कि जिस की ही पूजा से ब्रह्म व मोक्ष का भागी होता है नहीं— मित्रो श्लोक बतला रहा है कि आचार्य्य ही साक्षात् ब्रह्म की मूर्ति है लेकिन आजकल के गुरू घंटाल न हों जो कि मोक्ष आदि सिद्ध करने की बातें छोड़ कर ब्रह्मचर्य्य नष्ट कारक बातें सिखलायें ऐसों के पास पढ़ने तक न जानाचाहिये सेवातो बहुतदूर रही— लेकिन क्या सब गुरू ऐसे कुछ थोड़े होते हैं बहुत से ऐसे सज्जन गुरु मौजूद हैं उन की परीक्षा कर लेना चाहिये तत्पश्चात् जो गुरु सुपात्रहो और शुभलक्षण वाला हो उसी से विद्या लेनी और उसी की पूजा करना चाहिये सुपात्र के लक्षणये हैं जो ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय विद्या के पढ़ने पढ़ानेहारें सुशील परोपकारी सत्यवादी पुरुषार्थी उदार विद्या धर्म का निरन्तर उन्नति चाहनेवाले ऐसे ही गुरुओं से विद्यालेनी और उनकी राम कृष्णादि के समान विद्या वत पूजा करना मनुष्य का परम-धर्म्म है परन्तु जो मनुष्य ऐसे साक्षात् देवस्वरूप गुरुओं की पूजा छोड़ और पत्थरों में अपना सिर टकराते या घंटाहिलाते शंख बजाते उन के लिये भी घंटाही है और संख के बजानेवाले सुरागौ की पूछ ले अर्थात् चंवर के हिलानेहारे हमारे पौराणिक भाई कृष्ण को गोपाल कहनेवाले उन्हे कृपा कर सोचना चाहिये कि संख व सुरागौ की पूछ कैसे प्राप्त होती है जो हम शिवालयों में लाकर और कृष्ण के ऊपर डुलाते या बजाते हैं पहिले तो कि जिस पूछ के चंवर बनते हैं और मनुष्य जो कि उस पूछ को लाते हैं जिस जंगल में सुरागौ पाई जाती हैं ये मनुष्यबल्लियों में हसिया बांधऔर उन बल्लियों को ले वृक्षोंके ऊपर छिप छिप कर बैठ रहते हैं जब सुरागौ उन वृक्षों के नीचे आती तो ऊपर से उस हसिये से उनकी पूंछ काट देते उसी पूंछ को धनवान लोग चांदी से मढ़ा कर कृष्ण के ऊपर डुलाते यदि आज दिन कृष्ण उपस्थित होते कि जिनका नाम गोपाल

या तो इन दुष्टों को कि जो कृष्ण के लिये गौओं की पूंछ काट काट कर कृष्ण के ऊपर डुलाये हा! कृष्ण कहां गया अब तेरी मूर्ति पर गौ की पूंछ डुलाई जाती अब संख की प्राप्ति इससे भी बढ़िया कृपा कर सोचिये कि संख एक किस्म का जीव होता है वह अक्सर बड़े बड़े दरियाओं में पाया जाता है उसके पकड़ने वाले दरिया के किनारे गढ़े बना रखते और उसमें कुछ ऐसा पदार्थ डाल देते हैं कि जिससे वह उस गढ़े में आजाते ज्यों उस गढ़े में आगये फिर वो इस तरह फंस जाते कि पुनः निकलने का सामर्थ्य नहीं रहता बाद १ या २ रोज़ के जब वो मर गये तब उन्हीं का ऊपरी शरीर ये होता है जो कि बजाने में आता है यदि इन शिवालयों में चंवर डुलाने व संख बजाने की रिवाज न पड़ती तो हज़ारों गौओं की पूंछ क्यों कटती या हज़ारों जीव कि जिनका नाम संख है क्यों मारे जाते हा शोक कि जहां मनुष्य मात्र का पहिला धर्म यह था कि (अहिंसा परमो धर्म्मः)

योग (अहिंसा प्रतिष्ठायां सन्निधौ वैरत्यागः)

इस परम धर्म अहिंसा की जगह आज हिंसा परम धर्म माना जाता और उन कृष्ण रामादि अहिंसकों की मूर्ति के सन्मुख शिवालय में संख चंवर आदि डुलाते और तुर्किनियों को लाला कर उनके सामने नचाते जो राक्षसों के नष्ट करने वाले उन्ही की मूर्तियों के आगे राक्षस बजावें और राक्षसी नाचें

दर्शनात् हरते चित्तं स्पर्श नातहरते बलं
मैथुनात् हरते वीर्य्यं वेश्या साक्षात् राक्षसी

इससे कृपा कर राक्षसियों का नचाना चवरों का हिलाना संखका बजाना और घंटा की भरमार जो इस बीसोंई के मुआफ़िक हो रहा है

घंटा लेना घंटहि देना । घंटा भोजन घंट चबेना ॥

दया कर अब उन जड़ पत्थरों में सिर टकराना और घंटे को तिलांजली दे गुरु पूजा सिर धरिये जिससे दोनो लोक बने अन्य क्यों मनुष्य शरीर को मिट्टी में मिलाते बाद इसके महात्मा मनुः स्त्रीमान् अर्थात् स्त्री पूजा बतलाते हैं देखो

पितृ भिर्भ्रातृभिश्चैताः * पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च * बहु कल्याण मीप्सुभिः॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते * रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रै तास्तु न पूज्यन्ते * सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥

शोचन्ति जामयो यत्र * विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्तितु त्रैता * वर्द्धते तद्धि सर्वदा ॥
तस्मादेताः सदापूज्या * भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूति कामैर्न रैर्नित्यं * सत्कारे धूत्सवेषुच .

अतिथि पिता भाई पति देवर आदि को उचित है स्त्रीपूजा क्योंकरनीचाहिये कि वह इन का आदर कर और भूषण छादनादि से प्रसन्नरखें और जिन पुरुषों को विशेष सुःख की इच्छा हो जिसघर में स्त्रियां सुखी रहती हैं उस घर के मनुष्यों को दिन सर्वदा आनन्द में कटते हैं और जिस घर में स्त्री पूजा नहीं होती वहां दुःख ही दुख उपस्थित रहते हैं वल्कि वह कुलही नष्ट हो जाता है और जहां स्त्री प्रसन्न रहती हैं वहां हमेशा आनंद रहता है इस की ही प्रसन्नता से संपूर्ण कुल के कुल प्रसन्न रहते और सन्तान इत्यादि सुयोग्य बनते और कल्याण होता है वल्कि इस की पूजा उपरोक्त तीनों देवताओं से कठिन है और इस देवता की प्रसन्नता के फल भी अद्भुत है और नाराज़ी के भी फल बड़ेही विचित्र हैं देखो प्रत्यक्ष में विदित है कि कल्पनाकरो कि किसी मनुष्य के यहां धन अन्न भाई पिता माता बाबा दादा काका पुत्र पौत्र इत्यादि संपूर्ण उपस्थित हैं और संपूर्ण उस मनुष्य से प्रसन्न हैं परन्तु स्त्री किन्हीं कारणों से रूठ गई हो और खाने आदि का प्रबंध वही घर में करने वाली है क्योंकि पिता माता तो उक्त पुरुष के वृद्ध कि जिस वृद्धावस्था के कारण कुछ खान पान का प्रबंध कर नहीं सक्तेऔर दादाकाका बाबा उनसे भी गये बीते पुत्र पौत्र बच्चेही ठहरे यदि घर में स्त्री ने भोजन न तय्यार किये और वह अमुक पुरुष बाहर से आया अब ज्योंही उस पुरुष के बाबा काका आदि ने देखा तो बहूसे तो बोल नहीं सक्के ये बेटे से देखतेही कहा देखो बेटा रोटी तय्यार है या नहीं बहू क्याकरती है पुत्र पौत्र यदि उस स्त्री से जाकर कहते कि जो रूठीहुई है तो उनकी खिबर तो सोंटे से लेती तो पुत्र पौत्र भी अब पिताही के पास मारे भूखों के रो रो कर जागिरते यह अमुक पुरुष जब यह दशा देखता है तो फिर स्त्री के पास मनाने आते और कहते। कहो प्रिया आज कुछ खान पान का प्रबंध न होगा रोटी नहीं करोगी ॥ जवाब देती कि रोटी तो नहीं लुकट दूंगी .ऐसे शब्द सुन यदि वह पुरुष सख्ती करता है तबतो कहता है कोई कवी

स्त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः

इसी तरह के अवसरों पर प्रायः स्त्रियां अप घात कर बैठती हैं जिससे कि अधिक विघ्नो का आना संभव हो जाता है और यदि नहीं कुछ कहते वह क्रोध युक्त उसके वाक्य सुन शान्त रहते तो अब मारे भूखों के संपूर्ण कर्म हुए जाते मारे भूखोंके कल्लाते फिरते हैं कहो तो एक स्त्री ही की अप्रसन्नता से यह दशा होती है और यदि वही स्त्री प्रसन्न है तो प्रातः काल उठ बड़ी प्रसन्नता के साथ घर को साफ़ कर खान पानादि का सामान १० बजे औषधि रूपना तय्यार करदेती है भोजनभी एक प्रसन्नता का हेतु है देखो जिस-वक्त मनुष्य भूंखा होता चाहे उसे आप सोने के मकान में क्यों न लिटाइये चाहे ४ आदमी उस की सेवा में आप क्यों न लगादीजिये कितने ही उस सोने के मकान में झाड़ फनूस इत्यादि क्यों न लगेहों तथापि यह सम्भव है कि भूंख में उसे वह महल अच्छा लगे परन्तु एक टूटी हुई मड़ैया जंगल में उसे क्यों न रहना पड़े परन्तु भोजन अच्छा और समय पर मिले तो वह प्रसन्न रहता है इसी लिये बस ज्योंहीं उसने दस बजे औषधि रूप बना कर खिला दिये कितनी प्रसन्नता शरीर में आजा ती सम्पूर्ण कुटुम्ब प्रसन्न रहता है और यही तो नहीं बल्कि जोनाराज़ी के समयमें पति आज्ञा को नहीं मानती थीं अब हर्षके समय सम्पूर्ण पतिकी आज्ञाओं के मानने के लिये तय्यार है इसी लिये तो महात्मा मनु ने कहा है किः—

सन्तुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्य्या तथैवच
यस्मिन्नेकुले नित्यं तत्र कल्याणं वैध्रुवम्

जहां पर स्त्री से पति और पति से स्त्री प्रसन्न रहती है वहीं पर कल्याण की वर्षा ही हो ती है और भी एक प्रबल पूजा है जो कि सब पूजाओं की दादा है जिस पूजा में कोई विरले ही पुरुष डटेंगे नहीं तो यही दशा होगी कि बस ज्यों ही पुस्तक को देखेंगे त्यों ही किताब व हांथ से रखदेंगे और यह है कि प्रथम इस पूजा के करने के लिये लिंगपूजा अतिही आव-श्यक है जो मनुष्य प्रथम लिंग की पूजा न करेगा वह स्त्री को कभी पूज नहीं सक्ता जिस प्रकार अन्य देवताओं परधूपवग़ैरह या पुष्पइत्यादि चढ़ाये जाते वैसेही इस देवता पर अमृत चढ़ाया जाता है जो पुरुष महादेव की तरह प्रथम लिंग पूजा कर चुका है उसी की हिम्मत इस पूजा में पड़ सक्ती है

सोचो कि पूजा किसे कहते प्रथम तो पूजा असली यही है कि जिस में जो गुण हैं उन गुणों की उस में तरक्की अर्थात् उन्नति देना यही पूजा है परन्तु आप सवाल करेंगे कि देवता का लक्षण यह है कि देओदा नाह्वा दीपना द्वाधो तमाह्वा द्युस्थानों भवतीति देवता तो उसे कहते जो कुछ दे परन्तु यह लिंग पूजा हमने आज ही सुनी यह क्या फल देती है मित्रो प्रथम तो यही लिंग पूजा थी कि जिससे ही स्त्री पूजा होती थी और ये है कि पहले हमें विचार करना है कि शिवालयों में महादेव का लिंग ही क्यों पूजा के वास्ते रखवाया गया उसकी फोटू क्यों न रक्खी गई जैसे कि अन्य देवताओं की रक्खी जाती है यह लिंग इसलिये रक्खा गया है कि आप ने सुना होगा महादेव के समान लिंग का पूजने वाला कि जिसने कभी अपने वीर्य्य को व्यर्थ नहीं खोया हमेशा लिंग ही में रक्खा कि जिस से लिंग प्रसन्न होता है और लिंगशिवा वीर्य्य ही के चढ़ाने से प्रसन्न होता इस के अतिरिक्त बेलपत्र व धतूरे के पत्र व पुष्प आदि से नहीं प्रसन्न होता बल्कि प्रत्यक्ष प्रमाण है जिस लिंग पर वीर्य्य नित्य प्रति चढ़ाया जाता उस का लिंग हमेशा प्रसन्न हो उसकी आज्ञा में खड़ा रहता और लिंग देव जी अपनी इस महती पूजा का फल ये देते हैं कि भीष्म पितामह से पुत्र राम चंद्र से पुत्र कृष्ण से पुत्र लिंग देव जी एक एक बूंद से देते हैं मगर जिसने श्रद्धा या भक्ति से लिंग पूजा की है और उनकी स्त्रियां भी उन से हमेशा प्रसन्न रहती और वही स्त्री पूजन भी कर सक्ते हैं और उन की ही स्त्रियां भी पतिव्रता होती हैं क्योंकि फिर उन स्त्रियों को ऐसे पति को छोड़ने का जी भी नहीं चाहता देखो महादेव ऐसा लिंग का पूजक था फिर उसकी स्त्री पार्वती ने कहा तब महादेव को चाहा कि यह बरदान महादेव से पार्वती ने मांगा है कि महाराज मैं जब जब जन्मूं तो आप ही की स्त्री होऊं पुनः महादेव की स्त्री पूजा भी शोचनीय है कि प्रथम तो लिंग पूजा की यानी लिंग को कहीं नहीं खोला अर्थात् वीर्य्य को व्यर्थ नहीं नष्ट किया परन्तु जब वीर्य्य को स्खलित किया और लिंग को खोला तो कहां खोला कि पार्वती की भग में अथच वीर्य्य को नहीं खोया उसी देवी पर चढ़ाया कितना स्त्री की पूजा के भक्त थे इसी तरह प्रथम संपूर्ण मनुष्यों को उचित है कि प्रथम ४८ व ३६ व २५ बरस तक ऊर्ध्व रेता वीर्य्य को चढ़ाते हुये लिंग की पूजा करें यानी इतने दिन तक कहीं भी वीर्य्य को व्यर्थ न खोवें जब स्त्री पूजन के योग बन सक्ते हैं फिर यदि अपने वीर्य्य को खोवें या वीर्य्य स्खलित करें तो

स्त्री पर खोलें या स्खलित करें क्योंकि महादेव ने जब जब अपने लिंग को खोला तब तब पार्वती ही की भग में खोला इसी तरह हम को भी चाहिये कि हम जब जब लिंग खोलें तब तब अपनी ही स्त्री पर यही अपनी स्त्री की पूजा है इसी पूजा का फल है कि राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न पुत्र प्राप्त होना उन्ही की स्त्रियां उन से प्रसन्न रही और जिन्होने यह लिंग पूजा और स्त्री पूजा नहीं की उन के ऊपर लिंगदेव ने क्रोध कर दंड दिया गर्मी सुज़ाक आतिश पीलापन दुबलापन आंखों से कम सूझना कानों से कम सुनना उन के पुत्र न होना उन्ही की तो स्त्रियां पति पूजा नहीं करतीं यदि वे लिंग की पूजा करते तो स्त्रियां उन की पूजा करती और उन्हीं से पुत्र की आशा रखती जब स्त्रियां जान लेती हैं कि इस लिंग की पूजा नही की अर्थात् नपुंसक है तब तो उस से पुत्र की आशा छोड़ और सैय्यद अरबैया मियां मदार मीरा जाहर इत्यादि कों केयहां की राह पकड़ती आये और जाय निष्फल ही और निष्फल आता ही है अखैया सय्यद मियां उन मुर्दों के पास रक्खा ही क्या परन्तु फिर भी और बेचारी करें हीं क्या उन्ही से कुछ अपनी जी को शान्ति देती हैं झूठी ही भावना कर घर के मन को समझा ती और उनका मन समझ तब तो समझ ही यदि न समझा तो इसी किस्म की स्त्रियां कि जिन के पतियों ने लिंग पूजा नहीं की और स्त्री पूजा की जगह रंडी पूजा की तो फिर स्त्रियां भी रन्डा पूजा करने लगती हैं प्रायः ऐसा देखा गया है कि आज कल के कुलीन व धनवान या सामान्य मनुष्य जिन्होने स्त्री या लिंग पूजा न की उनकी स्त्रियां नीच कौम वालों के साथ निकल जातीं फिर उन की सब इज्जत धूल में मिल जाती और अन्त में हाथ मलने के सिवा कुछ हाथ नहीं आता और येही हमारे भाइयों को स्मरण करना चाहिये कि स्त्री ही से संसारिक व पारमार्थिक दोनो काम बनते हैं जितने यज्ञादि कर्म्म हैं बिना स्त्री के कभी पूर्ण नहीं हो सक्के और गृहस्थाश्रम तो स्त्री सेही है जिसका एक पहिया पुरुष और एक स्त्री बतलाई जाती है और वास्तविक गृहकार्य्यों के चलाने वाली एक सुशीला स्त्री ही होती है देखो घर में न्याय का काम मजिस्ट्रेटी का काम व दीवानी का काम व वकालत का काम आला अफ़सरी सान का काम गोदाम का काम शिल्पकारी का काम चिकित्सिक अध्यापिका पाचिक आदि के काम करने वाली एक स्त्रीही होती है और जितने बच्चों के संस्कारादि यदि स्त्रियां नहीं तो मैं समझता हूं कि मनुष्यों को स्मरण

भी न आये चाहे वो अवैदिक रीति से क्यों न करती हों तथापि उनकी श्रद्धा आप देखें कि उसओर उनको कितनी श्रद्धा है जाति कर्म से लेकर अन्त्येष्टि पर्य्यन्त १६ संस्कारों का मनुष्यों ने तो लोपही कर दिया अगर कुछ अंकुर बाकी रक्खा तो स्त्रियों ने छटी पसनी मुन्डन अन्नप्राशन यज्ञोपवीत व्याह आदि संस्कारों के लिये स्त्रियां पुरुषों को लगातीं जाओ छठी पूछ आओ पसनी पूछ आओ मुन्डन पूछ आओ अनेक पूछ आओ और इस संस्कार में अमुक अमुक पदार्थ चाहना पड़ेगा लादो जब भी पुरुष टालबाज़ी करते तथापि स्त्रियां दुबारा तिबारा कहती गईं जबतक पुरुष करते नहीं तब तक पीछा नहीं छोड़तीं शैतान बन पीछे चिपटती हैं

ओ हो! इन माताओं को देखो कि वैदिक कर्म कार्ण्ड लोप होते हुए ये कट्टर पना ये श्रद्धा ये उत्साह कि फिरभी संसार में अंकुर रखना धन्य हो तुम्ही ने देश को रक्षा कीथी और कर रही हो और करोगी तुम्ही से कृष्ण राम विश्वामित्र पाणिनि व्यास आदि ऋषि उत्पन्न हुए दयानन्द लेखराम गुरुदत्त सरीखे तुम्ही से हुए और अबभी तुम्ही देश को उद्धार करोगी जब तक तुम न कमर कसोगी बच्चों व पुत्रियों को विद्या न पढ़ाओ-गी भारत का सुधार होना असम्भव है इसलिये स्त्री की पूजा बतलाई गई थी ऐसी मूर्तिमती साक्षात् देवी स्वरूप को पीछा छोड़ जो मनुष्य पत्थर में सिर मारते घंटा हलाते उनके लिये घंटा नहीं तो और है ही क्या फिर भी मुझे शोक से कहना पड़ता है कि जब व्याह समय में स्त्री पुरुष दोनो इस-प्रकार के वृत करते कि मैं तेरे सिवा दूसरे को न समझूंगा और तेरेही आज्ञा ओं का पालन करूंगा और तेरेही पूजा करूंगा जब एक दूसरे प्रति ऐसे २ इकरार होते फिर मुझे शोक से कहना पड़ता कि इसतरह की देवियों की पूजा संसार से उठ गई और प्रतिमा पूजन की धूम उड़ रही याद रहे कि इन देवियों की पूजा छोड़ प्रतिमा पूजने से मनुष्य कभी कल्याण का भागी नहीं बनसक्ता इसलिये यदि कल्याण की आशा आजभी कुछ आप लोग रखते हो स्त्री वृत बनो अत्रि याज्ञवल्क आदि को देखो कि कैसे २ स्त्री के वृती हुए और स्त्रियों को योग्य है कि पति वृत धारण करें जैसे कि सीता मैत्रेयि गार्गेय विद्योत्तमा आदि स्त्रियों ने पति वृत धर्म को पाला था अब इस के आगे आप को यह भी दिखलाया जायगा कि अतिथि मान क्यों और अतिथि पूज्य किस लिये क्या उपकार हमारे साथ अतिथि करता है

प्यारे बंधु वर्गो हमें विचार करना चाहिये कि जिस अतिथि के लिये वेद स्मृतियों में बड़े ज़ोर शोर से आज्ञा अतिथि पूजाकी की है और विशेष तथा तैत्तिरीय उपनिषद् में इसकी विधि आई है (कि) (अतिथि देवो भव) यह भी एक देवता है कि जिसके सत्कार के लिये विधि वत आज्ञा दीगई है वास्तिविक में हम नहीं जानते कि यह अतिथिदेव की ऐसी प्रशंसा क्यों रक्खी गई (सोचो कि प्रथम तो अतिथि शब्द का अर्थही स्पष्ट रूप से बतला रहा है कि अतिथि उसे कहते कि जो जितेन्द्रियं विद्वान धर्म्मात्मा पक्ष पातर हित न्याय द्रष्टी से देखने वाला परोपकार ही जिस का उद्देश हो अर्थात् मनुष्य मात्र का उपकार चाहने वाला आप्तहो उसी को अतिथि कहते हैं अतिथि का काम असल में ये है कि जो कुछ विद्या हमने वृह्मचर्य्य अवस्थामें पढ़ रक्खी है और जहां तक हम कर्म्म कान्ड आदि की विधी जानते हैं वहां तक तो करते ही नहीं नहीं जान ते वहां कौन बतलाये क्यों कि मनुष्य तो अल्पज्ञ ही है कुछ सर्वज्ञ तो हो नहीं जाता जो हम यह कह सकें कि मनुष्य गुरुही के पास सब जानलेता कुछ जानने को बाकी ही नहीं रहता या प्रायः ऐसा भी देखा गया है और हुआ है और होवेगा कि ग्रह धन्धा में मनुष्य को फसते हुये विद्या तो बिस्मरण होही जाती बल्कि हमारे पीछे ग्रहस्था के जाल ऐसे २ पड़ते कि जिससे हमें विद्या तो एकतरफ़ रही बल्कि ईश्वर कोभी भूल गये और संसारिक व्यवहारों में पड़ कर नास्तिकता की कोटि में आ गिरते इस लिये अतिथियों का ये कर्म है कि वे हमारे यहां जाकर विस्मरण हुई विद्या या अब जोकि हमें बहुतसी बातें नहीं मालूम हैं बतलायें लोग शंका करसक्ते हैं कि जो बातें न मालूम हों या जो समझा हुई बातें हैं हम एक दफ़े पूछले हमें बार बार की अतिथी की क्या आवश्यक्यता और क्यों बार बार अतिथी आयें तथा विचार रहे कि संपूर्ण मनुष्यों के आत्मा एक से नहीं हुआ करते किसी की तीक्षण बुद्धि होती किसी की स्थूल बुद्धि होती किसी का आत्मा प्रकाश वान होता किसी का मलिन होता प्रायः संसार में भी देखा जाता है कि कल्पना करो एक आचार्य्य के पास दोशिष्य हैं उनमें से एक शिष्य तो ऐसा है कि जो आचार्य्य एक दफ़े समझादें समझ लेता है और दूसरा बार २ समझाने से नहीं समझता तो उसके लिये महात्मा कपिल मुनी जी बतलाते हैं॥

कि यदि एक आध दफ़े हमने उस अतिथि का उपदेश सुना और न आवे हम न समझे हों तो आवृत्ति करो अर्थात् फिर उपदेश सुनो देखो कि जिसे श्रोत्र चतुष्टय कहते अर्थात् जिस बात को सुनो प्रथम तो चित्त की संपूर्ण वृत्तियां एकाग्र करके ध्यानावस्थित हो कर अतिथि के उपदेश को श्रवण करना चाहि पुनः उसका एकान्तदेश में विचार करना किआ या जैसा हमने सुना था वैसा ही हमें याद है या नहीं यदि नहीं तो पूछना यदियाद है तो उसका अब आशय सोचना और फिर उसे अपने अमल में लाना तभी मनुष्य को कुछ अतिथि आदि से लाभ हो सक्ता है अन्यथा यदि उनके कहने की तरफ़ ध्यान है कि यों धीरे २ कहते या ये ज़ोर ज़ोर कहते या ये अच्छा कहते यो बुरा कहते तो कुछभी फल प्राप्त नहीं हो सक्ता इसलिये हमको उचित है कि हम अतिथि कथन को सुनकर वैसेही आचरण करें तभी मनुष्य का कल्याण हो सक्ता एक अतिथि ही ऐसा न्यायी और पक्षपात रहित होता है कि हमारे जितने भी दोष हैं उनका छुड़ाने वाला या उससे बचाने वाला सिवा इसके और कौन होसक्ता है यदि अतिथि देश में पर्य्यटन न करें तो सांसारिक मनुष्यों का कुरीतियां और अनुचित व्यवहारों का इतना प्रबल बढ़ जाये कि जिसका अंतही न रहे जैसे कि वर्तमान समय में आप राज्य का प्रबंध देखरहे हो ठीक यही अवश्य धर्म्म भाव में सांसारिक मनुष्यों में चाहिये जैसेकि राज्य में आज एक गांवमें एक पटवारी उन्ही के ऊपर दसग्रामों पर एक थाना उन्ही ५ ग्रामों के ऊपर तहसील उन्ही दस तहसीलों पर ज़िला नियत किया है ठीक इसीतरह संपूर्ण अन्त्यजों के ऊपर और शूद्रों के ऊपर वैश्य और वैश्यों के ऊपर क्षत्रिय और क्षत्रियों केऊपर ब्राह्मण वैसेही ब्राह्मणों के ऊपर सन्यासी होवे जो चारों वेदों को यथावत् जानता हो पक्ष पाती हटी दुराग्रही आदि नहो किन्तु न्याय दृष्टि से देखने वाला मनुष्य मात्र का उपकार चाहने वाला उन्ही के आधीन ब्राह्मणादिक रहे बल्कि जिसतरह स्वतंत्रराज्य शीघ्रही नष्ट भ्रष्ट होजाता है इसलिये राजा को सभाओं के आधीन रहता है इसी तरह वर्णों का हाल हुआ है और होगा जबसे वेद वेत्ता सन्यासी लोगों ने भ्रमण करना छोड़दिया नहीं २ बल्कि रहे ही नहीं तभी से इसदेश की वर्णाश्रम मर्याद नष्ट होगई न ब्राह्मण ब्राह्मण रहे न क्षत्री क्षत्री रहे न वैश्य वैश्य रहे न शूद्र शूद्र रहे—अगर हम थोड़ी देरी के लिये अपने हृदय

से बिचार करें और न्याय रूपी कपाट खोलदें और वो वेदों की गुण कर्म्मानुसार वर्ण व्यवस्था सामनेरखते हुये और जांच शुरूकरें तो मुझे दावेकेसाथ कहना पड़ता है कि देशके अन्दर ब्राह्मण ही नहीं जिससमय हम इस स्मृति के श्लोक को सामने लेते एकभी तो मुझे नहीं दिखलाई देता कि (स्वाध्यायेन्त व्रतैर्हो) क्या इस के अनुकूल हमें एक भी मनुष्य मिलता है या अहिंसा सत्य आदि व्रत है बतलाओ कि मौजूदा ज़माने में किस संस्कृतज्ञ या कि अंगरेज़ी दां या फारसी दां ने इस व्रत को पकड़ा भाई सिर्फ बकने मात्र से कुछ नहीं होता बलिक संसार के अंदर कुछ कर के दिखलाओ आज देशसे कर्म्मों का लोप हो गया मगर वही कि–पर उपदेश कुशल बहुतेरे–जेआचरहिंते नर न घनेरे या यूं कहिये कहता तो बहुतेरे मिले गहता मिला न कोई यही दशा क्षत्रियों की हो रही कि अब मौजूदा ज़माने के सिर्फ मोर कबूतर खरहा स्यारों और बकरों पर अपनी वीरता दिखलाते हैं ब्राह्मण भक्ति के अंकुर इनेक हृदय से बिलकुल निकलगया यज्ञादि कर्म और विद्या का भी लोप करदिया बलिक जिन हाथों से ये यज्ञादि कर्म करतेथे आज उन्हीं हाथों से तुर्किनियों के सबतन मलते हाये राम चंद्र सूर्य्य वंस चंद्र वंस है रघु वंस है महात्मा राम कहता है (जिन के ललहि नारिपुरण पीठी) नाहिं लावहि पर तियमन डीठी आज वेदशक्षत्रियों की हो गई इसी से तीन और बाकी जोबर्ण हैं मारे २ फिरते देखो शरीर का रक्षाकरने वाला बाहु अब लकवा या पक्षाघात से मारा जाता तो बताये कि आंख में दर्द होता रक्षा कौन करे जंघा में फोड़ा हुआ पट्टी कौन बांधे पैर में कांटा लगा कहो अब लकवा वाले हाथ की तो टुकीही नहीं काम देतीं कांटा कौन निकाले कहो मित्रो जबक्षत्री मारे गये पक्षाघात आंखरूपी ब्राह्मण का दर्द कौन रफा करे जंघा रूपी फोड़ा रूपी वैश्य में कौन पट्टी बांधे अथखिरक्षा करे पैर रूपी शूद्र का कांटा कौन निकाले जिसतरह किसी घर के स्वामी के मरजाने से उस की स्त्री वेवा के सारे सामान मारे फिरते मसलन्ती देश में प्रचलित है कि क्या रांड़का गांव है ठीक यही मिसाल घटि हो ती है वैश्यों में भी पशुरक्षण अध्ययन यज्ञादि कर्म तो जातेहीरहे परन्तु वणि कप ये माद्दा इनमें अभी बाकी है तथापि इसका भी यों रूपान्तर यूं हो गया है कि जहां सचाई के साथ इन का लेनादेना हुआ करता था इसी लिये येशाह कहाते थे अब तो बीचबाजार में बैठे हुये लूटें औरशाह कहावें १ पैसेकी

आप चीज़ लेने जावें थैलीही को हाथ लगावें इस लिये जैसे हमारे ब्राह्मण भाइयों की पंडिताई रहतेहुई पोपलीला की वजह से और उनकी पंडिताई नहीं ठीक इसी प्रकार वैश्यों में पणिकपन्थ रहते हुये ठगी के होते हुये इनका वणिक पथ वणिकपथ सूद्रों की तो कथा ही क्या बल्कि सेवा तीनो वर्णों की करना फर्ज़था इन्होने ऐसी सेवा छोड़ी कि आज कल आप किसी बस्ती में जाइये प्रत्यक्ष परीक्षा लेलीजिये ब्राह्मण एक एक कौड़ी के तीन २ मारे फिरते बाद क्षत्री वैश्य इनसे कुछ तेज़ है फिर सूद्र तो ठीक कस्तूरी हो रहे हैं जिस तरह मुझे अग्नि होत्र के लिये कस्तूरी नहीं मिलती ठीक वैतो आधिक्यता से सूद्रो कीयही दशा है अभी प्रत्यक्ष में एक सच्चा दृष्टान्त मौजूद है जोकि मैं समझता हूं सृष्टों की पुष्टि के लिये काफ़ी होगा (ता० ११ मार्च सन् १९०३ का जिकर है कि जिस ग्राम शिवली में मैं रहता हूं वहां से ८ मील स्टेशन बराज पुर है मैं स्टेशन बराज पुर आकर उतरा मेरे पास असबाब बहुत ज्यादा था मैंने बराज पुर शिवराज पूर दोनोपूमें तथापि मुझे कोई असबाब लानेवाला आदमी न मिला बल्कि मैं ८ मील के लिये ।।) आना सिर्फ आदमी २ के देते रहा परन्तु मुझे कोई शूद्र न मिला अंत में मुझे ही कष्ट उठाना पड़ा (हा आज कहां सिराये (अध्यायन मध्यमं) कहां लोप होगये (प्रजानांरक्षणं) आज इसकी जगह क्षत्रियों ने उलटा ग्रहण करलिया (कि प्रजानां भक्षणं) आज हेराय गये पशूनां रक्षणं (और एक मेव सूद्रस्य) का तो पताही चारो वर्णों के कर्म्मों का लोप हो वर्णाश्रमर्य्यादा नष्ट भ्रष्ट हो गई इस का कारण यही है कि जब वेदवेत्ता सन्यासी व ब्राह्मण न रहे और जो शायद कही बाकी है तो इन वर्णों वही अपनी और श्रद्धा देख भ्रमण ही नहीं करते जबसे इनरसेड़िये सन्यासियों ने भ्रमण करना प्रारम्भकिया और पोपजी अतिथि बने नष्ट होगया आर्य्यावर्त परन्तु सज्जन गण एकब्राह्मण सच्चा सन्यासी भारत जननी का हित करने वाला इस अतिथि पूजा का अभाव देखकर और संसार की ये दशा देखकर निकलता है कमर बांध कर देश देश और गांव गांव घूम घूम कर सिंहवत वेदनाद करता हुआ सच्चा अतिथि बन संसार की काया पलटादी जोकि आज देखपड़ता है कि एक अतिथि ने दुनियां के अंदर कितना काम किया और यहभी प्रत्यक्ष कर दिया कि ऐसा उपकार अतिथि किया करते हैं ये काम है अतिथियों का इसके अतिरिक्त येभी परिचय दिया कि संसार के सुधार का मूल कारण अतिथि है यह तो आपभली प्रकार जानते ही होंगे कि संसार केयेचार विषय

कि जिनका नाम—काम—क्रोध—लोभ—मोह है सुनाते तो ये मनुष्य मात्र को परन्तु प्रायः ये देखा गया है कि ये विशेषता से ग्रस्थही के ऊपर हमला किया करते इनचार के हमले इतने कठिन होते कि इनके मुकाबले में बड़े २ ऋषिमुनि त्यागी बृह्मचारी लोग अपने अपने अस्त्रों को रखदेते और अंत में आना पड़ता है फिर ग्रहस्त बिचारे किस गिनती में फिर यहीतो नहीं किइन ग्रस्त बिचारों के सिर्फ—काम—क्रोध—लोभ—मोह यही शत्रु हों बल्कि अनेक राखेड़िया गेरूआ बस्त्र धारण किये ओपड़े वोपड़े भैरव हनूमान काली भुय्यां भवानी मसानी आदि घेरे रहती हैं यदि अतिथि देवजी न कृपा करें तो ये सब ग्रहस्तों का नाक में दम करदें तथापि जहां सूर्य्यवत अतिथि पहुंचा तहां जुगनू रूप ये सब इधर उधर चलदेते हैं फिर इनकी नहीं चलती और एक भी इनका बहुरूपिया पाखंड नहीं चलता इसलिये पुरुषो अतिथियों के आने से आपलोगों के ये संपूर्ण विघ्न हटसकते हैं इसकारण (अतिथिदेवभव) और अतिथि पूजा बतलाया गया है जिसके यहां वेदका जानने वाला संपूर्ण तत्वों का जानने हारा अतिथि आये और उसका विधिवत सत्कार न हों तो उस लिये कठ उपनिषद् में मृत्युः नाम आचार्य्य की स्त्री जिस समय नचिकेता गया और तीन दिन पड़ा रहा और मृत्युः नहीं आया जिस समय तीसरे रोज़ आया तोउसकी स्त्री कहती है ॥ कि आप के घर में अग्नि के समान कान्तियुक्त ब्रह्मतेज धारी अतिथि सत्कारकरने के योग्य अभ्यागत ब्राह्मण विद्यातपसेयुक्त ब्राह्मण बंश में उत्पन्न ब्रह्मचारी मनुष्य आया हुआ है उसउक्त प्रकार के अभ्यागत कीहैंमो त्मासज्जन सत्कार पूर्वक इस की शान्ति को करते हैं इसे लिये आप उदेश आदि लाकर सत्कार की सामिग्री को प्राप्त कीजिये अर्थात् जल आदि से नचकेता कीपूजाकीजिये धर्म शास्त्र मनुस्मृति में भी कहा है कि आपने स्थान जल और अपवाणी बोलना ये सत्कार की सामग्री अभ्यागत के लिये खेद सज्जनों के घरमें उपस्थ तरह तरह इसबचन से अतिथि पूजा सिद्धिहोती है जिस के प्रमाण के लिये निम्न मंत्र उपस्थित है

वैश्वानरः प्रविशत्य ति थि ब्रह्मणों गृहान् । तस्यैता कि शान्तिं कुर्वन्ति ॥

इस अर्थ उपरोक्त लिखे प्रमाणो मेरे आप लोग जान सके पुनः भनचके ता भी आगे चल के इसी पुस्तक में कहता है कि भो नचिकेता तुम तीन दिन बिना अन्नजल के पड़े रहे हैं इस लिये तीन वर मांगलो नहीं तो में ऋणी रहूंगा इसलिये मुझेउऋण करलो साबितहुआ कि अतिथि को सत्कार न करने

वाला सुखी भी रहता है जिस की पूजा वेंद शास्त्र उपनिषदों में इतने ज़ोर ज़ोरसे आज्ञादी गई है मुझे शोक से कहना पड़ता है कि ऐसे देव की पूजा छोड़ कर पत्थरों में सिर टकराना और घंटा हिलाना संख बजाने आदि से क्या कुछ फल मनुष्य प्राप्त कर सक्ता है हां घंटा ही चाहे प्राप्त करलें इसलिये सज्जनो यदि सुख के भागी बनना चाहते हो तो वैदिकरीत्या नुसार अतिथि पूजा करो अब अंतिम वक्तव्य आप लोगों की सेवा में यह है किजो मैं ने इस पुस्तक में पंचायतन अतिथि पंचदेव पूजा लिखी है यही सब पूजा वेदों में बतलाई गई है इनके अतिरिक्त पाषाण पूजा इत्यादि का निषेध किया है

अंधन्तमः प्रविशंतियो सम्भूतिमुपासते–ततोभूयइवतेतमोयाउसम्भूत्यांरता

अर्थ—जो मनुष्य असम्भूति अर्थात् अनुत्पन्न अनादि प्रकृति कारण का ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं वे अंधकार अर्थात् अज्ञान और दुख सागर में डूबते हैं और सम्भूति जो कारण से उत्पन्न कार्य्यरूप पृथ्वी आदि भूत पाषाण और वृक्षादि अवयव और मनुष्यादि की उपासना ब्रह्मके स्थान में करते हैं वे उस अन्धकारसे भी अधिक अन्धकार अर्थात् महा मूर्ख चिरकाल घोर दुखरूप नरक में गिरके महा क्लेश भोगते हैं—इस लिये साबितहुवा कि जड़ आदि मूर्तियों की पूजा से मनुष्यों को किसी प्रकार का लाभ नहीं होसक्ता बल्कि हानी ही होती है और यह भी पञ्चदेव पूजा नहीं है कि लोग कहा करते हैं कि—सदा भवानी दाहिनी, सनमुख रहैं गंनेश। पांचदेव रक्षा करैं ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ॥ वास्तविक में यह पञ्चदेव पूजा नहीं है मित्रो वेद व शास्त्रविहित पञ्चदेव यही हैं जोकि मैंने आप के समक्ष में प्रगट कीजये आशा है कि आपलोग पुस्तक को पढ़कर जो कुछ इससे लाभ उठावें सो थोड़ा है और जो कुछ अशुद्धियां हों कृपाकर पत्रद्वारा सूचना दीजियेगा ॥ * * * *

ओ३म्

आयुर्विचार

अर्थात्

वेदादि सत्यशास्त्रों तथा अन्य ग्रन्थादिकों से

पूर्ण आयु होने और अल्पायु से बचने का

विधान

जिस को

भारतसन्ताम के उपकार के लिये

चिम्मनलाल वैश्य

कासगञ्जनिवासी ने रच कर

स्वामियन्त्रालय-मेरठ में

पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से मुद्रित कराया

इस की रजिस्टरी ऐक्ट २५ सन् १८६७ के अनुसार कराई गई है ॥

Registered Under act XXV of 1867

प्रथमावृत्ति १००० पुस्तक | १५ दिसम्बर १९०० | मूल्य ≡)

ओ३म्

समिद्धोऽअग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः ।
गायत्री छन्द इन्द्रियं त्र्यविर्गौर्वयो दधुः ॥ य० २१ । १२

विद्वान् लोग विद्या से सब पुरुषों की आत्माओं को प्रकाशित और सब को जितेन्द्रिय करके दीर्घायु वाले करें ॥

निवेदन

मान्यवरो ! वर्त्तमान समय में बहुधा जन ऐसा मानने लगे हैं कि आयु को जन्म समय ही परमेश्वर नियत कर देते हैं। कोई कर्म, युक्ति वा उपाय उस को घटा बढ़ा नहीं सकता । जो सर्वथा बुद्धिविरुद्ध और शास्त्र के अतिरिक्त है कि जिस से प्रत्येक जन और देश को बहुत हानियां पहुंच रही हैं । आशा है कि सब सज्जन इस को ध्यानपूर्वक पाठ कर, परमेश्वर की आयुःसम्बन्धी आज्ञाओं पर चल कर भारतसन्तान का उद्धार करेंगे । इस का उर्दू भाषानुवाद भी मुद्रित हो रहा है । कोई महाशय छपवाने का साहस न करें । अन्यथा हानि होगी ॥ हमारे पुस्तकों पर मुहर देखलें, नहीं तो चोरी की जानें ॥

देश का हितैषी—
चिम्मनलाल वैश्य
तिलहर

ओ३म्

आयुर्विचार

जिस प्रकार कुम्भकार के डंडे से चाक बार २ घूमता है, इसी प्रकार मनुष्य भी कर्मबन्धन में पड़ कर बार २ इस संसार में आता जाता है, इस बन्धन से छूटना ही मनुष्यजीवन का मुख्य उद्देश्य है, उसी को मोक्ष कहते हैं, जो कर्म और ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है ॥

कर्म और ज्ञान के प्राप्त करने के लिये अधिकांश में आयु और साधारणांश में और अनेक सामग्री की आवश्यकता होती है, क्योंकि यदि और सब सामान एकत्र भी हों पर आयु अर्थात् शरीर और जीव का संबन्ध न होवे, न कोई पठन पाठन कर सका है, न यज्ञादि शुभ कर्मों में लग सकता है, न ब्राह्मणों की सेवा में उपस्थित हो सकता है, न सत्संग का आनन्द पासक्ता है, न ब्रह्मचर्य्यव्रत को धारण कर सकता है और न अन्य मनुष्यों पर दयाभाव रख सकता है ॥

इस लिये मनुष्यों को दीर्घायु करना अति आवश्यक है कि जिस से वह पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर, कर्मों को करते हुए, परमात्मा के स्वरूप का दर्शन कर, अद्वितीय आनन्द को भोगें ॥

बहुधा मनुष्य जब कि उन को उन के पूर्व कुकर्मों का दुःखरूप फल मिलता है तो उस समय वह सुख पाने के अर्थ मृत्यु के अभिलाषी हो, अनेक अनुचित कर्मों को करते हैं, जैसे कोई गला काटता है, कोई कुए में गिरता और कोई फांसी लगाता है इत्यादि ॥

न यह सब उन के मिथ्या अभिलाष हैं। इन कर्मों से कदापि सुख नहीं

और भी दुःख के भागी होते हैं, क्योंकि जीव कर्मों का कर्ता

ल देने वाला है अर्थात् जोकुछ शुभ वा अशुभ कर्म जीव कर-

फल परमेश्वर अवश्य किसी न किसी दशा व अवस्था में

जो मनुष्य अनुचित कर्मों द्वारा आयु का विध्वंस करते हैं

कर्मों का और भार लेकर इस संसार में उत्पन्न होते हैं।

न जन्म कष्ट सहन करते २ व्यतीत हो जाते हैं, सुख के

॥

संसार में सुख का अभिलाष रखने पर भी सम्पूर्ण जन सुखी प्रतीत नहीं होते। इस से जान पड़ता है कि अभिलाष ही सुख का कारण नहीं। इस लिये जैसा हमारा अभिलाष हो वैसाही हम को दृढ़तापूर्वक अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करते हुए, दीर्घायु का उपाय करना चाहिये, तभी आनन्द मिल सकता है, अन्यथा नहीं ॥

परन्तु शोक कि जब से इस पवित्र भूमि भारतवर्ष से वेद और शास्त्रों की शिक्षा उठ गई, अन्य देशों की विद्या ने आ अपना डेरा किया और मनुष्यों को सन्मार्ग से, कि जिस से सर्व प्रकार के आनन्द मिलने संभव हैं, हटा कर सांसारिक वस्तुओं की ओर लिप्त कर दिया कि जो केवल देखने से अति शोभायमान जान पड़ती हैं परन्तु प्राप्त होते ही मनुष्य का नाश कर देती हैं। तब से मनुष्यों के सिद्धान्तों में भी अति अन्तर पड़ गया। जिन को हमारे महर्षि केवल उद्योग द्वारा शास्त्रानुकूल चल कर प्राप्त करते थे, आज उन की सन्तानें साहसहीन हो कर हाथ पर हाथ रक्खे बैठी हैं क्योंकि उन्हों ने मान लिया है कि जो कुछ मनुष्य को सुख वा दुःख इस संसार में उठाने होंगे वह सब विधाता जन्मसमय ही उस के कपाल में लिख देते हैं। उस को न्यूनाधिक करने का किसी का सामर्थ्य नहीं और कहते हैं कि:—

हुइ है वही जो राम रच राखा। को करि तर्क बढ़ावे शाखा॥

कि जिस से उन को उद्योग के आनन्द प्राप्त नहीं होते और नाना प्रकार के कष्ट उठाते रहते हैं ॥

ऐसा ही हमारे भाइयों ने आयुर्विषय में भी कल्पना कर ली है कि वह भी ईश्वर ने नियत करदी है। किसी प्रकार से न्यूनाधिक नहीं हो सकती।

नहीं, नहीं, मान्यवरो! इस संसार को परमात्मा ने अपने सा॰
प्रकृतिद्वारा रचा है। वह जन कि जिन्हों ने शास्त्रों के गूढ़ आश
चार नहीं किया, सत्सङ्ग का आनन्द नहीं उठाया, परमात्मा व
उस के अभिप्राय वा नियमों को नहीं जाना, तत्काल होते
अपनी स्थूल दृष्टि से देख, अपने को अति बुद्धिमान् मान
जान कर शङ्काएँ उत्पन्न करते हैं कि इस संसार को बन
नहीं रक्खा गया। अनियमानुसार तितर बितर बना
युक्त नहीं है कि परमेश्वर इस संसार में विष उत्पन्न कर
ही मनुष्य मृत्युवश हो जाते हैं और कंटीले पेड़ बना

भी उसी उत्तमता से उत्पन्न होने लगी, जैसी उत्तमता से इंगलैंड में उत्पन्न होते हैं क्योंकि बहुत चमकते हुए शीशे में यह ईश्वरीय नियम है कि वह सूर्य की किरणों को जो उस पर पड़ती हैं, अधिकतर लौटा देता है और बहुत कम खींच कर उन पौधों को पहुंचाता है । वे शीशे भी इसी योग्यता के बनाये जाते हैं कि वह उतनी ही गर्मी खींच सकें जितनी कि उन पौधों के लिए आवश्यकता है। ऐसे गृह को "ग्रीन हाउस" कहते हैं। और भारतवर्ष में बहुधा स्थानों पर बनाये गये हैं । इस विषय में पदार्थ विद्या के जानने वालों ने निम्नलिखित नियमों को जान कर कार्य किया:—

(१)—कि उन पौधों को जो केवल शीतदेश में उत्पन्न होते हैं, कितनी गर्मी की आवश्यकता होती है ॥

(२)—जिस देश में हम उन को लगाना चाहते हैं, वहां गर्मी की क्या दशा है॥

(३)—वह कौन से पदार्थ हैं कि जिन को हम काम में लावें, तो हमारा कार्य्य सिद्ध होवे ॥

इसी प्रकार उष्णदेश की वस्तुएं, शीत देश में भी बहुत गर्मी पहुंचा कर उत्पन्न हो सकती हैं। वर्तमान समय में इङ्गलैंड में इसी प्रकार से वस्तुएं उत्पन्न की जाती हैं, जो पूर्व काल में केवल उष्ण देशों में उत्पन्न होती थीं। यह नियम अति उपयोगी है । इस लिये वेदों में अनेक स्थानों पर पदार्थविद्या के सीखने का उपदेश किया गया है ॥

ऋग्वेद अ० २ अ० ८ व० १३ मं० १ में कहा है कि:—

सोमस्य मा तवसं वक्ष्यग्ने वह्निं चकर्थ विदथे यजध्यै ।
देवाँ अच्छा दीद्यद्युञ्जे अद्रिं शमाये अग्ने तन्वं जुषस्व ॥

पदार्थ विद्या को जान सब कार्यों को सिद्ध करो ॥

और ऋग्वेद मं० ३ अ० २ सू० १४ मं० १ में कहा है—

आ होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः स वेधाः ।
विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत् ॥

अर्थ—जो मनुष्य पदार्थविद्या से कुशल होकर हाथ की कारीगरी से यन्त्र कला सिद्ध करके बिजली के चलाने योग्य वाहनों को रचें, तब ही अत्यन्त सुख मिल सकता है ॥

ऋषियों ने भी इन का अपने अत्यन्त परिश्रम, उद्योग और विद्या द्वारा जान, अपनी सन्तानों के हितार्थ शास्त्रों में वर्णन कर दिया है। तारागण ईश्वरीय नियमानुसार चलते और अपने स्थानों को बदलते रहते हैं। इन के जानने से जहाजरानों को अतिलाभ होता है। इन का वर्णन ज्योतिष् शास्त्रों में किया है। पदार्थों को उत्तम आरोग्यदायक उत्पन्न करने की विधि और उन के बोने आदि के समय और नियम कृषिशास्त्र में लिखे हैं। पदार्थों में भिन्न २ गुण हैं। कौन पदार्थ किस कार्य्य के योग्य हो सक्ता है, मनुष्य को थोड़े व्यय में अधिक सुख किस प्रकार मिल सकता है, इन का वर्णन पदार्थविद्या में किया गया है। जब तक मनुष्य इन नियमों के अनुसार कार्य करते रहते हैं, उन के कार्य पूर्ण हो, सुखकारी होते हैं और जब वह इन के विरुद्ध कार्य करते हैं, तब दुःख उठाते हैं। जैसे कि अग्नि में जलाने का गुण है। यदि कोई इस ईश्वरीय नियम को न जान कर उस पर किसी वस्तु को रख दे तो वह अवश्यमेव जल जावेगी और उस को दुःख होगा। जो इस को जानते हैं वे अपनी वस्तुओं को उस से रक्षा कर, सुख उठाते हैं॥

इसी प्रकार अनेक उपायों से हम प्रत्येक वस्तु को दृढ़ कर बहुत काल तक कार्य्य में ला सक्ते हैं और यदि उन पर ध्यान न दें तो शीघ्र ही उस को नष्ट कर सक्ते हैं॥

ईश्वरीय नियम है कि काष्ठ पानी में पड़े रहने से सड़ जाता है। यदि कोई मनुष्य उस को पानी में पड़ा रहने दे तो वह अवश्यमेव थोड़े ही काल में सड़ कर बेकार होजावेगा और जो बुद्धिमान् इस नियम को जानते हैं वह पानी से उस की रक्षा कर और भी नाना प्रकार की औषधियां जैसे तैलादि उस पर लगाते रहते हैं कि जिस से वह दृढ़ बनी रहती है॥

यही सिद्धान्त आयुर्विषय में भी घट सक्ता है अर्थात् प्रत्येक मनुष्य की आयु नियत नहीं है। यदि हम नियमानुसार कार्य्य करें तो कभी शीघ्र मृत्यु नहीं आ सक्ती और यदि उन नियमों पर ध्यान न देवें तो शीघ्र ही आजाती है। जैसे य० अ० ८८ मं० २ में कहा है कि:—

इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य पूर्वऽआयुषि विदथेषु कव्या।
सा नोऽअस्मिन्त्सुतऽआबभूव ऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती॥

अर्थ—जैसे डोर से बंधे हुए प्राणी इधर उधर नहीं भाग सकते, वैसे ही युक्ति से धारण की हुई आयु ठीक समय के बिना नष्ट नहीं हो सकती अर्थात् कदापि १०० वर्ष से प्रथम मरण नहीं होता ॥

इस के अतिरिक्त अग्निवेश ने महर्षि आत्रेय से प्रश्न किया है कि आयु का प्रमाण नियत है वा नहीं ? जैसा कि—

किन्नु खलु भगवन् ! नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं न वेति ?

चरक विमानस्थान अ० ३

तब भगवान् आत्रेय बोले कि हे अग्निवेश संसार में प्राणियों की आयु युक्ति की अपेक्षा रखती है, अर्थात् शारीरिक और आत्मिक उत्तम आचरणों के करने से आयु बढ़ सकती है और विपरीत दशा में अल्पायु होती है । जैसा कि:—

भगवानुवाच—इहाग्निवेश ! भूतानामायुर्युक्तिमपेक्षते ॥

इस के अतिरिक्त विमानस्थान अ० ३ में यह भी कहा है—

यदि हि नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यादायुष्कामानां न मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियमप्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्ययनप्रणिपातगमनाद्याः क्रिया इष्टयश्च प्रयोज्येरन् । नोद्भ्रान्तचण्डचपलगोगजोष्ट्रखरतुरगमहिषादयः पवनादयश्च दुष्टाः परिहार्याः स्युः । न प्रपातगिरिविषमदुर्गाम्बुवेगाः । तथा न प्रमत्तोन्मत्तोद्भ्रान्तचण्डचपलमोहलोभाकुलमतयो नारयो न प्रवृद्धोऽग्निर्न च विविधविषाश्रयाः सरीसृपोरगादयः । न साहसं न देशकालचर्या । न नरेन्द्रप्रकोप इत्येवमादयो भावानां भावकराः स्युरायुषः सर्वस्य नियतकालप्रमाणत्वात् ॥

न चानभ्यस्ताकालमरणभयनिवारकाणामकालमरणभयमागच्छेत् प्राणिनाम् । व्यर्थाश्चारम्भकथाप्रयोगबुद्धयः स्युर्म-

हर्षीणां रसायनाधिकारे। नापीन्द्रो नियतायुषं शत्रुं वज्रेणाभिहन्यात्। नाश्विनावार्त्तं भेषजेनोपपादयेताम्। नर्षयो यथेष्टमायुस्तपसा प्राप्नुयुर्न च विदितवेदितव्या महर्षयः ससुरेशाः सम्यक् पश्येयुरुपदिशेयुराचरेयुर्वा ॥

अपि च सर्वचक्षुषामेतत्परं यदैन्द्रं चक्षुरिदं चास्माकं प्रत्यक्षं यथा पुरुषसहस्राणामुत्थायोत्थायाहवं कुर्वताम् अकुर्वतां चातुल्यायुष्ट्वं तथा जातमात्राणामऽप्रतिकारप्रतिकाराच्चाऽविषविषप्राशिनां चाप्यतुल्यायुष्ट्वं, न च तुल्यो योगक्षेम उदपानघटकानां चोत्सीदताम्। तस्माद्धितोपचारमूलं जीवनम्। अतोविपर्ययान्मृत्युरपि च देशकालात्मगुणविपरीतानां कर्म्मणामाहारविकाराणाञ्च क्रियोपयोगः ॥

आयु का प्रमाण नियत करना अनुचित है। यदि आयु के काल का प्रमाण नियत है तो दीर्घ जीवन प्राप्त करने की इच्छा करने वालों के लिये मन्त्र (विचार करना) औषधि मणि मङ्गल (उत्तम आचरण) बलिदान (अन्य प्राणियों को भोजन देना) उपहार (विद्वान् और पितरों को भेंट) होम, नियम–प्रायश्चित्त–उपवास (अजीर्णादि होने पर भोजन न करना)–स्वस्ति वाचन (परमेश्वर से प्रार्थना करना) नम्रता करना तथा अन्य इष्ट क्रियाओं का कुछ प्रयोजन नहीं। यदि आयु नियत ही है तो मत वाले तीक्ष्ण और चपल बैल हाथी, ऊंट, गधा, घोड़ा, भैंसा और दुष्ट पवनादि के त्यागने की कोई आवश्यकता नहीं है। पहाड़ों से गिरने, विषम चोटियों पर घूमने, जल के वेग में पड़ने से कुछ भय नहीं है। प्रमत्त, उन्मत्त, चपल तथा मोही, लोभी शत्रुसमूह, खूब जलती हुई अग्नि तथा अनेक प्रकार के विषैले सर्पादि से बचने की कोई आवश्यकता नहीं। साहस, देश, काल, आचार, राजकोपादि कर्म भी आयु को नष्ट नहीं कर सकते क्योंकि आयु का प्रमाण तो नियत है ही ॥

यदि अकाल मृत्यु से कोई न मरा करता तो किसी प्राणी को अकाल-मृत्यु मरण का भय न होता। रसायन प्रकरण में महर्षियों ने जो सम्पूर्ण

उपदेश दिये हैं वे भी वृथा ही थे। यदि आयु नियत ही होती, तो इन्द्र अपने शत्रु को वज्र से न मार सकता। अश्विनीकुमार को औषधियों से चिकित्सा करने की क्या आवश्यकता थी और ऋषियों को तप करने से यथेष्ट आयु भी न मिलती। सर्वज्ञाता महर्षिगण और देवाधिपति इन्द्र भी वैद्यक शास्त्र को न सम्यक् देखते न उपदेश देते, न आचरण करते। सर्वद्रष्टा ऋषिगण इन्द्र और हम अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखते हैं कि सहस्र मनुष्यों में जो युद्ध करता है और जो युद्ध नहीं करता उन की आयु तुल्य नहीं होती है। इसी तरह उत्पन्न होते ही उपाय करने और उपाय न करने से आयु असुल्य होती है, एवं विषभोजी और अविषभोजी मनुष्यों की आयु भी असमान होती है। जल पीने के घड़े और चित्रित घड़े की स्थिति भी समान नहीं होती है। इस लिये उत्तम २ आचरण करने और नियमानुसार चलने से आयु बढ़ती है और देशकालात्मविपरीत कर्म तथा आहार और कुनियमों पर चलने से अल्पायु होती है॥

अब इस स्थान पर यह (प्रश्न) उत्पन्न होता है कि यदि कोई मनुष्य आयुःसंबन्धी ईश्वरीय नियमों को जान, उन के अनुसार कार्य करे तो क्या वह सदा विद्यमान रह सकता है?

(उत्तर) नहीं नहीं, यह असम्भव है। यदि ऐसा होता तो संसार में बहुधा लाखों वर्ष के बने हुवे अति दृढ़ गृह हम को वैसे ही दृष्टि आते या वह पेड़ उपस्थित होते कि जिन को किसी ने नहीं काटा। धन्वन्तरिमहर्षि कि जिन्हों ने वैद्यक शास्त्र और श्रीकृष्ण महाराज कि जिन्हों ने योग को पूर्ण रूप से जाना था, उसी शरीर से उपस्थित होते परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। सृष्टिक्रम हम को बतलाता है कि प्रत्येक पदार्थ की शक्तियां प्रयत्न करने और नियमानुसार चलने से यथाक्रम बढ़ती हैं और फिर पूर्ण हो अत्यन्त प्रबल और उपाय करने पर भी यथाक्रम धीरे २ घटने लगती हैं और अन्त को वे नष्ट होजाती हैं। जैसा कि अग्निवेश के प्रश्न करने पर कि-

एवं सति अनियतकालप्रमाणायुषां भगवन् !
कथं कालमृत्युरकालमृत्युर्भवतीति॥

अर्थ—हे भगवन् ! जो आयु का प्रमाण नियत नहीं है तो काल और अकाल मृत्यु किस प्रकार होती है ?

आत्रेय ऋषि ने चरक विमानस्थान अध्याय ३ में कहा है कि:—

तमुवाच भगवानात्रेयः । श्रूयतामग्निवेश ! यथा यानसमायुक्तोऽक्षः प्रकृत्यैवाक्षगुणैरुपेतः सर्वगुणोपपन्नो वाह्यमानो. यथाकालं स्वप्रमाणक्षयादेवावसानं गच्छेत् । तथायुः शरीरोपगतं प्रकृत्या यथावदुपचर्य्यमाणं स्वप्रमाणक्षयादेव अवसानं गच्छति, स मृत्युः काले । यथा च स एवाक्षोऽतिभाराधिष्ठितत्वाद्विषमपथादपथादक्षचक्रभङ्गाद्वाह्यवाहकदोषादनिर्मोक्षात् पर्य्यसनादनुपाङ्गाच्चान्तरा व्यसनमापद्यते। तथायुरप्ययथाबलमारम्भादयथाग्न्यभ्यवहरणाद्विषमाभ्यवहरणाद्विषमशरीरन्यासादतिमैथुनादसत्संश्रयादुदीर्णवेगविनिग्रहादऽविधार्य वेगविधारणाद्भूतविषाग्न्युपतापादभिघातादाहारविवर्जनाच्चान्तराव्यसनमापद्यते। स मृत्युरकाले।

अर्थ यह है कि जैसे रथ में लगा हुवा धुरा उत्तम २ गुणों से सम्पन्न होने पर भी चलते२ घिस कर समयानुसार अन्त को प्राप्त होजाता है, इसी प्रकार आयु भी नियमानुसार चलने पर भी समय पर मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। इसी को कालमृत्यु कहते हैं। जैसे वही धुरा अत्यन्त बोझ लादने से, ऊंचे नीचे मार्ग में चलने से, अपथ में जाने, चक्रमण्डल के टूटने, हांकने वाले के दोष और अवयवों आदि के टूट जाने से कुसमय भङ्ग होजाता है । वैसे ही आयु भी बल से अधिक काम करने, जठराग्नि के बल से अधिक भोजन करने, विषम (प्रतिकूल) भोजन करने और विषम रीति से शरीर के धारण, अत्यन्त मैथुन और दुष्ट व्यवहार करने, उपस्थित वेगों के रोकने और अधारणीय वेगों के धारण करने, विष और अग्नि के बढ़ने, चोट लगने और सर्वथा भोजन न करने से जो विपत्ति आपड़ती है, उस को अकालमृत्यु कहते हैं ॥

इस लिये मान्यवरो ! आप को सदा अल्पायु से बचने का ध्यान रख

कर, दीर्घायु के अर्थ वेदोक्त उपाय करना अभीष्ट है ॥

देखिये यजुर्वेद अ० २ मं० २७ में कहा है कि:—

गार्हपत्यानि सन्तु शतꣳहिमाः ॥

हे परमेश्वर ! हम सब १०० वर्ष तक जीवें तथा इन्द्रियों से १०० वर्षसे अधिक भी जीवन का सुख देखें ॥ ऐसा ही अ० ३६ मं २४ में भी उपदेश किया है और यजु:० अ० ३ मं० १८ में कहा है कि:—

शतꣳहिमा द्युमन्तꣳसमिधीमहि ॥

सब मनुष्यों को १०० वर्ष जीना चाहिये ॥

यजु:० अध्याय ३६ मं० १९ में कहा है कि:—

दृते दृꣳह मा । ज्योक्ते संदृशि जीव्यासं ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ॥

मनुष्यों को योग्य है कि ईश्वर की आज्ञा के पालने और युक्ताहारविहार से १०० वर्ष तक जीने का उपाय करें ॥

ऋग्वेद मं० २ अ० ४ सूत्र ३३ मं० २ में कहा है कि—

त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः ।

व्य१स्मद्द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः ॥

हे वैद्यजनो ! तुम उत्तम ओषधियों से सब के रोगों का निवारण कर राग द्वेष उन्माद आदि दोषों को पृथक् कर १०० वर्ष की आयु सब मनुष्यों करो ॥ मनु अ० ३ श्लोक ४० में लिखा है कि:—

जीवन्ति च शतं समाः ॥

सौ वर्ष से अधिक आयु का उपाय करो । शुक्र नीति अ० ३ श्लोक ७३ में कहा है कि:—

जीवामि शतवर्षम्

मनुष्य यह समझे कि मैं १०० वर्ष तक अवश्य जीऊंगा ॥

और अ० ४ श्लोक ८८ में कहा है—

शतमायुर्मनुष्याणां गजानां परमं स्मृतम् ॥

मनुष्य और हाथियों की परम अवस्था सौ वर्ष की कही है ।

चरक शारीरस्थान अ० ६ में लिखा है कि–

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन्काले ॥

इस काल में आयु का प्रमाण सौ वर्ष का है। महाभारत में विदुर जी ने कहा है कि–

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ॥

वेदों में सौ वर्ष की आयु कही है ॥

इस लिये प्रत्येक को ऐसा उपाय करना चाहिये, जिस से सौ वर्ष से प्रथम मृत्यु न हो और यदि विशेष जीवन की इच्छा हो तो वह ब्रह्मचर्य आदि नियमों पर अधिक ध्यान देवे क्योंकि ऋग्वेद मं० ३ सू० १७ मं० ३ में कहा है:–

त्रीण्यायूंषि तव जातवेदस्तिस्र आजानीरुषसस्ते अग्ने ।

ताभिर्देवानामवो यक्षि विद्वानथा भव यजमानाय शंयोः ॥

और य० अ० ३ मं० ६२ में कहा है:–

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।

यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥

हे जगदीश्वर ! आप की कृपा से जैसे विद्वान् लोग विद्या धर्म और परोपकार के अनुष्ठान से आनन्दपूर्वक तीन सौ वर्ष पर्यन्त आयु को भोगते हैं वैसे ही तीन प्रकार के ताप से रहित शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्काररूप अन्तःकरण इन्द्रिय और प्राणादि को सुख करने वाला, विद्या विज्ञान से सहित आयु को हम लोग प्राप्त होकर तीन सौ वा चार सौ वर्ष पर्यन्त सुखपूर्वक भोगें ॥

प्यारे भ्रातृगण ! अब तो आप को ज्ञात हो गया कि आयु का प्रमाण जैसा आप मानते हैं, नियत नहीं । देखो हमारे ही पूर्व पुरुष जब इस नियम पर पूर्ण ध्यान देते थे तो कोई भी न्यून अवस्था में न मरते थे। यदि कोई मनुष्य ५० वर्ष की आयु में मरता था तो हाहाकार मच जाता था । परन्तु वर्त्तमान समय में इन नियमों पर ध्यान न देने के कारण बहुत कम मनुष्य

५० वर्ष की आयु को पहुंचते हैं। इस के अतिरिक्त देखिये वलायत में ५०वर्ष व्यतीत हुए, जब कि कोई आयुःसम्बन्धी नियमों पर न चलते थे, ६० वर्ष का मनुष्य बुड्ढा और बेकार समझा जाता था। परन्तु अब उन्हों ने इन रीतों पर चल कर ऐसी उन्नति की है कि ७० वर्ष का मनुष्य युवा भा जान पड़ता है और आशा हैं कि वह बहुत कुछ इन विषयों में भविष्यत् में उन्नति करेंगे ॥

देखिये, एक समाचारपत्र इस विषय में भारतवर्ष और इङ्गलैण्ड की दशा का मिलान करता हुआ अपनी सम्मति यों प्रकट करता है—उष्णदेशों में जब कि मनुष्य की साधारण आयु न्यून होती जाती है। शीतदेशों में स्वच्छता सम्बन्धी और वैद्यक शास्त्रानुकूल आचरण करने से अद्भुत उन्नति हो रही है। इङ्गलिस्तान में सर्वसाधारण जन इस बात को देख कर बहुत आश्चर्य करेंगे कि उन के वृद्ध जनरल जो युद्ध में लगे हुए हैं, दृढ़ता और प्रयत्न में युवाओं को लज्जित कर रहे हैं। लार्ड राबर्ट्स की आयु ७० साल से कुछ ही न्यून होगी,परन्तु कौन विश्वास करेगा कि सर जार्ज वाइट की आयु ६५ साल और लार्ड कचनर की ५० वर्ष की है ॥ सर्वसाधारण उन को इस समय युवा ही जानते हैं। तिहाई सदी पूर्व ६० वर्ष का मनुष्य वृद्ध समझा जाता था। परन्तु अब पूर्ण सिपाही, युवा और उद्योगी होते हैं।लार्ड कचनर ने अभी विवाह भी नहीं किया ॥

उस समाचारपत्र का लेखक आशा करता है कि यदि पदार्थविद्या और वैद्यक विद्या की इसी प्रकार उन्नति होती रही तो हमारे पोते १५० वर्ष के मनुष्य को पूर्ण युवा जानेंगे।परन्तु भारतवर्ष में यह दशा प्रतिकूल हो रही है ॥

इस देश में यदि बाल्यविवाह का प्रचार और युक्ताहार विहार की यही दशा रही तो हम दिखला देवेंगे कि तीस वर्ष की आयु में मनुष्य पूर्ण वृद्ध हो जावेंगे और लकड़ी टेककर चलेंगे। शहरों की आबादी में यह व्यवस्था वर्त्तमान काल में भी देखने में आती है ॥ इस लिये आओ प्यारो ! हम सब मिल कर उन नियमों पर चलें कि जिन का वर्णन वेदादि सत्यशास्त्रों में किया गया है कि जिस से हम पूर्ण अवस्था का आनन्द भोग, भारतवर्ष का महत्त्व पूर्वकाल के सदृश बढ़ावें ॥

मान्यवरो ! स्मरण रहे कि:—

दैवे पुरुषकारे च स्थितं ह्यस्य बलाबलम् । दैवमात्मकृतं

विद्यात् कर्म यत् पूर्वदैहिकम् ॥ स्मृतःपुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥ चरक विमानस्थान अ० ३ ॥

अर्थ—आयु का बलाबल प्रथम दैव (पूर्व जन्म में किए हुए कर्म) और पुरुषकार (इस जन्म में किये हुए कर्म) पर निर्भर है ॥

य० अ० २९ मं० ४९ में कहा है:—

ऊर्जी ते परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः ।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥

जैसे कि शरीरों का पृथिवी आदि का गृह होता है, वैसे ही जीव का यह शरीर घर है ॥

शरीर और जीव के ही सम्बन्ध को पुरुष कहते हैं ॥

और चरकसंहिता सूत्रस्थान प्रथमाध्याय में कहा है कि:—

शरीरेन्द्रियसत्वात्मसंयोगो धारि जीवितम् ॥

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा के संयोग को आयुधार तथा जीवित कहते हैं ॥

मान्यवरो ! दैव अर्थात् पूर्व कर्मों को हम घटा बढ़ा नहीं सकते । इन्हीं के अनुसार मनुष्यों को उत्तम, मध्यम और निकृष्ट जन्म मिलता है और उन का फल भी भोगना होगा । जैसा कि ऋ० अ० २ अ० ८ व० ३ मं० ३ :—

याद्राध्यं वरुणो योनिमप्यमनिशितं निमिषिजर्भुराणः ।
विश्वो मार्त्तण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशोजन्मानि सविता व्याकः ॥

अर्थ—जितने इस जगत् में जीव हैं वे अपने कर्म जन्म फल को विद्यमान शरीर में और पीछे भी प्राप्त होते हैं जैसे गोपाल से नियम में रक्खा हुआ पशु प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त होता है, वैसे जगदीश्वर से जीव अनुष्ठित कर्मों के अनुसार सुख दुःख और निकृष्ट,मध्यम तथा उत्तम जन्मों को पाते हैं ॥

सामवेदे—छन्दआर्चिके अ० ३ दशति ७ मं० ३००

३ २ ३ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १ २ ३ १र २र
कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे । उपोपेन्नु
३ २ ३ २उ ३ १ २ ३ १ २
मघवन्भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते ॥३॥ ३०० ॥

अर्थ—परमेश्वर कभी किसी के किसी कर्म को निष्फल नहीं करता, न किसी निरपराध को दुःख देताहै, किन्तु इस जन्म और पुनर्जन्म में प्रत्येक प्राणिवर्ग उस की व्यवस्था से कर्मानुसारी फल का सम्बन्धी(भागी) बनताहै॥

इस लिये सब ध्यान को छोड़ कर पूर्व कर्मों के सुख वा दुःख को सहन करते हुए भी शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा की पुष्टि करनी चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार गृह की दृढ़ता ईंट आदि, छोट, चूना, गारे और दीवारों पर निर्भर होती है, इसी प्रकार शरीररूपी गृह की दृढ़ता आयु इन्द्रिय मन और आत्मा की दृढ़ता पर निर्भर है। जितनी यह दृढ़ होगी, उतनी ही आयु अधिक होगी और जितनी यह दृढ़ न होगी, उतनी ही आयु कम होगी। इस लिये य० अ० २८ मं० २५ में कहा है कि:—

होता यक्षत्तनूनपातमुद्भिदं यं गर्भमदितिर्दधे शुचिमिन्द्रं वयोधसम्।
उष्णिहं छन्द इन्द्रियं दित्यवाहं गां वयो दधद्वेत्वाज्यस्य होतर्यज॥

अर्थ—हे मनुष्यो। आप लोग जैसे माता गर्भ और उत्पन्न हुए बालक की रक्षा करती है वैसे ही शरीर और इन्द्रियों की रक्षा करके विद्या और आयु को बढ़ाओ॥

शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा का बल जठराग्नि पर निर्भर है कि जो भोजन को पचा कर यथावत् वीर्य बना उन को दृढ़ बनाता है॥

जैसा कि ऋग्वेद अ० २ अ० ८ व० १९ मं० १ में कहा है कि:—

सजिह्वते जठरेषु प्रजज्ञिवान् वृषा चित्रेषु नानदन्न सिंहः।
वैश्वानरः पृथुपाजा अमर्त्यो वसुरत्ना दयमानो वि दाशुषे॥

जब यह जठराग्नि शान्त हो जाता है तो किसी का जीवन नहीं होता और न कोई बल पा सकता है और चरक सूत्रस्थान अ० २७ में कहाहै कि:—

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः।
अन्नपानेन्धनश्चाग्निर्ज्वलितव्योनचान्यथा॥

बल आरोग्य और आयु; यह सब जठराग्नि पर निर्भर हैं। यह अग्नि

उचित अनुपान रूपी ईंधन से जलती है और अनुचित से बुझती है ।।

जिस प्रकार गृह की रक्षा और पुष्टाई लीपने, पोतने और ऋतु के अनुसार उस को सब प्रकार सुध लेने से होती है, इसी प्रकार जठराग्नि या शरीर की रक्षा सुनियमपूर्वक ऋतु के अनुकूल खान, पान, व्यवहार करने से होती है । इसी लिये य० अ० २९ मं० ४८ में कहा है कि:—

ऋजीते परि वृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः ।
सोमो अधि ब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु ॥

ब्रह्मचर्य, ओषधि, पथ्य और सुनियमों के सेवन से शरीर की रक्षा होती है इसी से वह दृढ़ भी होता है । इस कारण हम को खान, पान, व्यवहार और ब्रह्मचर्यादि से जठराग्नि की रक्षा दीर्घायु के लिये करना अति आवश्यक है ।।

इस शरीर में हाथ, पांव, गुदा, उपस्थ और वाक्; यह पांच कर्मेन्द्रिय हैं । इन में से पावों से गमन का कार्य । गुदा और उपस्थ यह मलादि के त्यागने के निमित्त हैं । वाक् बोलने के निमित्त है । दोनों हाथ ग्रहण और धारण के निमित्त हैं । कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका, यह पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी; इन पांच महाभूतों के साथ उन का योग होता है । जैसे कि कर्णेन्द्रिय का सम्बन्ध केवल आकाश से है, क्योंकि आकाश का गुण शब्द है और कान शब्द के अतिरिक्त और किसी पदार्थ का ग्रहण नहीं करता । इसी प्रकार त्वचा का आकाश और वायु के साथ । नेत्र का आकाश, वायु और अग्नि के साथ । जिह्वा का आकाश वायु, अग्नि और जल के साथ तथा नासिका का आकाश, वायु, अग्नि जल और पृथ्वी के साथ होता है ।।

रूप शब्द गन्ध रस और स्पर्श यह क्रम से पांच इन्द्रियों के विषय हैं । इन से भिन्न एक मन है । इन्द्रियां मन से प्रेरित होकर अपने विषयों को प्राप्त होती हैं । चिन्ता, विचार, तर्क, ध्यान, संकल्प और जानने के योग्य बातें, यह मन के विषय हैं । इन्द्रियों को व्यापार में लगाना और अपना निग्रह करना, यह मन के दो कर्म हैं ।।

बिना इन इन्द्रियों के किसी प्रकार का ज्ञान हम को प्राप्त नहीं होसक्ता और न हम कोई कार्य्य कर सकते हैं। इस कारण इन का होना अति उपयोगी है। प्रत्येक इन्द्रिय का एक विषय है, वह उस का अभिलाष भी रखती है और यथानुसार ईश्वरीय नियम के साथ सेवन करने से मनुष्यों को आनन्द देती है। उस में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न नहीं करती। कदाचित् किसी की असावधानी से वह ईश्वरीय नियम को तोड़, अपने विषयों में लिप्त होजावे तो वह मनुष्य की बुद्धि को नष्ट कर सर्व प्रकार के दुःख देती है, जैसे कि विदुर जी ने कहा है ॥

पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम्।

ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥

यदि पांच इन्द्रियों में से एक भी इन्द्रिय बलवान् विषयासक्त हो तो वह मनुष्य की बुद्धि को ऐसे नष्ट कर देती है जैसे एक छेद के होने से संपूर्ण पात्र का जल निकल जाता है ॥

और शुक्र जी महाराज ने कहा है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; इन में से एक २ विषय भी संपूर्ण मनुष्यमात्र का विनाश करने के लिये बलिष्ठ है। देखिये मृग, जो कि बड़ी २ चौकड़ियों से दूर २ देशों में फिरता है, वह केवल लुब्धक के गीतों पर मोहित हो अर्थात् एक श्रवण इन्द्रिय के वश में हो कर मृत्यु को प्राप्त होजाता है। हाथी, जिस का आकार पहाड़ के तुल्य होता है और जो अपने बाहुबल से बड़े २ पेड़ों को उखाड़ डालता है, वह भी लिङ्ग इन्द्रिय के वशीभूत होकर हथनी से संयोग करने की लालसा से बन्धन में पड़जाता है। पतङ्ग, कि जिस के नेत्र अतिचञ्चल होते हैं, वह भी दीपक की रमणीक ज्योति पर मोहित हो अर्थात् एक नेत्र इन्द्रिय के वश में होकर मृत्युवश होजाता है। मछली, जो कि अगाध जल में रहती है, जिह्वा इन्द्रिय के वश में हो कांटे सहित मांस को खा, अपना प्राण छोड़ देती है। भौंरा, जो कि कमल के काटने में समर्थ और बहुत दूर तक जा सक्ता है वह भी कमल की गन्ध के लोभ में आ कर अर्थात् घ्राण इन्द्रिय के वश में होकर प्राण दे देता है। इस लिये विदुर जी ने कहा है कि:—

रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।

तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।

अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥

मनुष्य का शरीर रथ, मन रथवान् अर्थात् सारथि और इन्द्रियां पराक्रमी घोड़े हैं और इस रथ में बैठने वाला जो बुद्धिमान् इन घोड़ों को वश में रखता है वही सब प्रकार के सुखों को पाता है। जैसे दुष्ट घोड़े मार्ग में सारथि को मार डालते हैं, वैसे ही बिना जीती हुई इन्द्रियां मनरूपी सारथि का नाश कर देती हैं। इस कारण यदि मनुष्य को दीर्घ आयु प्राप्त करना है तो वह इन इन्द्रियों को भी अपने वश में रक्खे । संपूर्ण इन्द्रियां मन के आधीन हैं। इस कारण मन और शरीर को आरोग्य रक्खे अर्थात् उन में किसी प्रकार के विकार न उत्पन्न होने पावे । चरक संहिता सूत्रस्थान अ० १ में कहा है कि:—

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शरीरे दोषसंग्रहः ।

मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥

वायु पित्त और कफ यह तीनों शारीरिक व्याधियों के कारण हैं, इन का नाम दोष है । रजोगुण और तमोगुण यह दोनों मानसिक दोष के कारण हैं। और इसी अध्याय में यह भी कहा है कि:—

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो द्रव्ययुक्तिव्यपाश्रयैः ।

मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥

शारीरक दोष औषधियों का प्रयोग करने से शान्त होजाते हैं और मानसिक दोष ज्ञान (आत्मज्ञान) विज्ञान (श्रुतिज्ञान) धैर्य (संतोष) स्मृति (धर्मशास्त्र) और (समाधि) सांसारिक विषय वासनाओं से चित्त को आकर्षण करने और सत्संग में रहने से शान्त होजाते हैं ॥

अर्थात् मनुष्य को ऐसा खान पान व्यवहार रखना योग्य है कि जिस से कफ, पित्त और वायु ईश्वरीय नियम के अतिरिक्त किसी प्रकार भी प्रबलता को न प्राप्त हों और वेदादि सत्यविद्या, ज्ञान, धैर्य और सत्सङ्ग से इस प्रकार इन्द्रियों को शमन करे कि वह भी अपने नियमों से अधिक सांसारिक विषयों में लिप्त न हों। तब ही दीर्घायु होना सम्भव है, अन्यथा नहीं । इसी कारण वेदादि सच्छास्त्रों में भी दीर्घायु के निमित्त दो प्रकार के ही धर्म बत-

लाये हैं । केवल आत्मिकबल बढ़ाने वाले जैसे विद्या सत्संगआदि। द्वितीय, शारीरक बल बढ़ा कर आत्मिक बल को सहायता देने वाले जैसे खान पानादि सम्बन्धी नियम, इन में भी ब्रह्मचर्य्य ही प्रधान और मुख्य साधन है—

देखिये यजुः अ० २५ मं० २२ में कहा है कि:—

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः

जो मनुष्य ४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य्य व्रत पूर्ण करते हैं वे सौ वर्ष तक भी वृद्ध नहीं होते और जो २५ वर्ष ब्रह्मचर्य्य को पूर्ण कर अति मैथुन में लिप्त हो वीर्य्य का नाश करते हैं वे रोगी और बुद्धिहीन हो कर अधिक अवस्था को नहीं प्राप्त होते अर्थात् अल्पायु होते हैं ॥

य० अ० ११ मं० ४६ में परमात्मा उपदेश करते हैं कि:—

प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभः पत्वा । भरन्नग्निं
पुरीष्यं मापाद्यायुषः पुरा । वृषाग्निं वृषणं भरन्नपां
गर्भंꣳसमुद्रियम् । अग्न आ याहि वीतये ॥

हे राजा ! तुम अपनी प्रजाओं को विषय से छुटा, ब्रह्मचर्य्यव्रत धारण करा, पूर्ण अवस्था वाली करो ॥

य० अध्याय २१ मं० १२ में कहा है कि:—

समिद्धोऽअग्निः समिधा सुसमिद्धो वरेण्यः ।
गायत्री छन्द इन्द्रियं त्र्यविर्गौर्वयो दधुः ॥

विद्वान् लोग विद्या से सब आत्माओं को प्रकाशित और जितेन्द्रिय करके दीर्घ आयु वाले करें ॥

यजुः० अ० २५ मं० १५ में कहा है कि:—

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳरातिरभि नो निवर्त्तताम् ।
देवानाꣳसख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥

ब्रह्मचर्य से आयु बढ़ा, विद्वानों से मित्रता उत्पन्न करो ॥

ऋ० अ० २ अ० ५ व० १९ मं० २ में कहा है कि ब्रह्मचर्य से दीर्घायु होती है ॥

यजुः० अ० १८ मं० ५४ में कहा है कि:—

दि॒वो मू॒र्द्धासि॑ पृथि॒व्या नाभि॑रू॒र्ग॒पामोष॑धीनाम् ।
वि॒श्वायुः॒ शर्म॑ स॒प्रथा॒ नम॑स्प॒थे ॥ १८ ॥ ५४ ॥

अर्थ—जो मनुष्य न्यायवान् सहनशील ओषधि का सेवन करने और आहार विहार से यथायोग्य रहने वाला इन्द्रियों को वश में रखता है वह सौ वर्ष की अवस्था वाला होता है ॥

यजुः० अ० २३ मं० ३२ में कहा है कि:—

द॒धि॒क्राव्णो॑ अकारिषं जि॒ष्णोरश्व॑स्य वा॒जिनः॑ ।
सु॒र॒भि नो॒ मुखा॑ कर॒त् प्र॒ ण॒ आयू॑ꣳषि तारिषत् ॥

जैसे घोड़ों के सिखाने वाले घोड़ों को पराक्रम की रक्षा के नियम से बलिष्ठ, संग्राम में जिताने वाले करते हैं, वैसे पढ़ाने और उपदेश करने हारे कुमार और कुमारियों को पूर्व ब्रह्मचर्य के सेवन से पण्डित और पण्डिता कर उन को शरीर और आत्मा के बल के लिये प्रवृत्त कराके बहुल आयु वाले और अति युद्ध करने में कुशल बनाओ ॥

य० अ० ३४ मं० ५१ में कहा है कि:—

न तद्रक्षा॑ꣳसि॒ न पि॑शा॒चास्त॑रन्ति दे॒वाना॒मोजः॑ प्रथम॒ज-
ꣳह्ये॒तत् । यो बि॒भर्त्ति॒ दाक्षाय॒णꣳहिर॑ण्य॒ꣳस दे॒वेषु॑
कृणुते दी॒र्घमायुः॑ । स म॒नुष्ये॑षु कृणुते दी॒र्घमायुः॑ ॥

अर्थ—जो प्रथम अवस्था में बड़े धर्मयुक्त ब्रह्मचर्य से पूर्ण विद्या पढ़ते हैं उन के न कोई चोर न दायभागी और न उन को भार होता है। जो विद्वान् इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म के साथ वर्त्तते हैं वे विद्वानों और मनुष्यों में बड़ी अवस्था को प्राप्त होके निरन्तर आनन्दित होते हैं और दूसरों को आनन्दित करते हैं ॥

य० अ० ३४ मं० ५२ में कहा है कि:—

यदाब॑ध्नन्दाक्षाय॒णा हिर॑ण्यꣳश॒तानी॑काय सुमन॒स्यमा॑नाः ।
तन्म॒ आ ब॑ध्नामि श॒तशा॑रदा॒यायु॑ष्माञ्ज॒रद॑ष्टि॒र्यथास॑म् ॥

एक ओर सैकड़ों सेना और दूसरी ओर एक विद्या ही विजय देने वाली होती है। जो लोग बहुत काल तक ब्रह्मचर्य धारण करके विद्वानों से विद्या

और सुशिक्षा को ग्रहण कर उस के अनुकूल वर्त्तते हैं, वे थोड़ी अवस्था वाले कभी नहीं होते ॥

य० अ० ११ मं० ३५ में कहा है कि विद्वान् लोगों को चाहिये कि इस जगत् में दो कर्म निरन्तर करें । प्रथम ब्रह्मचर्य और जितेन्द्रियता आदि की शिक्षा से शरीर को रोगरहित, बल से युक्त और पूर्ण अवस्था वाला करें । दूसरा, विद्या और क्रिया की कुशलता के ग्रहण से आत्मा का बल अच्छे प्रकार साधें कि जिस से सब मनुष्य शरीर और आत्मा के बल से युक्त हुवे सब काल में आनन्द भोगें ॥

उद्योग पर्व अ०४४ में सनत्सुजात मुनि ने धृतराष्ट्र से कहा है कि जो ब्रह्मचर्य व्रत को करता है वह पवित्र होता है और अकाल मृत्यु को जीतता है ॥

ऋ० अ० २ अ० ७ व० ७ मं० ५ में कहा है कि:—

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्त्ताः ।
शतं नो रास्व शरदो विचक्षेऽश्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा ॥

जो मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य का सेवन करके अति विषयासक्ति को छोड़ देते हैं, वे सौ वर्ष से न्यून आयु को नहीं भोगते । इस ब्रह्मचर्य सेवन के बिना मनुष्य कदापि दीर्घावस्था वाले नहीं हो सकते ॥

मनु अध्याय ४ श्लोक १३४ में कहा है कि:—

नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥

परस्त्रीसेवन करने के समान आयु का घटाने वाला कोई और कर्म नहीं ॥

मार्कण्डेय पुराण अ० ३१ श्लो० ६१–६२ में कहा है कि:—

परदारा न गन्तव्याः पुरुषेण विपश्चिता । इष्टापूर्त्तायुषां हन्त्री परदारगतिर्नृणाम् । नहीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ॥

परस्त्री के साथ गमन न करे क्योंकि इस से पुण्य और बल का नाश होता है । इस से बढ़ कर आयु का घटाने वाला भी कोई कर्म नहीं है ॥

—○:*:○—

द्वितीय

सत्सङ्ग व सत्कर्म

य० अ० १९ मं० ३८ में कहा है कि:—

अग्न आयूंषि पवस आसुवोर्जमिषं च नः ।

आरे बाधस्व दुच्छुनाम् ॥ १९ ॥ ३८ ॥

जो मनुष्य अपनी सन्तानों को दीर्घायु वाला करना चाहे वह दुष्टोंका सङ्ग छुड़ा सत्पुरुषों के सङ्ग में रक्खे ॥

य० अ० २५ मं० १५ में कहा है कि:—

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्त्तताम् ।

देवानां सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ॥

सब मनुष्यों को चाहिये कि पूर्ण शास्त्रवेत्ता विद्वानों के समीप से उत्तम बुद्धियोंको पाकर ब्रह्मचर्यधारण कर विद्वानों की मित्रताद्वारा आयुको बढ़ावें।

य० अ० २९ मं० ४६ में कहा है:—

स्वादुषंसदः पितरो वयोधाः कृच्छ्रेश्रितः शक्तीवन्तो गभीराः ।

चित्रसेना इषुबला अमृध्राः सतोवीरा उरवो व्रातसाहाः ॥

उन्हीं का सदा विजय, श्री, प्रतिष्ठा, बड़ी अवस्था, बल, विद्या होती है जो अपने अधिष्ठाता आप्त सत्यवादी सज्जनों की शिक्षा में स्थित रहतेहैं ॥

ऋग्वेद मं० २ अ० ३ सू० २३ मं० १० में कहा है कि जो पूर्ण विद्या वाले योगी शुद्धात्मा जनों का सङ्ग करते हैं वे दीर्घजीवी होते हैं ॥

य० अ० २५ मं० २१ में कहा है कि:—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

जो मनुष्य विद्वानों के साथ से विद्वान् हो कर सत्य सुनें, सत्य देखें और जगदीश्वर की स्तुति करें तो वे बहुत अवस्था वाले हों । मनुष्यों को चाहिये कि असत्य का सुनना, खोटा देखना, झूंठी स्तुति, प्रार्थना, प्रशंसा और व्यभिचार कभी न करें ॥

य० अ० २२ मं० ३१ में कहा है कि:—

मधवे स्वाहा माधवाय स्वाहा शुक्राय स्वाहा शुचये स्वाहा नभसे स्वाहा नभस्याय स्वाहेषाय स्वाहोर्जाय स्वाहा सहसे स्वाहा सहस्याय स्वाहा तपसे स्वाहा तपस्याय स्वाहाᳩहसस्पतये स्वाहा ॥

जो मनुष्य प्रतिदिन अग्निहोत्रादि यज्ञ करते हैं, वह नीरोग हो कर बहुत काल जीने वाले होते हैं ॥

य० अ० १८ मं० १७ में कहा है कि:—

मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च मऽइन्द्रश्च मे धाता च
मऽइन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे मरुतश्च म इन्द्रश्च
मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

अर्थ—मनुष्य, प्राण और बिजुली की विद्या को जान और इन की सब जगह सब ओर से व्याप्ति को जान कर अपने बहुत जीवन को सिद्ध करें ॥

य० अ० ३४ मं० १३ में कहा है कि:—

त्वन्नो अग्ने तव देव पायुभिर्मघोनो रक्ष तन्वश्च वन्द्य ।
त्राता तोकस्य तनये गवामस्य निमेषᳫरक्षमाणस्तव व्रते ॥

जो मनुष्य ईश्वर के गुण कर्म स्वभावों और आज्ञाओं की अनुकूलता में वर्त्तमान हैं और जिन की ईश्वर और विद्वान् निरन्तर रक्षा करने वाले हैं, वे लक्ष्मीवान् दीर्घ आयु और सन्तान वाले अवश्य होते हैं ॥

य० अ० ३५ मं० ७ में कहा है कि:—

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते अन्य इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि मा नः प्रजाᳩरीरिषो मोत वीरान् ॥

जीवनपर्यन्त विद्वानों के मार्ग पर चलने और छोटी अवस्था में सन्तान उत्पन्न न करने से उत्तम आयु प्राप्त होती है ॥

य० अ० ३५ मं० १५ में कहा है कि:—

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।

शतंजीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥१५॥

अर्थ–हे मनुष्यो! जो लोग परमेश्वर के नियत किये धर्म का आचरण करता और अधर्म को छोड़ता है और जो मर्य्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता, जो अन्याय से दूसरों के पदार्थ को नहीं लेते, जो ईश्वर की आज्ञा को भङ्ग नहीं करते, वे नीरोग रह कर १०० वर्ष तक जीते हैं॥

य० अ० ११ मं० ४९ में कहा है कि–

विपाजसा पृथुना शोशुचानो बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः।

सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्यामग्नेरहꣳसुहवस्य प्रणीतौ॥

व्यभिचार न करो, क्योंकि स्त्री पुरुषों के लिये अप्रिय, आयु का नाशक, निन्दा के योग्य कर्म, व्यभिचार के समान दूसरा कोई भी नहीं है। इस लिये इस व्यभिचार कर्म को सब प्रकार छोड़, धर्माचरण करने वाला हो, पूर्ण अवस्था के सुख को भोगो॥ मनु० अ० ४ श्लोक १५६ में कहा है कि:–

आचाराल्लभते ह्यायुः॥

शुभाचरण से दीर्घायु होती है। और अ० २ श्लोक १२१ में कहा है कि:–

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।

चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

जो वृद्ध मनुष्यों को सदा प्रणाम और आदर करते हैं, उन की आयु ज्ञान यश और बल की वृद्धि होती है॥

मनु० अ० ४ श्लोक १५७ में कहा है कि–

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।

दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

दुराचारी पुरुष की इस लोक में निन्दा होती है, उसी के कारण सदा दुःखी और रोगी बने रहते हैं। इस कारण उस की आयु क्षीण हो जाती है॥

य० अ० १५ मं० ५२ में कहा है कि प्रमाद के छोड़ने से आयु बढ़ती है।

ऋग्वेद मं० २ अ० ३ सू० २४ मं० १५ में कहा है कि जो लोग सुन्दर संयम वाले हों वे बहुत काल जीवें॥

अनुशासन पर्व अ० १०४ श्लोक ११–१४ में कहा है कि:–

येनास्तिकानिष्क्रियाश्च गुरुशास्त्राभिलङ्घिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥ ११ ॥
विशीलाभिन्नमर्य्यादा नित्यं सङ्कीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥ १२ ॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान्नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥१३॥
अक्रोधनःसत्यवादी भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतंवर्षाणि जीवति ॥ १४ ॥

जो लोग नास्तिक, क्रियारहित, गुरु और शास्त्र के वाक्य का उल्लङ्घन करते हैं और जो अधर्मी वा दुराचारी होते हैं, वे ही गतायु होते हैं। जो लोग मर्यादा को तोड़ने वाले और अनियम से मैथुन करने वाले होते हैं वे अल्पायु में मर कर नरक में जाते हैं, परन्तु जो श्रद्धावान्, सदाचारी, असूयारहित, अक्रोधी, सत्यवादी, जीवों की हिंसा न करने वाला, अनसूयक और कपटरहित है वह १०० वर्ष तक जीता है ॥

अनुशासन पर्व अ० १०३ में कहा है किः—

मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चापि मानना ॥

कोमलता, सब प्राणियों की अनसूया, क्षमा, धृति, मित्र की प्रतिष्ठा करना; इन कर्मों से आयु बढ़ती है ॥

महाभारत अनुशासन पर्व अ० १०४ में कहा है किः—

ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
तस्मात्तिष्ठेत्सदा पूर्वां पश्चिमाञ्चैव वाग्यतः ॥

ऋषि लोग प्रतिदिन संध्या करने से बड़ी आयु को प्राप्त हुवे, इस लिये सदा पूर्व और पश्चिम संध्या को (प्रातःकाल और सायंकाल को) मौन हो कर करे ॥

महाभारत अनुशासनपर्व अ० १०३ में पितामह का वचन है किः—

आचाराल्लभते चायः।

आचार से आयु बढ़ती है ॥

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।

तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद्भूतिमात्मनः ॥

दुराचारी मनुष्य की दीर्घायु नहीं होती इस लिये यदि हित चाहे तो सदाचारपूर्वक रहे ।।

और मार्कण्डेय पुराण अ० ३४ श्लोक ८ में कहा है किः—

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।

खोटे आचरण से आयु, बल कम हो जाते हैं ।।।

और महाभारत में विदुर जी ने कहा है किः—

अतिमानोतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप ।

क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् ।

एतएवासयस्तीक्ष्णाः कृन्तन्त्यायूंषि देहिनाम् ॥

अर्थ—घमण्ड, अतिवाद अर्थात् लड़ाई झगड़ा, किसी की वस्तु को न देना, क्रोध तथा अपना ही पालन करना, और से द्रोह करना, यह ६ तेज शस्त्र मनुष्य की आयु को काटते हैं ।।

———

तृतीय

खान, पान, ओषधि

य० अ० १२ मं० १०० में ईश्वर आज्ञा देते हैं किः—

दीर्घायुस्त ओषधे खनिता यस्मै च त्वा खनाम्यहम् ।

अथो त्वं दीर्घायुर्भूत्वा शतवल्शा विरोहतात् ॥

हे पुरुषो ! तुम लोग ओषधियों का सेवन कर अधिक आयु और बल वाले हो ।।

ऋग्वेद अ० २ अ० ५ व० ६ मं० २ में कहा है कि—

त्वाङ्गोपितोमघोपितोवयं त्वा वयमहे । अस्माकमविताभव ॥

मनुष्यों को मधुरादि रस के योग से स्वादिष्ट अन्न और अमुक आयुर्वेद की रीति से बना कर सदा सेवन करना चाहिये जो रोगों को नष्ट करके आयु को बढ़ाने वाला हो ॥

य० अ० २१ मं० २१ में कहा है कि:—

शमिता नो वनस्पतिः सविता प्रसुवन् भगम् ।

ककुप्छन्दं इहेन्द्रियं वशा वेहद्वयो दधुः ॥

जो मनुष्य शरीररक्षा के अर्थ अन्न धारण करते हैं वे बहुत वर्षों तक जीते हैं ॥

य० अ० २१ मं० २२ में कहा है कि:—

स्वाहा यज्ञं वरुणः सुक्षत्रो भेषजं करत् ।

अतिच्छन्दा इन्द्रियं बृहदृषभो गौर्वयो दधुः ॥

जो मनुष्य पथ्य से रहते हैं और यथायोग्य रोगों के नष्ट करने वाली औषधियों का पान करते हैं वे बहुत आयु वा सुख को प्राप्त होते हैं ॥

य० अ० २२ मं० २३ में कहा है कि:—

प्राणाय स्वाहाऽपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा चक्षुषे

स्वाहा श्रोत्राय स्वाहा वाचे स्वाहा मनसे स्वाहा ॥

जो मनुष्य यज्ञ से शुद्ध किये जल, औषधि, पवन, अन्न, पत्र, पुष्प, फल, रस, कन्द अर्थात् अरवी, आलू, कसेरू, रताल और शकरकन्द आदि पदार्थों का सेवन करते हैं, उन की बुद्धि, बल, आरोग्य वा आयु बढ़ती है ॥

य० अ० १८ मं० ३६ में कहा है कि:—

पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे

पयोधाः । पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यम् ॥

जो मनुष्य जल आदि पदार्थों से युक्त, पृथ्वी आदि से उत्तम अन्न रसों का संग्रह कर खाते और पीते हैं वे नीरोग होकर सब दिशाओं में कार्यों को सिद्ध कर तथा जा आ सकते हैं और बहुत आयु वाले होते हैं ॥

य० अ० ३६ मं० १९ में कहा है किः—

दृते दृꣳह मा । ज्योक्ते संदृशि जी-

व्यासं ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ॥

अर्थ—मनुष्यों को योग्य है कि ईश्वर की आज्ञा पालने और युक्ताहार-विहार से १०० वर्ष तक जीवन का उपाय करें ॥

और चरक शारीरस्थान अ० ६ में कहा है कि—

तस्य निमित्तं प्रकृतिगुणात्मसम्पत्सात्म्योपसेवनं चेति ॥

माता पिता के रज और शुक्र के उत्तम होने, आत्मिक बल के बढ़ाने वाले कर्मों के करने और सात्म्य द्रव्यों के सेवन से आयु बढ़ती है ॥

य० अ० २२ मं० ३ में कहा है किः—

अभिधा असि भुवनमसि यन्तासि धर्ता ।

स त्वमग्निं वैश्वानरꣳसप्रथसं गच्छ स्वाहाकृतः ॥

विद्वानों को जानना चाहिये कि सब प्राणी और अप्राणियों का मूल कारण जल और अग्नि है ॥

ऋग्वेद मं० ३ अ० ४ सूक्त ४७ मं० १ में कहा है किः—

मरुत्वाँ इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय ।

आसिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्मिं त्वं राजासि प्रदिवः सुतानाम् ॥

हे राजन् ! आप जो विजय, आरोग्य, बल और अधिक अवस्था की इच्छा करें तो ब्रह्मचर्य, धनुर्वेदविद्या, जितेन्द्रियत्व और नियमितआहार विहार को करिये ॥

ओ३म्—शान्तिः शान्तिः शान्तिः

विज्ञापन

(१) गृहस्थाश्रम अर्थात् नारायणीशिक्षा–इस पुस्तक को मैंने अति भारी परिश्रम और योग्य पण्डितों की सहायता से वेद, धर्मशास्त्र, उपनिषद् और पुराणादि ग्रन्थों से चुन कर द्वितीयवार बम्बई अक्षरों में उत्तम काग़ज़ पर मुद्रित कराई है कि जिस में अठपेजी ४५० सुफ़े हैं। तिस पर भी सर्व साधारण के सुभीते के लिये मूल्य १।) ही रक्खा है। यह गृहस्थों का सच्चा मित्र है। प्रथम इस में आरोग्य से रहने के नियमों पर अच्छे प्रकार विचार कर बाल्यविवाह की हानियों का फ़ोटो खींचकर दिखलाया है। फिर सन्तान उत्पत्ति और पालन की विधि बतला कर ब्रह्मचर्य की महिमा, विद्या का माहात्म्य, गुरु पुरोहित के लक्षण, धन का महत्त्व, वर्णव्यवस्था, संस्कारों के लाभ और विधि, धर्म की महिमा, मूर्त्तिपूजा, व्रत, तीर्थ, योग और प्राणायाम की रीति के अतिरिक्त पतिसेवा, त्योहार आदि अनेक उपयोगी विषयों का वर्णन है। दान्तों का मञ्जन, आंखों के अञ्जन और मस्तक को बलदायक नुसख़ों के अतिरिक्त स्त्रियों का आरोग्य और बल देने वाली सुहागसोंठ का भी नुसख़ा लिखा है अर्थात् इस में शारीरिक सामाजिक और आत्मिक तीनों प्रकार की उन्नति के लिये पूर्ण आन्दोलन किया गया है कि जिस से दोनों लोकों के सुख देने में सच्चे ईश्वर का काम देता है। भाषा रसीली है। अनेक सर्टिफ़िकेट इस की उत्तमता के विषय में आचुके हैं॥

(२) विदुरनीति–इस में परम नीतिज्ञ महात्मा विदुर जी का वह सत्योपदेश है, जो उन्हों ने विपत्तिग्रस्त महाराज धृतराष्ट्र को किया था, संस्कृतसहित।–)

(३) पत्रप्रकाश–इस में पत्र लिखने के नियम बतला कर नाना शिक्षायुक्त पुत्र पुत्रियों के लिये पत्र लिखे गये हैं। मूल्य ≡)

(४) संध्यादर्पण–इस में वेद, स्मृति और पुराणों से सिद्ध किया गया है कि सन्ध्या दोही काल करना चाहिये और तीनों वर्णों के लिये एक ही गायत्री है–)॥

(५) गर्भाधानविधि-यह सन्तान के उत्पन्न होने की कुंजी है। लड़का लड़की पैदा होने का ढंग बताती है। जिन कारणों से औलाद नहीं होती उन कोजतलाकर उन के दूर करने के उपाय भी बतलाती है। इस के उपरान्त शिशुपालन की विधि और कठिन रोगों की चिकित्सा भी लिखी गई है। पांचवी बार छपी≈)

(६) वीर्यरक्षा–इस पुस्तक में वीर्यरक्षा के गुण, वर्त्तमान समय में उस के वृथा व्यय करने की हानियों का पूरा फ़ोटो खींच कर दर्शाया है। यदि आप को अपनी सन्तानों पर पूरा प्रेम है और उन के सुधार का मन में विचार है तो

अवश्य दिखला दीजिये क्योंकि सब प्रकार के सुख वीर्यरक्षा ही से मिलते हैं मू०=)

(७) पूरण भक्त की कथा—काम शत्रु के मारने की विधि और उस का उत्तम फल एक मनोरञ्जन कहानी में दर्शाया है। जिसके पाठ से मन विषयों में नहीं जाता-)॥

(८) मौत का डर—इस के पाठ से मन बुरे कर्मों के करने से भयभीत हो जाते हैं, सांसारिक पदार्थों के प्राप्त करने की तृष्णा जाती रहती है मू०-)॥

(९) सत्यविवेक—जिस में १९ वीं सदी के सच्चे शूरवीर बालब्रह्मचारी श्री स्वामी दयानन्द जी महाराज की अमूल्य शिक्षायें हैं। मूल्य-)

(१०) सत्यनारायण की प्राचीन कथा—इस कथा को अपने मित्रवर्गों सहित सुनिये, तब ही मोक्ष मिल सकती है न कि कपोलकल्पित कथाओं से-)॥

(११) ऋषिप्रसाद—महात्मा शौनक का सत्योपदेश मूल्य -)

(१२) अनमोलरत्न—समय से हम क्या २ प्राप्त कर सकते हैं मूल्य)॥

(१३) रत्न जोड़ी—हकीमलुकमान और मिस्टरस्टेफ़नऐलनकी शिक्षायें मू०)॥

(१४) रत्नप्रकाश—अनेक ऋषियों का उपदेश मूल्य)॥

(१५) भरतोपदेश—श्रीरामचन्द्रजी का उपदेश भरत जी को मूल्य)॥

(१६) शिष्टाचार—बड़ों की आज्ञा किस प्रकार माननी चाहिये मू०)॥

(१७) प्रेमपुष्पावली—मेल के लाभ और बिगाड़ के दोष मूल्य -)॥

(१८) बुद्धि और अज्ञान की बातें मू० -)॥ (१९) श्रीमान् पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवन पर एक दृष्टि मूल्य)॥ (२०) ब्रह्मविचार मूल्य)॥ (२१) भारतवर्ष पर ईसाई शिक्षा का प्रभाव मू०)। (२२) मूर्तिपूजा विचार मूल्य आधा पैसा (२३) सत्यप्रकाश मू०)॥ (२४) क्षेत्रविनोद मू० ।=) (२५) रचनाबोधनी मूल्य =) २६) पुराणपरीक्षा मू० ≡) (२७) हकीकतराय का जीवन मूल्य)॥। (२८) मूर्तिप्रकाश मूल्य -)(२९)कंठी जनेऊ का विवाह मू० -) (३०) पं० लेखराम जी का संक्षिप्त वृत्तान्त मूल्य -)।

कौतुक श्रीधर्म—यह नवीन पुस्तक श्री पुत्रियों को अवश्य दिखलाइये॥

नोट नं० १-६-७-८-१२-१३-१४-१६-१९ की पुस्तकें उर्दू भाषा में भी हैं। पता साफ़ लिखिये, पुस्तकें वी० पी० द्वारा भेजी जाती हैं।

इस के अतिरिक्त यह भी लिखिये कि किताबें आप को किस भाषा में दरकार हैं। न लिखने के कारण बहुधा ग़लती हो जाती है।

देश का शुभचिन्तक—भिक्खमलाल वैश्य

कोठी भाई रामचरण मन्नीलाल मा० रईस तिलहर ज़ि० शाहजहांपुर